भरहुत स्तूप का पूर्वीय प्रवेशद्वार

चित्र सूची

समर्पण

पूज्य पिताजी ! आप मेरे पहले गुरु हैं। इतिहास-शास्त्र की रुचि भी आपने ही मेरे मन में उत्पन्न की। अतएव अपने प्यारे देश के प्राचीन इतिहास पर इस अपूर्ण पुस्तक को आपके श्री चरणों में भेंट करता हूं। स्वीकार करने की कृपा कीजिये।

आपका प्रिय पुत्र,

लाजपतराय।

सम्पादक का वक्तव्य

लाला जी ने इस पुस्तक की पुनरावृत्ति गतवर्ष काश्मीर में प्रारम्भ की थी। सर्वेन्ट्स आफ दि पीपल सोसाइटी के एक सदस्य की हैसियत से मुझे भी उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और लाला जी के निरीक्षण में पुस्तक के इस नये संस्करण को तय्यार करने का भार मुझ पर पड़ा। लाला जी की मृत्यु से पहले यह पुस्तक प्रायः तैय्यार हो चुकी थी, और इस का बहुत सा हिस्सा प्रेस में दिया जा चुका था। परन्तु पुस्तक के एक दो अध्यायों को लिखने के सम्बन्ध में यद्यपि लाला जी के साथ मैं पूरा परामर्श कर चुका था, और उन का ढांचा वह स्वयं देख भी चुके थे, परन्तु अन्तिम रूप में उन्हें वह पढ़ न पाये थे। वह अध्याय पुस्तक में दे दिये गये हैं, और मैं निश्चय रूप से कह सकता हूं कि मैंने उन में लाला जी के भावों की पूरी रक्षा की है। लाला जी की इच्छानुसार बाकी पुस्तक का सम्पादन करते हुए भी मैंने यत्र तत्र भाषा आदि सम्बन्धी परिवर्तन किये हैं, परन्तु लाला जी के भावों और विचारों की पूरी तरह से रक्षा की है।

लाला जी इस पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित कराने के लिए बहुत उत्सुक थे। मृत्यु से एक दिन पूर्व ही उन्होंने इस सम्बन्ध में बहुत उत्सुकता प्रकट की थी। दुःख है कि इस पुस्तक को वह देख न पाये। इतना ही नहीं, लाला जी इस

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रस्तावना

प्रथम खण्ड

भूगोल

दूसरा खण्ड
ऐतिहासिक काल से पहले का इतिहास

तीसरा खण्ड

ऐतिहासिक काल का आरम्भ

चौथा खण्ड

मौर्य वंश

पांचवां खण्ड

परिवर्तनों की चार शताब्दियां

पञ्जाब-केसरी लाला लाजपतराय

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का दूसरा संस्करण सन् १९२२ में प्रकाशित किया गया था। असल पुस्तक उर्दू में लिखी गयी थी। उसका अनुवाद हिन्दी में छापा गया था। यह हिन्दी संस्करण कुछ महीनों में ही बिक गया और कई वर्षों से अब वह अप्राप्य है। इस अर्से में भारतवर्ष के इतिहास में और अधिक खोजें हुई हैं और उस पर नया प्रकाश पड़ा है। इस के अलावा इस बात के मानने में भी मुझे कोई शर्म नहीं कि जेल में जहां पर मूल पुस्तक लिखी गयी थी पर्याप्त पुस्तकें न मिलने के कारण इस में कुछ गलतियां रह गयी थीं। अब मैंने दुबारा सारी किताब पर नज़रसानी की है और आवश्यकतानुसार बहुत से परिवर्तन भी किये हैं; कुछ नये अध्याय भी बढ़ाये हैं। जो आलोचनायें इस पुस्तक पर की गयी थीं उनसे भी लाभ उठाया है। जैन धर्म के विषय में मैंने जो कुछ लिखा था वह कई अंशों में गलत और अपूर्ण था। इस लिये उसे नये सिरे से लिखा है। कई स्थानों पर सिद्धान्तों के विषय में जो मेरी वैयक्तिक सम्मति थी उसे निकाल दिया है। इस प्रकार मैं समझता हूं कि अब यह पुस्तक बहुत हद तक मुकम्मल है।

चूंकि हिन्दी और संस्कृत शब्दों को उर्दू में शुद्ध रूप में लिखना कई बार बहुत मुश्किल होता है इस लिये मूल उर्दू पुस्तक से बहुत सी ऐसी गलतियां हिन्दी पुस्तक में भी आ गयी थीं। इस के अतिरिक्त बहुत सी गलतियां छापे और कापी

की थीं—उदाहरणार्थ एक स्थान पर 'श्रावस्ती, का 'सरस्वती' छप गया था। इस प्रकार की गलतियों को भी इस संस्करण में निकालने का पूरा प्रयत्न किया गया है।

सातवीं सदी से दसवीं सदी ईसवी तक जो वर्णन पिछले संस्करण में था उसे मैंने इस संस्करण में निकाल दिया है। इस पुस्तक में अब सिर्फ़ सातवीं सदी के अन्त तक का इतिहास दिया गया है। इस के बाद अरब के मुसलमानों के सिंध पर आक्रमण शुरू होते हैं और साथ साथ भारतवर्ष में कई राजपूत राज्यों का इतिहास आरम्भ होता है। पिछले संस्करण में इस सारे इतिहास का वृत्तान्त बहुत, संक्षिप्त और अपर्याप्त था और उसे विस्तार से लिखने की आवश्यकता थी। मुसलमानों के सामने उस समय के हिन्दू राज्यों को क्यों पराजय हुई? और उस का मुसलमान-काल के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा? इस सारे प्रश्न को जानने के लिये "राजपूत काल" के इस इतिहास का कुछ विस्तृत वर्णन करना आवश्यक था। परन्तु इस भाग में यह सब वृत्तान्त देने से पुस्तक बढ़ जाती इस लिये इस का ज़िक्र पुस्तक के प्रथम भाग में न करके दूसरे भाग में ही किया जायगा।

लाहौर
११ जुलाई १९२८

लाजपतराय

पहले संस्करण की भूमिका से कुछ उद्धरण

(अक्तूबर सन् १८६८)

इस कथन में बहुत कुछ सत्यांश है कि मनुष्य के लिये अध्ययनका सबसे उत्तम विषय मनुष्य है। इस वाक्यमें मनुष्य से अभिप्राय किसी एक मनुष्यसे नहीं; वरन् मनुष्यजातिसे है। मनुष्यका जीवन बहुत अल्प है। इस अल्प जीवनमें वह मनुष्योंकी बहुत थोड़ी संख्यासे परिचय प्राप्त कर सकता है। अपने समयकी मनुष्य-जातिका ज्ञान उसको उस समय के ग्रन्थों, समाचारपत्रों और पर्यटनके द्वारा होता है। परन्तु भूत-कालके मनुष्योंके कथन, वचन और उनके वृत्तान्त इतिहास द्वारा ही ज्ञात हो सकते हैं। इसीलिये यूरोपीय जातियां और यूरोपीय विद्वान् इतिहास-शास्त्रपर बहुत बल देते हैं। उनका यह कहना उचित ही है कि इतिहास ही से मनुष्य उत्तम रीतिसे अपने स्रष्टाके उस नैतिक नियमके परिणामको मालूम कर सकता है जो उसकी सारी सृष्टिमें व्यापक है।

कोई मनुष्य सुशिक्षित कहलानेका अधिकार नहीं रखता जो कमसे कम अपने देश और अपनी जातिके इतिहाससे परिचित न हो। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह अपने धर्म, रीति-रिवाज, अपनी जातिके नैतिक, सामाजिक और राज-नीतिक इतिहास से परिचित हो। यह समझना उसका कर्तव्य है कि वर्तमान अवस्थायें किन किन कारणोंका परिणाम हैं और वे कारण स्वयं पहले किस प्रकार उत्पन्न हुए थे, क्योंकि इस जानकारीसे ही वह उन्नति करनेमें समर्थ होता है। अपने

देश तथा अपनी जातिके इतिहाससे ही उसको उन विशेषताओं का पता मिल सकता है जिनके कारण वह अन्य देशों और जातियों के मनुष्योंसे पहचाना जाता है।

उदाहरणार्थ, यदि हम अपनी ओर देखें तो विशेषरूप से हमें यह आवश्यक मालूम होता है कि अपने जातीय इतिहास से परिचय प्राप्त करें। उत्पन्न होने से कुछ ही वर्ष पश्चात् हमको अन्य जातियों के लोगोंसे काम पड़ता है। हम उन लोगों के स्वभाव, उनके रीति-रिवाज, उनके विचार और उनकी सामग्री अपनेसे भिन्न पाते हैं। स्वभावतः ही हमको उनके स्वभाव और रीति-रिवाज आदिकी अपने स्वभाव और रीति-रिवाजसे तुलना करनी पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि हम दूसरोंके कुछ स्वभाव ग्रहण करने और अपने छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। यही बात हमारे धर्म, हमारे विचारों और हमारी रीतियोंकी है। जब यह अवस्था है तो इसके पूर्व कि हम इस प्रकारके परिवर्तनको ग्रहण करें, हमारे लिए उचित है कि इस बातको जान लें कि हमारे वर्तमान स्वभावों, प्रथाओं, रिवाजों और विचारों का इतिहास क्या है; हमने कब और किस प्रकार उनको ग्रहण किया है, और उनसे हमपर और हमारी जातिपर क्या प्रभाव पड़ा है।

हम प्रायः देखते हैं कि हमारे बालकोंको अपने जातीय इतिहासका बहुत कम ज्ञान है। जातीय इतिहास पढ़ानेकी दो रीतियां हैं। एक ऐतिहासिक उपाख्यानों और ऐतिहासिक कहानियों द्वारा, जो बालकोंकी प्रारम्भिक शिक्षामें सम्मिलित कर दी जायँ, और दूसरा ऐतिहासिक पुस्तकों द्वारा। इस

समय प्रारम्भिक शिक्षाकी जो पुस्तकें प्रचलित हैं उन में भी हमारे इतिहासका बहुत ही कम भाग है। फिर प्रचलित ऐतिहासिक पुस्तकोंमें भी हिन्दुओंके समयका वृत्तान्त बहुत ही कम है। इसका फल यह है कि वर्त्तमान रीतिसे शिक्षा पाये हुए नवयुवकों को अपनी जातीय बातों का बहुत कम और प्रायः अयथार्थ ज्ञान है। बहुतसे हिन्दू नवयुवकोंको यथार्थ रूपसे यह ज्ञात नहीं कि वेद कितने हैं और वर्तमान धर्मों का उनके साथ क्या सम्बन्ध है। बहुतसे रीति-रिवाज हमें इस समय झूठे और व्यर्थ देख पड़ते हैं, और हम उनको सर्वथा छोड़ देनेपर उद्यत हैं। परन्तु यदि हमें उनके मूलका पता हो तो शायद हम उन्हें न छोड़ें, अथवा इस प्रकारसे उनका सुधार कर सकें कि वास्तव में वे जिस लाभके लिये बनाये गये थे वह कम न हो। कालके परिवर्तनसे हममें बहुतसे दोष आ घुसे हैं। परन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि हमारी जातिमें अपने अतीत इतिहासका यथार्थ ज्ञान फैल जाय तो वे दोष और वे बुराइयाँ बहुत शीघ्र और बहुत हदतक दूर होजावें।

एक समय था जब इस देशमें और इस जातिमें पढ़ने लिखनेका बहुत रिवाज था और यहांके लोग प्रायः विद्या-व्यसनी समझे जाते थे; परन्तु इस समय जातिका एक बड़ा भाग लिखना पढ़ना भी नहीं जानता।

एक समय था जब यह जाति सामान्यतः सत्यवादी थी। मिथ्या-भाषणको, झूठी साक्षी देनेको, और कपट और छलको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता था;—या अब यह समय आ गया है कि हमारे बहुत से वर्तमान राजकर्मचारी सामान्यतः भारत-वासियोंको झूठा समझते हैं। ऐसे ही हमारी वीरता, हमारा

शौर्य, हमारी बाहरी और भीतरी स्वच्छता, और हमारी ईमानदारी सब नष्ट हो गई और हम वर्तमान अपमानित दशाको प्राप्त हो गये। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि हमारे बालकोंको सच्चे और विश्वास्य जातीय वृत्तान्तोंका ज्ञान कराया जाय तो वे बड़े होकर यथासम्भव अपने पूर्वजोंके चरण-चिह्नोंपर चलनेका यत्न करें। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान अधःपतनके जो कारण हैं भविष्यमें वे उनसे दूर रहें, और उन कारणोंसे भी बचें जो उनमेंसे अपने जातीय गुणोंको दूर करनेवाले हैं।

अँगरेजोंके राजत्वकालमें कई शताब्दियोंके पश्चात् आर्य जातिके अतीत इतिहासपर प्रकाश पड़ा है। इस प्रकाशके प्राप्त कराने में सबसे प्रथम और सबसे अधिक काम यूरोपके विद्वानोंने किया है। अब भी अन्वेषणका अधिकांश कार्य उनके ही हाथमें है। यद्यपि कई भारतीय विद्वान भी चिरकालसे इसमें यथोचित भाग ले रहे हैं, तथापि अँगरेज़ विद्वान जिस उत्साहसे परिश्रम करते हैं वह अबतक भी भारतीय विद्वानोंके उत्साह और परिश्रमसे बहुत अधिक है। भारतीय इतिहासका मुसलमानोंके आक्रमणोंसे पहले का काल अभी अधिकांश अन्धकारमें ढका हुआ है। यद्यपि गत सौ वर्षों के समयमें बहुतसी बातें मालूम हो चुकी हैं जिनके विषयमें अब कुछ सन्देह शेष नहीं रहा, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि इस कालका क्रमिक, विश्वास्य और पूर्ण इतिहास तैयार हो गया है। अँगरेजीमें बहुतसी ऐसी उत्तम पुस्तकें विद्यमान हैं जिनमें विद्यार्थीको ये वृत्तान्त एक स्थानमें एकत्र मिल सकते हैं। वह उनकी सहायतासे अधिक अन्वेषण भी कर सकता है। वह उन पुस्तकों के पाठ का भी आनन्द ले सकता है जो उक्त

कालके विविध भागोंके विषयमें भिन्न भिन्न विद्वानोंकी लेखनीसे निकली हैं, और जिनमें सविस्तर व्याख्यायें लिखी हुई हैं। इन पुस्तकोंके समूहमेंसे शायद सर्वोत्तम इतिहास हमारे विद्वान् देश-भाई श्री रमेशचन्द्रदत्तकी रचना है। इसमें उस कालके वृत्तान्तोंको क्रमिक रूपसे एकत्रित करके विद्यार्थियोंके सामने रक्खा गया है और उनको उन बड़ी पुस्तकोंका पता बतलाया गया है जिनमें भिन्न भिन्न भागोंके विषयमें सविस्तर वर्णन दिये गये हैं। दूसरे स्थान पर लार्ड एलफिस्टन और सर विलियम हण्टरके इतिहास हैं। इनमें सब प्रकारके वृत्तान्त पाये जाते हैं। परन्तु देशी भाषाओंमें ऐसी पुस्तकें बहुत कम हैं जिनमें मुसलमानों के आक्रमणों से पहले के वृत्तान्त विस्तार पूर्वक दिये गये हों। पाठशालाओंमें जो 'भारतीय इतिहास' पढ़ाया जाता है उसमें इतिहासका यह भाग बहुत संक्षिप्त शब्दोंमें दिया गया है। इसलिये भारतीय इतिहासके इस भाग-पर विश्वास्य पुस्तकोंकी बहुत आवश्यकता है। परन्तु साधारण पाठकोंके लिये लिखी हुई पुस्तकें विद्यार्थियोंके लिये अधिक लाभदायक नहीं हो सकतीं। पाठशालाओंके विद्यार्थियोंके पास समय बहुत थोड़ा होता है। इसके अतिरिक्त उनकी आरम्भिक शिक्षा इस बातकी बाधक होती है कि वे विवादास्पद विषयोंके सम्बन्धमें सविस्तर विवादोंको भलीभाँति समझकर हृदयङ्गम कर सकें। अतएव उनके लिये ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है जिनमें संक्षिप्त शब्दोंमें और सरल भाषा-में वे वृत्तान्त लिखे हों जिनका विश्वास्य विद्वानोंने अन्वेषण किया है। आगेके पृष्ठोंमें मैंने विश्वास्य वृत्तान्तोंको संक्षिप्त और सरल भाषामें इकट्ठा करनेका यत्न किया है।

इस पुस्तकके लिखनेका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी को पाठशाला छोड़नेसे पहले अपने जातीय इतिहासके कुछ न कुछ वृत्तान्त मालूम हो जायं, और वे ऐसे वृत्तान्त हों जो अतिशयोक्तिसे रहित हों और जिनपर निष्पक्ष, तटस्थ और सत्यप्रिय विद्वानोंके प्रमाण मौजूद हों। यदि इस छोटी सी पुस्तकको पढ़कर उनको अधिक जानकारीका चस्का पैदा हो जाय तो वे बड़े ग्रन्थोंका अध्ययन कर सकते हैं, और अँगरेज़ी भाषाका ज्ञान प्राप्त करके मूल भाण्डारोंकी खोज कर सकते हैं।......

दूसरे संस्करण की भूमिका से कुछ उद्धरण

(एप्रिल १६२२)

ईसाकी अठारहवीं शताब्दीमें यूरोपके लोगोंको भारतीय इतिहास और भारतीय सभ्यताका कुछ ज्ञान न था। अठारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें जब कुछ अँगरेज़ोंने पहले पहल कई एक संस्कृत पुस्तकोंका अनुवाद किया तो एक अँगरेज़ विद्वान यह सन्देह करने लगा कि शायद ब्राह्मणोंने संस्कृत भाषाको अब बना लिया है, और इन पुस्तकोंकी रचना करके यूरोपको धोखा देना आरम्भ किया है। पहले पहल यूरोपीय लोगोंने मनुस्मृति, भगवद्गीता, और कालिदासके शकुन्तला नाटकका अनुवाद किया। इन पुस्तकोंके पाठसे उनकी रुचि बढ़ने लगी। यहाँतक कि फ्रांसीसी और जर्मन लोगोंने संस्कृत-पुस्तकोंको बड़े मूल्यपर खरीद कर और बड़े परिश्रम तथा बड़े व्यय से उनके यूरोपीय संस्करण प्रकाशित करके अनुवाद कराने आरम्भ किये। इस संबंध में सब से अधिक यत्न और सब से बहुमूल्य अन्वेषण

जर्मन अध्यापकोंने किया। इंग्लैंडका सबसे प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान अध्यापक मेक्समुलर भी जर्मन था।

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के प्राच्य विद्याव्यसनी संस्कृत में निपुणता प्राप्त करने के लिये निरन्तर यत्न करते रहे और उन्होंने बहुत से संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद कर डाले। इन अनुवादों से उनको भारतीय विद्याओं का हाल तो मालूम हुआ, परन्तु हिन्दू-सभ्यता का पूरा चित्र वे न बना सके। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले पचास वर्षों में वस्तुतः यूरोपीय अन्वेषकों और विद्वानों ने हिन्दू-इतिहास लिखना आरम्भ किया। आरम्भ में हिन्दू-काल के जो इतिहास लिखे गये वे बहुत अधूरे और अशुद्ध थे। परन्तु ज्यों ज्यों अन्वेषण बढ़ता गया और जानकारी में वृद्धि होती गई यह इतिहास अधिक पूर्ण और अधिक शुद्ध होता गया। पहले इतिहासों में जो परिणाम और घटनायें वर्णित थीं वे बहुत सी बातों में अब भ्रममूलक सिद्ध हो चुकी हैं। इस अपूर्ण प्रारम्भिक ऐतिहासिक अन्वेषण के आधार पर इतिहासकी जो पाठ्य पुस्तकें बालकों की शिक्षा के लिये बनायी गयीं वे बहुत भटकाने वाली थीं। सब से पहले जिस अंगरेज़ ने हिन्दू-इतिहास पर प्रकाश डाला वह बम्बई का गवर्नर मांनस्टुअर्ट एलफिंस्टन था। हिन्दू-शास्त्रों का सब से पहले अनुवाद करने वाले अंगरेज़ सर विलियम जोन्स और कोलब्रुक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में हिन्दू विद्वानों ने भी हिन्दू-इतिहास के भिन्न भिन्न अंगों पर अन्वेषण करना आरम्भ किया। यह अन्वेषण अब तक जारी है, और कोई नहीं कह सकता कि हिन्दू-काल और हिन्दू-सभ्यता का इतिहास अभी तक पूर्ण बन चुका है।

हिन्दू-इतिहास में अभी खोजें हो रही हैं। यूरोपीय अन्वेषकों के अतिरिक्त, जिनके अन्वेषण और परिश्रम के लिये हम उन के हृदय से कृतज्ञ हैं, हिन्दू-अन्वेषकों और विद्वानों की भी एक बड़ी संख्या अब इस खोज में लगी हुई है। इस समय तक जो कुछ अन्वेषण हो चुका है उसके आधार पर हिन्दू-काल के जो क्रमिक इतिहास तैयार किये गये हैं उनमें इस समय सब से अधिक महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय श्रीयुत हेवल और श्रीयुत विंसेंट स्मिथकी पुस्तकें हैं। विंसेंट स्मिथ की 'अर्ली हिस्टरी आव इण्डिया' सन् १९०४ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसका तीसरा संस्करण सन् १९१४ ई० में निकला। परन्तु सन् १९१९ ई० में विंसेंट स्मिथ ने एक और पुस्तक समाप्त की। उसका नाम 'आक्सफोर्ड हिस्टरी आव इंडिया' है। इस में भारत का सम्पूर्ण इतिहास देने की चेष्टा की गई है।

इस पुस्तक में हिन्दू-काल पर जो भाग है वह विंसेंट स्मिथका अन्तिम लेख है*। उसके परिणाम कई बातों में उसकी सन् १९०४ ई० की पुस्तकके परिणामों से भिन्न हैं।

विंसेंट स्मिथ इंडियन सिविल सर्विस में रह चुका था। उसके मन में कुछ पक्षपात ऐसे बैठे हुए थे जिनसे अपनी प्रकृति को मुक्त करना उसके लिये असम्भव था। अपनी पुस्तक के पहले संस्करणों में उसने कई जगह इस पक्षपातका परिचय दिया है। कई बातों में उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हिन्दूसभ्यता और हिन्दूकलाका सर्वोत्तम भाग उन

---

* अब विंसेंट स्मिथ की पुस्तकों के नये संस्करण भी हो गये हैं।

के अपने मस्तिष्क के उद्योग का फल न था किन्तु बाहर से आया हुआ था। शनैः शनैः नवीन घटनाओं के प्रकाशने और नवीन जानकारी ने उसको अपने विचारों में परिवर्तन करने पर विवश किया। यद्यपि अब भी कहीं कहीं उसकी अन्तिम पुस्तकों में इस पक्षपात के चिह्न पाये जाते हैं परन्तु वे ऐसे हलके हैं कि उन पर ध्यान न देते हुए हम कह सकते हैं कि इस समय तक जो पुस्तकें हिन्दुओं के राजनीतिक इतिहास पर लिखी गई हैं उन में से विंसेंट स्मिथकी अन्तिम पुस्तकें सब से अधिक पूर्ण हैं। उनको लिखने और सुव्यवस्थित करने में विद्वान् लेखकने अतीव परिश्रम और ईमानदारी से काम लिया है। उसकी पुस्तक की विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर रचयिता ने उन सनदों का प्रमाण दे दिया है जिनके आधार पर उसने उस अध्याय की घटनाओं को लेख-बद्ध किया है।

श्रीयुत हेवल भारत में बहुत वर्षतक रहे। यहां उन्होंने बड़े परिश्रमसे भारतीय कला और भारतीय सभ्यताका अध्ययन किया। भारतीय वास्तुविद्या, चित्रकारी और तक्षणविद्या आदि कलाओंपर उनकी पुस्तकें सर्वोत्तम गिनी जाती हैं। अब उन्हों ने हिन्दू-इतिहासपर भी एक क्रमिक पुस्तक लिखकर इतिहास-प्रेमियोंपर भारी उपकार किया है। उनकी पुस्तक अधिकतर हिन्दूसभ्यता के भिन्न भिन्न अङ्गोंका वर्णन करती है। इस दृष्टि से वह विंसेण्ट स्मिथकी पुस्तकसे भी अधिक मूल्यवान् है। हिन्दू-इतिहासका कोई भी विद्यार्थी इन दोनों पुस्तकोंको तुच्छ समझकर छोड़ नहीं सकता। इन दोनों पुस्तकोंके परिणामोंको परखनेके लिये जो उद्धरण और प्रमाण इनमें दिये गये हैं वे

इतने पर्याप्त हैं कि उनकी जांच और पड़तालसे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये यथार्थ परिणाम निकाल सकता है।

हिन्दुओंके लिये लज्जाका स्थान है कि उनके इतिहासपर प्रामाणिक पुस्तकें अँगरेजोंने लिखी हैं, और उन्होंने स्वयम् इस ओर अभी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। यह सच्ची बात उनके जातीय और धार्मिक कर्तव्यानुरागको प्रकट नहीं करती। बहुत से हिन्दु यह कहते सुनाई देते हैं कि प्राचीन हिन्दु इतिहास लिखनेकी परवाह नहीं करते थे। परन्तु यह उनकी भूल है। इतिहाससे अभिप्राय केवल राजनीतिक इतिहास से नहीं है। इतिहाससे अभिप्राय केवल राजाओंके इतिहाससे नहीं है। इतिहाससे अभिप्राय केवल युद्धोंके इतिहाससे नहीं है। इतिहासका प्रकृत काम यह है कि वह हमको यह बता सके कि हमारी वर्तमान अवस्था, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सामाजिक, नैतिक और मानसिक दृष्टिसे, किस प्रकार बनी। इतिहासका यह काम है कि हमको बता सके कि वर्तमान अवस्थाओंका आविर्भाव किस प्रकार हुआ और उसकी पीठके पीछे क्या क्या हेतु थे। राजाओंके नाम उनके समयके राजनीतिक परिवर्तन, उनके युद्ध और उनकी जीतें नैमित्तिक बातें हैं, उनसे प्रकृत लाभ अधिक नहीं। अँगरेज इतिहासकार और अन्वेषक अपनी पुस्तकोंका बहुतसा भाग ऐसी बातोंके अन्वेषणमें व्यय करते हैं जिनसे प्रकृत इतिहासका उतना सम्बन्ध नहीं। नामोंका अन्वेषण, नगरोंका अन्वेषण, संवतोंका अन्वेषण यह सारी खोज उस परिश्रम और उद्योगकी पात्र नहीं जो अँगरेज अन्वेषक इन बातोंपर करते हैं। अन्वेषणके योग्य वास्तविक बातें धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक संस्थायें

हैं जिनसे हमको यह पता लगे कि इस समय जो कुछ हमारे विचार हैं, या इस समय जिन रीति-रिवाजोंके हम पाबन्द हैं, या इस समय जो नैतिक आदर्श हमारे यहां प्रचलित हैं, या इस समय जो कुछ हमारे समाजका मानसिक वातावरण है उसका किस प्रकार विकास हुआ, ताकि भावी प्रगतिमें हमको अपने इतिहासके ज्ञानसे पर्याप्त सहायता मिल सके । इस प्रकारके अन्वेषणके लिये हमारे पास पर्याप्तसे अधिक सामग्री मौजूद है; और यह सामग्री मूक भावसे हिन्दू नवयुवक अन्वेषकोंको बुला रही है। हमारा धार्मिक इतिहास, हमारा कानूनी इतिहास, हमारा शिक्षा-संबंधी इतिहास, हमारा सामाजिक इतिहास—ये सब इतिहास मूल स्रोतोंसे लिखे जाने चाहियें । यह काम ऐसे मनुष्य कर सकते हैं जो संस्कृत, पाली और प्राकृतके पूर्ण पण्डित हों, और जिन्हें अन्वेषणकी आधुनिक रीतियोंका भी यथोचित ज्ञान हो, परन्तु सबसे अधिक बात यह कि उनको अपने इस कार्यसे अनुराग हो, और वे अपने जीवन इसी कार्यके अर्पण कर सकें। बङ्गाल, महाराष्ट्र और दक्षिणमें कई नवयुवकोंने यह कार्य आरम्भ किया है। परन्तु जब हम उनके कामकी यूरोपीय विद्वानोंके कामसे तुलना करते हैं तो अभी तक वह हमको बहुत कुछ अधूरा, अपर्याप्त और अपूर्ण दिखाई देता है। ....।

यह भी स्मरण रहे कि यह पुस्तक लाहौर सेंट्रल जेलमें मेरे कारावासके पहले दो मासमें क्रमबद्ध की गई। लगभग सारीकी सारी दिसम्बर और जनवरीमें लिखी गई।

यह स्पष्ट है कि बंदीगृह में मुझे प्रमाणों के लिये पर्याप्त पुस्तकें नहीं मिल सकीं, क्योंकि वहां पुस्तकों की इतनी विपुल

राशि का एकत्र करना कठिन था ।.................. ।

चूंकि राष्ट्रीय विद्यालयों और महाविद्यालयों के लिये पुस्तककी मांग है इसलिये मैं अभी अपूर्ण पुस्तकको प्रकाशित करा रहा हूं । यदि राजनीतिक दौड़धूप से अवकाश मिला और जीवनका तन्तु अटूट बना रहा तो तीसरे संस्करणमें इस विषय पर इससे अधिक प्रकाश डालने की इच्छा रखता हूं। अध्यापकों को चाहिये कि इस पुस्तककी सहायतासे अपने विषयपर अधिक जानकारी प्राप्त करके अपने विद्यार्थियों तक पहुंचायें। और उसमें ऐसी मनोरञ्जकता उत्पन्न करें कि बालक अपने आप उसे ग्रहण करते चले जायं ।

साधारण रसिकों को भी इस पुस्तकके अध्ययनसे लाभ पहुंचेगा और उनकी इस विषयमें रुचि बढ़ेगी ।

भारतवर्ष का इतिहास

प्रथम भाग

भारतवर्ष का इतिहास

प्रस्तावना

भारतवर्षकी ऐतिहासिक प्राचीनता

भारतवर्षका प्राचीन इतिहास हिन्दुओंके उस कालका इतिहास है जब कि मुसलमान इस देशमें नहीं आये थे।

यूरोपियन लोग "भारत के इतिहास का आरम्भ ६०० या ७०० ईसा पूर्व से करते हैं; और इसी कालसे "ऐतिहासिक काल" का आरम्भ मानते हैं। परन्तु इस बात को सभी मानते हैं कि हिन्दुओं का वास्तविक इतिहास उससे बहुत पहले आरम्भ होता है।

संसारमें केवल तीन चार जातियां ऐसी हैं जिनका इतिहास इतनी प्राचीनता तक पहुँचता है। इन प्राचीन जातियों में भी केवल एक ही जाति है जिसके पास एक क्रमिक इतिहास मौजूद है। यह चीनी जाति है। उस कालकी केवल दो और प्राचीन जातियां हैं जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है और जिनके विषय में दिन पर दिन जानकारी बढ़ती जाती है। वे हैं बाबलकी जाति और मिस्र देशकी जाति। यदि यूनानियोंको भी सम्मिलित कर लिया जाय तो अधिकसे अधिक पांच जातियां ऐसी कही जा सकती हैं जिनका इतिहास ईसाके ५०० वर्ष पूर्व

से आरम्भ होता है—अर्थात् मिसरी, चीनी, बाबली, * भारतीय और यूनानी। इनमेंसे ऐतिहासिकों की दृष्टि में यूनान और भारत की अपेक्षा बाबल, मिस्र, और चीन अधिक प्राचीन गिने जाते हैं और यूनान सबसे कम। मिस्रवालों और बाबलवालोंका इतिहास उन खंडहरों, शिला-लेखों और मुद्राओंसे तैयार किया जा रहा है जो आधुनिक समयके अन्वेषणकर्ताओं ने भूमिके नीचेसे खोद खोदकर निकाले हैं।

यह सामग्री बहुत मूल्यवान है। भारत का इतिहास संकलन करने में भी पुराने खण्डहरों, लेखों और मुद्रा आदियों से बहुत सहायता मिली है। इस संबंध में अब तक जो खोजें हुई हैं उन्होंने भारत के इतिहास को निश्चितरूप से कम से कम तीन हज़ार वर्ष ईसा पूर्व तक पहुंचा दिया है। परन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन करते थे, यह बात पुराणों तथा अन्य अनुश्रुतियों में वर्णित वंशावलियों और कथाओं तथा काश्मीर के क्रमिक इतिहास राजतरङ्गिणी आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों से स्पष्ट होजाती है। हां, इतिहास की लेखनशैली तथा ऐतिहासिक घटनाओं के आपेक्षिक महत्व के संबन्ध में प्राचीन तथा आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों के दृष्टिकोण में भेद होना स्वाभाविक है। प्राचीन साहित्य में बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री मौजूद है। इस सामग्री के आधार पर भी भारत की सभ्यता का इतिहास ईसा से पूर्व कम से कम तीन हज़ार वर्ष तक पहुंच जाता है। यह सामग्री संसार की सभ्यता के इतिहासमें

* बाबल का वर्तमान नाम मेसोपोटामिया या इराक है।

अद्वितीय मूल्यवान हैं और सब प्रकारसे आर्य-जातियों के इतिहास में अनुपम है।

ऐतिहासिक काल से पहले का साहित्य

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, यूरोपियन विद्वानों के अनुसार "ऐतिहासिक काल" ईसा के जन्म से ६०० या ७०० वर्ष पूर्व आरम्भ होता है। परन्तु हम ऐसा नहीं मानते। वस्तुतः इस से पहले काल पर आवश्यकतानुसार अभी अन्वेषण नहीं हुए और इस लिये हमें उस का इतिहास संकलन करने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं होती। कुछ लेखकों ने इसके लिये प्रयत्न किया भी है जो बहुत प्रशंसनीय है; परन्तु अभी तक उन के सिद्धान्त निश्चित रूप से स्वीकृत नहीं समझे जा सकते : उन पर अधिक विवेचना की आवश्यकता है। इस पुस्तक में आगे जहां भी हम "ऐतिहासिक काल" इस परिभाषा का प्रयोग करेंगे, वहां हमारा उसी काल से अभिप्राय होगा जिसका इतिहास प्रायः संकलित किया जा चुका है।

हम ने ऊपर कहा है कि हिन्दुओं का इतिहास इस काल से बहुत पहले आरम्भ होता है और उन के पवित्र ग्रन्थ प्रामाणिक रूप से इस से पुराने हैं। यूरोपीय अन्वेषकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि उनका काल कम से कम १५०० से लेकर ३००० वर्ष ईसा के पूर्व का है। कई अन्वेषक इसको

* यास्क मुनि के कथनानुसार प्राचीन समय में भी एक ऐसा सम्प्रदाय था जो वेद में इतिहास मानता था। यास्क ने इसका नाम "ऐतिहासिकाः" लिखा है।

ईसा के ४००० वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं। स्वर्गीय बाल गङ्गाधर तिलक ने अपने अन्वेषण से यह सम्मति स्थिर की थी कि वेदों की प्राचीनता ईसा के लगभग आठ दस सहस्र वर्ष पूर्व तक पहुंचती है।

धार्मिक विचार-दृष्टि से हिन्दू वेदों को भगवद्वाणी और ईश्वरकृत मानते हैं। उनके समीप वेद सनातन और नित्य हैं। परन्तु ऐतिहासिक विचार-दृष्टि से हम को इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत केवल वेद ही नहीं, वरन वे पुस्तकें भी हैं जो वेद की श्रुतियों के आधार पर लिखी गयी हैं। इन पुस्तकों में वेदों की व्याख्याओं के साथ साथ गौण रूप से तत्कालीन हिन्दू आर्यों के ऐतिहासिक वृत्तान्त भी दिये हुए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद वैदिक साहित्य के ही अन्तर्गत हैं।

इन पुस्तकों के रचना-काल का ठीक ठीक निरूपण करना लगभग ऐसा ही असम्भव है जैसा कि वेदों का। परन्तु इस में प्रायः सब विद्वान सहमत हैं कि ये पुस्तकें "ऐतिहासिक काल" से बहुत पहले की लिखी हुई हैं। ये पुस्तकें हमें उस कालके हिन्दू आर्यों की सभ्यता और संस्कृति का [illegible] चित्र अतीव स्पष्ट रीति से दिखाती है। भूमण्डल में कोई भी दूसरी जाति ऐसी नहीं जो यह दावा कर सकती हो कि इतनी प्राचीन और इतनी उच्च कोटि की पुस्तकें उन के यहां मौजूद हैं। चीनियों के पास दो सहस्र से पचीस सौ वर्ष ईसा के पूर्व तककी पुस्तकें मौजूद हैं। परन्तु हम यह मानने के लिये तैयार नहीं कि उन पुस्तकों में कोई पुस्तकें इस कोटिकी हैं जैसे कि हिन्दुओं के उपनिषद या वेद हैं।

इस दृष्टि से हिन्दुओं की प्राचीन पुस्तकें ऐतिहासिक काल से पहले के वृत्तान्तों को जानने के लिये अतीव मूल्यवान और आवश्यक हैं। मनुष्य जाति की उन्नति और सभ्यता के इतिहास का वे आवश्यक, बहुमूल्य और प्राचीन अंश हैं। भूमण्डल की जातियों में हिन्दू ही एक ऐसी जाति है जो साभिमान यह कह सकती है कि उन्होंने आजतक अपनी सभ्यता को सुश्रृङ्खलित और शुद्ध रक्खा है। हम यह नहीं कहते कि ऐतिहासिक काल में हिन्दू सभ्यता पर बाह्य सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु हम यह कहने के लिये तैयार हैं कि धर्म्म और संस्कृति दोनों में हिन्दुओं ने बाहर से कोई बड़े असूल नहीं लिये। उनकी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति उनके अपने ही मन और मास्तिष्क की उपज हैं। पश्चिम में ईरानियों, यूनानियों और अरबों ने बहुत कुछ हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-तत्त्वज्ञान से सीखा। पूर्व में चीन, माचीन (ब्रह्मा, सियाम, अनाम) कोरिया, तिब्बत और जापान तो स्पष्ट रूप से भारत के शिष्य रहे। परन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि भारत की वास्तविक सभ्यता और उन की संस्कृति या रीति का कोई मूलभूत अंश बाहर से आया।

आर्य्यों का मूल स्थान और वेदों की प्राचीनता।

मनुष्य-समाजको प्रायः तीन या चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है:—पहले आर्य्य, दूसरे मङ्गोल, तीसरे सेमेटिक, चौथे नीग्रो अर्थात् हब्शी। यूरोपकी समस्त वर्त्तमान जातियां, भारतीय और ईरानी आर्य्य-जातिकी गिनी जाती हैं। सेमेटिक जातिके दो प्रबल प्रतिनिधि यहूदी और अरब हैं। जापानी और चीनी मङ्गोल-जातिसे हैं;

और अफ्रीकाके अधिवासी और एशियाके दक्षिणी द्वीपोंके कुछ लोग हबशी जातिसे कहे जाते हैं। यह प्रकट है कि यह विभाग कोई ऐसा नहीं जो समाप्त हो जाय। क्योंकि इसी प्रकार मनुष्य जाति के और भी विभाग किये जा सकते हैं। परन्तु यहां पर हमारा उद्देश्य मनुष्य-समाजकी सभी जातियोंका वृत्तान्त लिखना नहीं; वरन् भूमिकाके रूप में ही इतना लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

यूरोपीय लोग अपने आपको आर्य्य-जातिसे बताते हैं और इस समय संसारके शासनकी बाग-डोर उनके हाथमें है, इसलिये स्वभावतः इस प्रश्नमें उन्हें अधिक रुचि है कि यह जाति आरम्भमें कहांसे आई और इसकी उन्नतिकी भिन्न भिन्न अवस्थायें क्या और कहां हुई। कदाचित यही कारण है कि यूरोपीय विद्वान आर्य्य-वंश को मनुष्य-जातिके शेष सभी वंशोंसे अधिक प्रतिष्ठित और मान्य समझते हैं। सच तो यह है कि इस समय संसारमें विशुद्ध वंश कोई नहीं है। सारे वंश आपसमें खिचड़ी हो गये हैं। किसी जातिके विषयमें यह कहना कि वह किसी विशुद्ध वंशमें से है कुछ अधिक महत्व नहीं रखता। कदाचित संसारकी शान्तिके लिये यह अच्छा हो कि यह विवाद सर्वथा बन्द हो जाय। परन्तु जबतक संसारमें जातीय गर्व शेष है तबतक लोगोंकी इस प्रश्नमें रुचि रहेगी।

यह बात मानी हुई है कि भारतमें प्रचुर संख्या आर्य्य-जातिके लोगोंकी है। कमसे कम यह बात निश्चित है कि उसमें आर्य्य-जातिका रक्त संसारकी शेष सभी आर्य्य-जातियोंसे अधिक है। ईरानियोंमें लगभग सभी जातियोंका रक्त मिला हुआ है। यूरो-

पीय जातियोंके विषयमें अब यह सन्देह करनेके लिये पर्याप्त कारण हो गये हैं कि वे बिलकुल आर्य्य-जातिमें से नहीं हैं या उनमें आर्य्य-जातिका रुधिर बहुत थोड़ा है। जातियोंके सम्बन्ध में कतिपय आदर्श हैं जिनकी कसौटी पर अन्वेषक लोग भिन्न भिन्न जातियोंको परखते हैं। उदाहरणार्थ, यह विचार कि हिन्दू, ईरानी और यूरोपीय जातियां एक ही वंशसे हैं, सन् १७८६ ई० में सर विलियम जोन्सने इस आधारपर प्रकट किया था कि इन जातियोंकी भाषाओंमें बहुत कुछ सादृश्य है और ये भाषायें अपनी बनावट और अपनी रीति-नीतिमें इस प्रकारकी हैं कि उनके सम्बन्ध में उचित रूप से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उनके पूर्वज किसी समय एक ही वंशसे सम्बन्ध रखते थे और एक ही प्रदेशमें बसते थे। इसी आधारपर यह सम्मति स्थिर की गई थी कि आर्य्यजाति का मूल निवास मध्य एशिया में था। वहींसे यह जाति उत्तर, दक्षिण, पश्चिम, और पूर्वमें फैली। परन्तु गत १५० वर्षोंमें मनुष्यके प्राचीन इतिहासके विषयमें जो कुछ जानकारी संग्रह की गई है उससे यह प्रतीत होता है कि यह कसौटी कोई ऐसी सच्ची कसौटी नहीं कि जिसके विषयमें सन्देह न किया जा सके। संसारमें बहुत सी ऐसी जातियाँ मिलती हैं जिनकी भाषा निश्चित रूप से उनकी अपनी भाषा नहीं है। वह भाषा उनके अन्दर ऐतिहासिक कालमें प्रचलित हुई। उदाहरणार्थ अमरीका की बहुतसी बस्तियां ऐसी हैं जो दो तीन सौ वर्षों से स्पेन और पुर्तगालकी भाषा बोलती हैं। और दो तीन सौ वर्ष में किसीको यह स्मरण न रहेगा कि उन्होंने यह भाषा अपने विजेताओं से प्राप्त की। फिलीपाइन द्वीपसमूहके अधिवासियोंकी मूल भाषा इस समय

साधारणतया स्पेन की भाषा समझी जाती है। अब अमरीका के संयुक्त राज्योंके अमरीकन लोग उनको अङ्गरेज़ी सिखा रहे हैं और कतिपय वर्षोंमें सारे द्वीप-समूहकी भाषा अङ्गरेज़ी हो जायगी।

वंश-भेदकी दूसरी कसौटी खोपड़ियोंकी बनावट और लंबाई चौड़ाई है।

तीसरी कसौटी भिन्न भिन्न जातियोंके धार्मिक किस्से-कहानियां और रीति-रवाज हैं। परन्तु हमारी सम्मतिमें कोई भी आदर्श ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है जिसपर पूर्ण रूपसे भरोसा किया जा सके। फिर भी इन तीनों प्रकार की साक्षियोंको इकट्ठा करके जो कुछ सिद्धान्त 'आर्य्यों के मूल निवास-स्थान' के विषय में स्थिर किये गये हैं उनको संक्षेप से आगे दिया जाता है।

आर्य्योंकी मूल और आदि जन्म-भूमिके विषयमें जो विचार इस समयतक प्रकट हो चुके हैं उनको इन प्रकारों में बांटा जा सकता है:—

पहला—आर्य्यों का मूल निवास मध्य एशिया था। यह सबसे प्राचीन विचार है और अभीतक बहुमत इसीके पक्ष में है।

दूसरा—आर्य्योंका आदि निवास उत्तरी ध्रुव के समीप था। इस विचारके माननेवालों में हमारे प्रसिद्ध देशभक्त स्वर्गीय लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक थे। कुछ यूरोपीय विद्वान भी इस विचार का समर्थन करते हैं।

तीसरा—कुछ लोग आर्य्योंका मूल निवास स्कण्डीनेविया अर्थात् यूरोप के उस भागको बताते हैं जो इस समय स्वीडन और नार्वे के नामसे प्रसिद्ध है।

चौथा—कुछ समयसे अन्वेषकोंका एक नवीन समाज उत्पन्न हुआ है। उसका यह दावा है कि आर्य्योंका मूल निवास दक्षिण-पूर्वी यूरोप था जो भूमध्य सागरके तटपर स्थित है और एशियामें जो आर्य्य बसते हैं वे यहांसे ही गये।

पांचवां—कुछ विद्वान एशिया-कोचक को आर्य्योंका मूल देश बताते हैं और कहते हैं कि यहांसे भिन्न भिन्न आर्य्य-दल पश्चिम, पूर्व, उत्तर और दक्षिणमें फैल गये। चौथा और पांचवां विचार बहुत अंशोंमें एक दूसरेके निकट है। इसी प्रकार दूसरा और तीसरा विचार एक दूसरेके समीप है। अतएव वास्तवमें इस प्रश्नपर तीन प्रकारके विचार रह जाते हैं। परन्तु एक और चौथा विचार भी है जिसका समर्थन समस्त हिन्दू ऐतिह्य और हिन्दू-साहित्य करता है। वह यह कि आर्य्यों का मूल निवास उत्तर भारत था। यहींसे यह जाति, उसकी सभ्यता और उसकी भाषा एशिया, यूरोप और अफ्रीका के भिन्न भिन्न भागोंमें फैली।

इस अन्तिम विचारकी पुष्टिमें जो प्रमाण मौजूद हैं उनको हालमें कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्राचीन भारतीय इतिहासके अध्यापक श्रीयुत अविनाशचन्द्रदास नामके एक बङ्गाली विद्वान ने "ऋग्वेदिक इण्डिया" नामक पुस्तकमें संग्रह किया है।* श्री अविनाशचन्द्रदासके परिणाम निश्चय ही वैसे महत्व और मूल्यके योग्य हैं जैसे कि दूसरे विचारोंके पक्षपोषकोंके परिणाम

---

* श्रीयुत पार्जिटर महोदय ने भी तीस साल की खोज के पश्चात अपनी पुस्तक "एंशन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन" में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।

हैं। हमारी सम्मति में किसी भी व्यक्तिके पास कोई ऐसा प्रबल या अकाट्य प्रमाण नहीं है जिससे इस प्रश्नका निश्चयात्मक रूपसे निर्णय हो सके। श्रीयुत दासने अपने परिणामों की पुष्टि में आगे लिखे शास्त्रोंके प्रमाण उपस्थित किये हैं :—

(१) उनका सबसे बड़ा आधार भूतत्त्व विद्याके अन्वेषण हैं। भूतत्त्वविद्या के विचारकोंने इस बातको प्रमाणित ठहराया है कि किसी प्राचीन कालमें जो लाखों वर्षोतक पहुंचता है भारतका मानचित्र वह न था जो अब है। जो प्रदेश अब गङ्गा और यमुनाके जलों से सींचा जाता है वहां उस समय समुद्र था। और यह समुद्र राजपूतानाके सीमान्तसे लेकर आसाम तक फैला हुआ था। वर्तमान अवध, आगरा, इलाहाबाद, बिहार और बङ्गालके प्रान्त सब जल-मग्न थे। इस समुद्र का नाम पूर्वीय समुद्र कहा जाता है। जहां अब राजपूताने की मरुभूमि है वहां भी उस समय समुद्र था। इस समुद्रका नाम उन्होंने राजपूताना सागर रक्खा है। उस समय अरब-सागर भी उसी स्थानतक पहुंचता था जहां पञ्जाबकी पांचों नदियां सिन्धुमें मिलती हैं। इसके अतिरिक्त हिमालयके उत्तरमें तुर्किस्तानसे लेकर कृष्ण सागरतक एक समुद्र था जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर झील बेकालसे लेकर कृष्णसागर तक और उत्तरसे दक्षिण की ओर यूराल गिरि मालासे चलकर उत्तरीय सागर तक फैला हुआ था। कृष्णसागर कास्पियन सागर, अराल सागर और झील बलकाश ये सब उसी सागरके अवशेष हैं। यह भी कहा जाता है कि तुर्किस्तान के पूर्व की ओर एक और मध्यवर्ती समुद्र था जिसको एशियाई भूमध्य सागरका नाम दिया जाता है। मानों प्राचीन सप्तसिन्धु के चारों ओर चार समुद्र थे। सप्तसिन्धु प्राचीन संस्कृत में

उस प्रदेशको कहा गया है जो सिन्धु, सरस्वती और पञ्जाबकी पांचों नदियोंसे सींचा जाता था और जिसको आजकल पञ्जाब कहा जाता है।

(२) उस समयमें दक्षिण भारत एक बड़े महादेश का भाग था। यह महादेश ब्रह्मासे आरम्भ होकर पूर्वी अफ्रीका के तटतक पहुंचता था और अधिक सम्भव है कि दक्षिणमें यह आस्ट्रेलियाकी सीमातक था। एक यूरोपीय विद्वान ब्लॅफोर्ड ने इस महादेशका नाम इण्डोओशियानिक रक्खा है। उसका विचार है कि भूकम्प आदिके कारण यह सारा महादेश उलट पलट हो गया और भारतका यह आकार बन गया जो इस समय है।

(३) सप्त सिन्धु के विषयमें वैज्ञानिक यह मानते हैं कि यह भूखण्ड उन प्रदेशोंमेंसे है जहां पहले जीवधारी उत्पन्न हुए और जहां मनुष्यका आविर्भाव हुआ और चूंकि यहां आर्य-जातिके लोग ऐसे कालसे रहते हैं जिसका निरूपण करना प्रायः असम्भव है इसलिये इसी प्रदेशको उनका आदिम स्थान समझना चाहिये। इसी प्रकार द्रविड़ लोग दक्षिणी महादेशके अधिवासी हैं। वे कभी मध्य एशियासे नहीं आये।

(४) ऋग्वेदकी आन्तरिक साक्षीसे श्रीयुत दास यह परिणाम निकालते हैं कि ऋग्वेदके समयमें पञ्जाबके चारों ओर समुद्र था। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं। पञ्जाबकी पांचों नदियां और सिन्धु अरब सागरके उस भागमें गिरती थीं जो राजपूताना सागरसे मिला हुआ था। गङ्गा और यमुना पूर्वी समुद्रमें गिरती थीं। सरस्वती उस समय एक बहुत बड़ी नदी थी। वह हिमालयसे निकलकर राजपूतानाके समुद्रमें गिरती थी। ऋग्वेदमें न तो

दक्षिणका और न पूर्वी भारतकाही कुछ उल्लेख मिलता है। इसका कारण यह है कि पञ्जाब और इन प्रदेशोंके बीच में बड़े बड़े सागर स्थित थे।

(५) श्रीयुत दास की सम्मति में सप्त सिन्धु प्राचीन आर्य्यों का मूल निवास है। यहींसे ईरानी आर्य्य परस्पर के झगड़ोंके कारण ईरानमें जाकर बस गये। यहीं से आर्य्यों की भिन्न भिन्न शाखायें भिन्न भिन्न कालोंमें पश्चिमी एशिया और मिश्रमें जाकर रहने लगीं। इसी प्रकार दास महाशयके मतानुसार प्राचीन फोनीशियन लोग आर्य्यों के उसी दलमेंसे थे जिसको वैदिक साहित्यमें पणि नामसे पुकारा है। पणि लोग पहले पहले दक्षिणको गये। वहां उन्होंने चोल और पाण्ड्य जातियोंके लोगोंसे सम्बन्ध उत्पन्न करके उनको आर्य्य-सभ्यताका अनुयायी बनाया। इन चोल लोगोंने चैल्डियाको बसाया और बेबीलोनिया राज्यकी नींव डाली।

(६) दास महाशय की सम्मति में पञ्जाबी आर्य्यों के भिन्न भिन्न दल स्वदेश छोड़कर पश्चिमी एशियामें जाबसे और वहां जाकर तूरानी वंशके साथ मिल गये। यह सम्भव है कि मिश्रित वंशके दल यूरोप के कुछ भागोंमें भी पहुंच गये। उनकी सम्मतिमें आर्मीनिया, केपीडोशिया, लिडिया, फर्गिया, थोरस और इसके इर्द गिर्दके प्रान्तोंकी बस्तियां सब पञ्जाबी आर्य्योंके वंशसे हैं। इनकी कुछ शाखाओंने किसी पीछेके समयमें जाकर एशिया-कोचकके दूसरे भागोंको बसाया। इस प्रकार कोस्मीन, हिटाइट्स (Hittites) और मीटैनियन्स (Mittanians) ये सब आर्य्य-वंशमें समझे जाते हैं।

यह कहना कठिन है कि श्रीयुत दासके ये विचार कहांतक

ऐतिहासिक घटनाओंके रूपमें स्वीकार किये जा सकते हैं। परन्तु इससे इनकार नहीं हो सकता कि उनके विचारों का अध्ययन अतीव मनोरञ्जक है। आर्य्योंका मूल निवास कहां था और वेदोंका काल कौनसा था, इस प्रश्नपर श्रीयुत दासने बहुत कुछ नवीन प्रकाश डाला है।

भारत की जातियां

वर्तमान भारतीय जनता जगतकी सभी बड़ी जातियोंका मिश्रण है। उसका बड़ा भाग निस्सन्देह आर्यवंशसे है। परन्तु उसमें द्रविड़, तातारी तथा अरब जाति और कुछ अंश उस जातिके भी सम्मिलित हैं जिसको नीग्रो या हब्शी कहा जाता है। उत्तरीय भारतके, विशेषतः पंजाब, संयुक्त प्रान्त, राजपूताना, गुजरात, बङ्गाल और बिहार के अधिवासी अधिकतर आर्यवंशके हैं। उत्तर-पश्चिममें कुछ अंश अरब और तातारी मूलके हैं। उत्तर-पूर्वमें कुछ रक्त मङ्गोलियन जातिका है। दक्षिणमें अधिकतर भाग द्रविड़-जातिका है और मालाबार सागर-तटपर एक विशेष संख्या अरबी वंशके मुसलमानोंकी है। मध्यभारत तथा दक्षिण में और विन्ध्याचलके मार्गोंमें और नीलगिरि पर्वतके प्रदेश में वे जातियां बसती हैं जिनको भारतके आदिम निवासी कहा जाता है, जैसे भील और गोण्ड आदि।

साधारणतया भारत में दो प्रकारके मनुष्य पाये जाते हैं। एक वे जो लम्बे डील, श्वेत वर्ण और लम्बी नाकवाले हैं। ये लोग साधारण तौरपर आर्य्य-वंशसे समझे जाते हैं। दक्षिणी भारत में मालाबारके नामबूद्री ब्राह्मण भी ऐसे ही हैं।

दूसरे प्रकारके वे मनुष्य हैं जिनका डील ठिगना, रंग काला और नाक कुछ चौड़ी होती है। कहा जाता है कि इस प्रकार के मनुष्य भारतके मूलनिवासियों की सन्तान हैं और उनके रक्तमें बहुत थोड़ी मिलावट है।

इनके अतिरिक्त एक और प्रकारके भी मनुष्य हैं जो मङ्गोलियन जातिसे हैं जैसे कि तिब्बतवाले या गोरखा लोग।

पहले प्रकारके मनुष्य प्रायः उत्तर-पश्चिमसे आये। उनमें हिन्दू आर्य्य (इंडो आरियन), थोड़ेसे यूनानी, शक, यूची और हूण जातिके भी मनुष्य मिले हुए हैं। इस देश में हिन्दू आर्य्यों के प्रवेशका ठीक ठीक समय निरूपित नहीं किया जा सकता। पर इस विषय में जो जो कल्पनायें की जाती हैं उनका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसके पश्चात् ऐतिहासिक कालतक इनमें न मालूम कितनी अन्य जातियां आकर मिल गईं। केवल इतना मालूम है कि सिकन्दरके धावेके पश्चात यूनानियोंकी कुछ संख्या पञ्जाब तथा पश्चिमी सीमापर बस गई।

इसके पश्चात ईसाके दो शताब्दी पहले यहां शक जातिका प्रवेश हुआ। इन लोगोंमें भद्दे, कुरूप तथा छोटे नेत्रवाले मङ्गोल-जातिके मनुष्य भी मिले हुए थे। पर इनके अतिरिक्त इस जातिमें अन्य रूपवान जातियां भी सम्मिलित थीं जिनका डील-डौल और रूप-रंग तुर्कोंके समान आर्य्योंका सा था।

ईसाकी प्रथम शताब्दीमें भारतके अन्दर उत्तर-पश्चिम मार्ग से एक और भ्रमणशील जाति का प्रवेश हुआ। इस जाति को यूची कहते हैं। इसके मनुष्य फैलते फैलते नर्मदा-तटतक पहुंच गये। इनके एक मुख्य अंश का नाम "कुशान" था जो कि

बड़े डील-डौल और श्वेत रंगके थे। बहुत सम्भव है इनका ईरानियोंसे भी कुछ सम्बन्ध हो। कुछ अन्य जातियां भी, जिनको साधारण तौर पर 'हूण' कहते हैं, पांचवीं और छठी शताब्दियों में मध्य एशियासे चलकर भारत में आईं और यहां रहने सहने लगीं। कुछ लोगोंका अनुमान है कि राजपूतों की कुछ जातियां और जाट तथा गूजर लोग इसी हूण जातिकी सन्तान हैं।

ये सब बातें यहां केवल इस पुस्तकको पूर्ण बनानेके लिये लिखी गई हैं, पर हमारी सम्मतिमें इन सारे आगमनों का कोई गहरा प्रभाव भारत की सभ्यता पर नहीं पड़ा। यह माना जाता है हिन्दू-आर्य्य भारतमें उत्तर-पश्चिमी दर्रों द्वारा आये और कई शताब्दियों तक ये एक ओर तो भारतवर्षके निवासियोंसे युद्ध करते रहे और दूसरी ओर नयी आनेवाली जातियोंसे अपनी रक्षा। इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि हिन्दू-आर्य्यों के आदि समूहों के यहां आनेके पश्चात् उसी प्रकारकी और भी जातियां उत्तर पश्चिमी मार्गोंसे भारतमें आई होंगी। सम्भव है कि स्वयं हिन्दू आर्य्यों ने इनमेंसे कुछ जातियोंको अपनी सहायता तथा पुष्टिके लिये बुलाया हो। कुछ समूहोंने नये नये आक्रमणकारियोंसे परास्त होकर यहां शरण ली होगी। कुछ लोग बलात् आ गये होंगे। परन्तु यह स्पष्ट है कि भारतमें प्रवेश करनेके पश्चात् इन जातियोंमें और यहां के हिन्दू-आर्य्योंमें परस्पर कोई भेद नहीं रहा। यहां-के आर्य्य-निवासियोंने उनको अपने धर्म तथा समाजमें मिला-कर अपनी जातिमें मिला लिया, जिसके कारण वे अन्य जातियां भी हिन्दू-आर्य्योंके समाज का एक अङ्ग बन गईं। मुसलमानोंके प्रवेशसे पहले कोई ऐसी जाति भारतमें नहीं

आई जो अपने संग नयी सभ्यता या कोई नया धर्म लेकर आई हो, और जिसके धर्म या सामाजिक जीवनका प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दू-आर्योंके रहने-सहने के ढंगपर पड़ा हो। ऐसी अनेक जातियोंका हिन्दू-शास्त्रोंमें वर्णन पाया जाता है जिनको हिन्दुओंने यज्ञोपवीत देकर हिन्दू बना लिया अथवा द्विज बनाकर उनको हिन्दू-समाजमें मिला लिया। यह भी बहुत सम्भव जान पड़ता है कि कुछ लोग भारतसे विदेश जाकर पतित भी हो गये होंगे, और उन्हें फिरसे शुद्ध करके समाजमें मिला लेनेकी आवश्यकता अनुभव हुई होगी।

भारत की भाषायें

आर्योंके आनेसे पूर्व उत्तरीय भारतकी क्या भाषा थी, यह कोई नहीं बता सकता। मदरास प्रान्तकी भाषायें द्रविड़ स्रोतसे हैं। सम्भव है कि आर्योंके आनेके समय उस स्रोतकी भाषायें उत्तरी भारतमें भी प्रचलित हों, परंतु यदि ऐसा था तो हिन्दू आर्योंने अपनी भाषाको द्रविड़ शब्दों और मुहावरोंसे अमिश्रित रखनेमें भारी सफलता प्राप्त की। आधुनिक द्रविड़ भाषाओं-में संस्कृतके असंख्य शब्द हैं, परन्तु क्या प्राचीन और क्या नूतन संस्कृतमें द्रविड़ भाषाके शब्द और मुहावरे बिलकुल दिखाई नहीं देते। यदि वे होंगे भी तो ऐसे कम कि उनका होना और न होना समान है। उत्तरी और पश्चिमी भारत की सभी भाषायें अर्थात बङ्गला, हिन्दी, पंजाबी, गुजराती और मराठी संस्कृतसे निकली हैं। हां, उर्दूमें अरबी, फारसी और तातारी शब्दों तथा मुहावरोंकी बहुत कुछ मिलावट है। परन्तु बोल चालकी उर्दूमें भी सौ पीछे ७५ से भी अधिक शब्द

निश्चय-पूर्वक संस्कृतके हैं * ।

भारतके धर्म्म

प्रायः यह समझा जाता है कि भारतवर्षमें असंख्य धर्म्म हैं। कई लोग यहांतक कह देते हैं कि जितने मनुष्य उतने धर्म्म। वास्तवमें तो यह अन्तिम कथन संसारके सभी अधिवासियोंपर चरितार्थ होता है; क्योंकि धर्म एक व्यक्तिगत वस्तु है जो प्रत्येक मनुष्यके लिये अलग अलग है। धर्मका सम्बन्ध मनुष्यकी आत्मासे है। मनुष्योंकी आत्मायें भिन्न भिन्न हैं। इसीलिये किन्हीं दो मनुष्योंका धर्म्म तथा विचार वास्तवमें एक नहीं है परन्तु जिन साधारण अर्थोंमें "धर्म्म" शब्दका प्रयोग किया जाता है उनका ध्यान रखकर यह कहा जा सकता है कि भारतमें तीन धर्म्मोंके अनुयायियोंकी संख्या सबसे अधिक है—(१) हिन्दू, (२) इसलाम, (३) ईसाई। इनके अतिरिक्त सिक्ख, जैन, बौद्ध और पारसी भी हैं, जो आर्यजातिके धर्म्म या मत हैं। इसलाम और ईसाई दोनोंका मूल यहूदी है। भारतमें यहूदियों की भी कुछ संख्या है। संसारमें तीन प्रकारके धर्म्म हैं, अर्थात आर्य, सैमेटिक और मङ्गोलियन। यहूदी, ईसाई और इसलाम इन तीनोंका प्रकाश सैमेटिक लोगोंके अन्दर हुआ। परन्तु अब ये भूमण्डलकी सभी जातियोंमें पाये जाते हैं।

---

* प्रायः कहा जाता है कि भारत में बहुत अधिक भाषाएं हैं। उनकी गणना २२० तक की जाती है। परन्तु जिन सिद्धान्तों पर भिन्न भिन्न भाषाओं का विभाग करके उनकी इतनी बड़ी संख्या बतलाई जाती है यदि उन्हीं सिद्धान्तों पर यूरोपीय भाषाओं को भी बांटा जावे तो उनकी संख्या सैकड़ों से भी बढ़ जावे।

मङ्गोलियन जातियोंका धर्म्म वह है जो प्राचीन चीनियों, प्राचीन जापानियों और प्राचीन तातारियोंका था।* इन सब धर्म्मोंमें बहुतसे ऐतिह्य और धार्मिक उपाख्यान एक ही प्रकारके हैं और उनके सिद्धान्तोंमें भी बहुत कुछ समानता पायी जाती है। फिर भी उनका धार्मिक ढांचा और संगठन भिन्न भिन्न है। ईसाई लोग यद्यपि भारतमें अंग्रेज़ी राज्य से पहिले थे, परन्तु बहुत थोड़े। यूरोपीय राजत्वकालमें उनकी बहुत वृद्धि हुई और दिनपर दिन हो रही है। मुसलमान संख्याकी दृष्टिसे दूसरे दर्जे पर हैं। साधारणतया राजनीतिक प्रयोजनोंके लिये बाह्य जगत यही जानता है कि भारतमें दो ही बड़े धर्म्म हैं—हिन्दू और मुसलमान। यद्यपि भारतके भिन्न भिन्न प्रान्तों में ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय मौजूद हैं जो अपने आपको हिन्दुओं और मुसलमानोंसे भिन्न समझते हैं, जैसे कि पंजाब में सिक्ख परन्तु हिन्दुओं, मुसलमानों, और ईसाइयोंमें असंख्य ऐसे मत हैं जो एक दूसरेसे ऐसे ही अलग अलग हैं जैसे कि हिन्दू मुसलमानोंसे और मुसलमान ईसाइयोंसे।

अंगरेज़ी राज्यसे पहलेके इतिहासमें कोई प्रमाण इस प्रकार का मौजूद नहीं जिससे यह मालूम होता हो कि धार्मिक मत-भेदोंके कारण भारतमें उस प्रकारके रक्तपात और युद्ध हुए जैसे कि यूरोपमें रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायोंके बीच कई शताब्दियोंतक जारी रहे। यद्यपि कुछ यूरोपियन ऐतिहासिक ऐसा मत प्रकट करते हैं कि मुसलमानों के शासन-

* इसको चीनमें 'ताओ' मतके नामसे पुकारा जाता है और जापान में शिन्तोमत कहा जाता है।

काल से पहले भी हिन्दुओं और बौद्धों में परस्पर इस प्रकार के रक्तपात और युद्ध जारी रहे परन्तु कई दूसरे ऐतिहासिकों ने इस मत का प्रबल खण्डन किया है। धार्मिक अत्याचारों के जो उदाहरण पेश भी किये जाते हैं उनसे भी इतना ही साबित होता है कि अपवाद के तौर पर कुछ ऐसे राजा हुए जिन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये। परन्तु सर्व-साधारण लोग भी ऐसे झगड़ों में हिस्सा लेते थे इस बात के तो कोई विश्वास योग्य उदाहरण भी पेश नहीं किये गये। यह भी कहा जाता है कि मुसलमानी शासन-काल में हिन्दुओं पर असीम धार्मिक अत्याचार हुए। यद्यपि यह ठीक है कि कई मुसलमान आक्रमणकारियों ने वैसा किया, परन्तु उसकी तह में धार्मिक पक्षपात बहुत कम था। ये अत्याचार और अनर्थ अधिकतर राजनीतिक और आर्थिक कारणों से किये जाते थे। नादिरशाह ने जिस समय दिल्ली में 'कत्ल आम' की आज्ञा दी तो हिन्दू और मुसलमान का कोई भेद नहीं रखा। औरङ्गज़ेब ने अपने भाइयों और उनके साथी मुसलमानों का उसी प्रकार वध किया जिस प्रकार कि हिन्दुओं का। भारत के इतिहास में, भली भांति ढूंढने से भी किसी व्यक्ति को उस प्रकार के रक्तपात का चिह्न नहीं मिलता जैसा कि फ्रांस में सेंट बार-थलमू के दिन हुआ और हालैण्ड, बेलजियम, जर्मनी, स्काट-लैण्ड, इङ्गलैण्ड और आयरलैण्ड में भिन्न भिन्न ईसाई सम्प्रदायों में कई शताब्दियों तक जारी रहा और जिस में लाखों मनुष्यों के वध की नौबत पहुंची।

भारत के इतिहास में उस प्रकार की लड़ाइयों का भी कोई उदाहरण नहीं मिलता जैसी कि मुसलमानों और ईसाइयों में

'पवित्र भूमि' के लिये हुई। कुछ हिन्दू राजाओं ने निस्सन्देह जैनों और बौद्धों पर कुछ अत्याचार किये और जैन और बौद्ध राजाओं ने भी हिन्दुओं पर अत्याचार किये, परन्तु साधारणतया हिन्दुओं के समय में बौद्ध और जैन-धर्म के प्रचारकों का और बौद्ध और जैन राजाओं के समय में हिन्दू पण्डितों का सम्मान होता रहा। कई मुसलमान आक्रमणकारियों ने भी निस्सन्देह हिन्दू-मन्दिरों को गिराया और हिन्दू मूर्तियों को तोड़ा, परन्तु यह सब कुछ अधिकतर आरम्भिक मुसलमान आक्रमणकारियों ने किया और बहुत थोड़े काल तक यह सिलसिला जारी रहा।

प्रत्येक राजसत्ता अपनी राजनीतिक और सैनिक शक्ति को दृढ़ करने के लिये धर्म का उपयोग ढाल के रूप में करती है। जहां राजकर्मचारियों का धर्म शासितों के धर्म से भिन्न हो वहां राज्य अपने सहधर्मियों का कुछ न कुछ पक्ष अवश्य लेता है। इस पक्षपात से न हिन्दू खाली हैं, न मुसलमान और न ईसाई। परन्तु भिन्न भिन्न धर्म-समाजों में भेदभाव उत्पन्न कराना और उनको एक दूसरे के विरुद्ध भड़काना प्रायः बाह्य शासकोंकी विशेषता रही है। जो शासक किसी विजित या शासित देशको अपनी मातृ-भूमि बना लेते हैं वे स्वयं या उनके उत्तराधिकारी नियमपूर्वक ऐसा नहीं करते।

भारत की जनसंख्या इतनी अधिक है और हिन्दू मुसलमानों का दल इतना बड़ा है कि उनके लिये एक दूसरे का उन्मूलन करना असम्भव है। ऐसी अवस्था में उन सभी धार्मिक सम्प्रदायों का कर्त्तव्य हो जाता है कि पुरानी घटनाओं और प्रथाओं को भुलाकर अपने वर्तमान और भविष्य के हित

के लिये अपने धार्मिक मत-भेदों को ऐसा सुलझा लें कि उनसे किसी दूसरे को लाभ उठाने की गुञ्जायश न रहे।

राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिये भारतीय इतिहास की निर्दोष और नियमपूर्वक शिक्षा तथा अध्ययनकी आवश्यकता

किसी बच्चे की शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं समझी जा सकती जब तक कि उसको उस जाति और उस समाज के इतिहास का ज्ञान न हो जिसके अन्दर वह उत्पन्न हुआ है और जिसमें रह कर उसे अपने कर्त्तव्यों को पूरा करना है। प्रत्येक व्यक्ति जो संसार में जन्म लेता है वह बहुत सी प्रवृत्तियां अपने माता पिता और प्राचीन पूर्वजों से दायमें पाता है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजों का प्रतिनिधि है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य-समूह अपने जातीय पूर्वजोंका प्रतिनिधि है। कोई समाज अपनी वर्तमान अवस्थाओं को पूर्ण रूप से नहीं जान सकता जब तक उसे यह ज्ञान न हो कि वह किन किन अवस्थाओं में से होकर वर्तमान अवस्था तक पहुंचा है। समाज की उन्नति क लिये यह आवश्यक है कि उसे अपनी सब पूर्व अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान हो। प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक मानव-समुदाय अपने समाज की वर्तमान अवस्था से प्रभावित होता है। वर्तमान अवस्थाएं भूतकालीन अवस्थाओं का परिणाम हुआ करती हैं। इस लिये प्रत्येक मनुष्यसमुदाय की उन्नति के लिये आवश्यक है कि उसको अपनी जाति के इतिहास की अच्छी जानकारी हो। जब तक उसको ऐसी जानकारी न हो वह अपनी जाति की उन्नति और सुधार के क्षेत्र में कोई पग उठाने के योग्य नहीं हो सकता।

प्रत्येक जाति की सभ्यता और संस्कृति अपना इतिहास रखती है। कई जातियां अपनी पहली सभ्यता से गिरकर अपने आपको अधःपतन की अवस्था में पाती हैं। दूसरी जातियां वर्तमान काल में समृद्धिशालिनी होते हुए भी अधिक उन्नति की इच्छुक हैं, क्योंकि किसी जाति का सदा के लिये एक ही अवस्था में रहना असम्भव है। परिवर्तन मनुष्य का आवश्यक धर्म है। जो व्यक्ति उन्नति नहीं करता वह अवनति करता है। परन्तु उन्नति और अवनति के अर्थों में भी जातियों और मनुष्यों के आशयों में अन्तर हो सकता है। इसलिये जिस प्रकार एक योग्य डाक्टर रोग के निदान और चिकित्सा का निश्चय करने से पूर्व अपने रोगी के शारीरिक इतिहास को जानने का यत्न करता है उसी प्रकार जाति के हर एक सुशिक्षित सदस्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी जाति की उन्नति में यथोचित रूप से भाग लेने के लिये अपनी जाति के पूर्व इतिहास का ज्ञान रखता हो। आधुनिक भारतवासी उन भारतवासियों के स्थानापन्न और उत्तराधिकारी हैं जो इस देश में आज से कम से कम पांच सहस्र वर्ष पूर्व बसते थे। इस अर्से में उन में कई नयी जातियां आकर सम्मिलित हो गईं और उनकी सभ्यता पर कुछ बाह्य प्रभाव भी पड़े। इन सब प्रभावों का ज्ञान प्राप्त किये बिना हम न तो अपने व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझ सकते हैं और न अपने जातीय-जीवन और जातीय स्वभाव का अध्ययन कर सकते हैं। जो व्यक्ति अपनी जाति के इतिहास से अनभिज्ञ हो उस के लिये पूरी तरह अपने जातीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त किये बग़ैर सार्वजनिक कार्यों में हिस्सा लेना या कम से कम जद्दोजहद के वक्त जाति की बागडोर अपने हाथ में

लेना बहुत खतरनाक और हानिकारक है। क्योंकि ऐसे लोगों से भूल होने की प्रायः सम्भावना रहती है। जो जातियां उन्नति के आकाश से गिरकर आज अवनत हो गयी हैं, जो जातियां स्वतन्त्रता को खोकर आज दासत्व की दलदल में फंसी हुई हैं, जो जातियां किसी समय संसार की प्रथम पंक्ति में बैठ कर आज पिछली पंक्तियों में खड़ी हैं; उनके लिये विशेष रूप से आवश्यक है कि उनको अपनी भूतपूर्व उन्नति और अवनति के इतिहास का पूर्ण ज्ञान हो।

जातियों के बीच जो संघर्षण या जद्दोजहद सदा और प्रत्येक समय में जारी रहते हैं उस में भिन्न भिन्न जातियां भिन्न भिन्न काल में नीचे ऊपर होती रहती हैं। ये परिवर्त्तन सार्वभौम नियमों पर उसी प्रकार अवलम्बित हैं जैसे कि संसार के भौतिक और भूतत्त्व-संबन्धी परिवर्त्तन। संसार सदा बदलता रहता है। जहां आज बड़े बड़े ऊंचे पहाड़ हैं वहां किसी समय में सागर की लहरें उठा करती थीं। जहां आज गहरा समुद्र है वहां किसी समय में ऊंचे पहाड़ थे। जहां आज निर्जन मरुस्थली है वहां कभी हरी हरी वाटिकायें लहलहाया करती थीं। जहां आज सुन्दर उपत्यकायें और घाटियां हैं वहां किसी समय में सुनसान वन थे। ये परिवर्त्तन प्रकृति में प्राकृतिक कारणों से हुए। इसी प्रकार मानवीय इतिहास में भी परिवर्त्तन हुए जो उसी प्रकार के नैसर्गिक कारणों के परिणाम थे। इन परिवर्त्तनों का इतिहास हमारे लिये न केवल मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है वरन हमारी भावी उन्नति और अस्तित्व के लिये आवश्यक और अनिवार्य है।

हमारे सामने कई बार यह प्रश्न उठता है कि हमारी जाति क्यों, किन कारणों से और किन अवस्थाओं में वर्तमान दशाको प्राप्त हुई। हमारे छिद्रान्वेषी ऐसे ऐसे कारण बताते हैं जो हमारी आशाओं और हमारे उत्साह को घटाने वाले हैं। उदाहरणार्थ वे कहते हैं कि "प्राचीन भारतीय असभ्य थे" या "भारतवर्ष में प्रजातन्त्र राज्य की बुद्धि कभी उत्पन्न नहीं हुई" "भारत में कभी देश-भक्ति के भाव न थे" "भारतीय लोग सदा शासित रहे, उनमें प्रबन्ध की शक्ति नहीं" "उनकी सभ्यता उन तत्त्वों से शून्य है जो जातियों को पराक्रमी और उच्च विचारसम्पन्न बनाते हैं" इत्यादि, इत्यादि। कितने ही लोग यह कहते हैं कि हमारे जल वायु का ऐसा ही प्रभाव है। कितने कहते हैं कि हमारे धर्म की यह शिक्षा है। कई एक का मत है कि हमारे रक्त का ही यह विशेष दोष है। हमारे पास यह विश्वास करने के लिये पर्याप्त हेतु मौजूद हैं और हम बहुत से विचारकों और विद्वानों के प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं कि शासक जातियों के शासन का एक यह रहस्य है कि वे अपनी अधीन और शासित जातियों को उनकी अयोग्यता और असमर्थता का विश्वास करा दें; और उनकी उठने की हिम्मत और उनके आत्म विश्वास को नष्ट कर दें।

किसी जाति को अधीन बनाये रखने के लिये केवल तलवार की शक्ति ही पर्याप्त नहीं, केवल मानसिक योग्यता ही की आवश्यकता नहीं, केवल उच्च कोटिका चरित्र ही नहीं चाहिये; वरन यह आवश्यक है कि शासककी मानसिक अवस्था (Psychology) प्रभुत्व पूर्ण (Imperial) हो और शासित की दास-प्रकृति (Slave mentality) हो। गत

महायुद्ध में यह बात भली भांति स्पष्ट हो गई कि किस प्रकार संसार की बड़ी बड़ी जातियों ने, जिनमें अङ्गरेज़, जर्मन, फ्रांसीसी और अमरीकन सम्मिलित थे, अपने अपने इतिहासों को ऐसी दृष्टि से क्रमबद्ध किया जिससे उनके बच्चों में उस प्रकार की मानसिक और हार्दिक अवस्था उत्पन्न हो जिस प्रकार की उनको अपनी जातीय सफलता के लिये आवश्यक थी। अमरीकन स्कूलों में सन् १९१८ ई० तक ऐसे इतिहास पढ़ाये जाते थे जिनमें ब्रिटिश जाति के विरुद्ध बहुत कुछ विष उगला हुआ था और जिनमें उन अत्याचारों का बहुत उल्लेख था जो लिखने वालों के विचार में ब्रिटिश जाति ने अमरीकन औपनिवेशिकोंपर अमरीकन स्वतंत्रता से पहिले किये थे। उसी समय की घटनाओं का वर्णन करते हुए उन पुस्तकों में जो बरतानिया द्वीपसमूह के स्कूलों में पढ़ायी जाती थीं अमरीकन देश भक्तों के विरुद्ध पर्याप्त विष उगला हुआ था। सारांश यह कि एक ही घटना को दोनों जातियों ने अपने बच्चों के सामने भिन्न भिन्न रूपों में उपस्थित किया।

सन् १९१८ ई० में जब अङ्गरेज़ों और अमरीकनों के बीच जर्मनी के विरुद्ध एकता हो गयी तो दोनों जातियों को इस आवश्यकता का अनुभव हुआ कि अपने अपने देशों की पाठ्य पुस्तकों को ऐसे ढङ्ग से बदलें जिससे घृणा और शत्रुता के स्थान में प्रेम और एकता के भाव उत्पन्न हों। हमारे विचार में किसी राष्ट्र और देश के इतिहास को किसी जातीय स्वार्थ के लिये अशुद्ध रूप में वर्णन करना महापाप है। हम किसी प्रकार से इस बात को उचित नहीं ठहरा सकते कि इतिहास-शास्त्र का उपयोग बेईमानी से असत्य विचारों के प्रचार के लिये

किया जावे। जातीय स्वार्थों की प्राप्ति के लिये हम ऐतिहासिक घटनाओं को उलट पुलट करना अनुचित और अपवित्र कर्म समझते हैं। किसी प्रकार भी इन अनुचित और अपवित्र चेष्टाओं का परिणाम शुभ नहीं हो सकता। अतएव हमारी सम्मति में सच्ची देश भक्ति की यह मांग नहीं कि वह किसी जाति को अशुद्ध इतिहास के प्रचार में सहायता दे परन्तु जहां हम देशभक्ति के लिये अशुद्ध इतिहास का प्रचार और अशुद्ध इतिहास का पढ़ाना पाप समझते हैं वहां हम अपने शासन के प्रयोजनों के लिये किसी जाति को उसके अन्दर दास्य-प्रकृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से अशुद्ध इतिहास की शिक्षा देना अतीव जघन्य पाप समझते हैं। दुर्भाग्य से इस समय भारत के इतिहास पर जितनी प्रामाणिक पुस्तकें हैं वे-कतिपय अपवादों को छोड़कर-प्रायः विदेशी लोगों की लिखी हुई हैं। कई एक ने अज्ञान और अविद्या से, कई एक ने पक्षपात से, हमारे इतिहास की घटनाओं को अयथार्थ रूप में उपस्थित किया है। हम को लज्जा से यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि इस सम्बन्ध में जो कुछ बुरा भला मालूम है वह विदेशी अन्वेषकों के अन्वेषण का परिणाम है। इसलिये जहां एक ओर हमको उनकी अविद्या, पक्षपात और असाधुता का शोक है, वहां दूसरी ओर हमको उनके परिश्रम, खोज, अन्वेषण और सत्यप्रियता को भी स्वीकार करना पड़ता है। गत बीस वर्षों में कई भारतीय विद्वानों ने भी इस ओर ध्यान दिया है और भारतीय इतिहास के भिन्न भिन्न अङ्गों और कालों पर प्रकाश डाला है। यूरोपीय इतिहासकारों में, जिन्होंने भारत के इतिहास पर लेखनी उठायी है, कई ऐसे भी हैं; जिनके

सत्यानुराग, शुद्ध भाव और निष्कपटता में हमको कोई सन्देह नहीं। परन्तु प्रायः हमारे विद्यालयों में उनकी पुस्तकें नहीं पढ़ायी जातीं।

हमारी सम्मति में इस सारे विवाद का परिणाम यह है कि—

(क) भारतीय इतिहास की यथोचित जानकारी प्रत्येक भारतीय बच्चे की शिक्षा का आवश्यक अङ्ग हो।

(ख) यह आवश्यक है कि भारतीय बच्चों की शिक्षा के लिये उनके हाथ में भारत का यथार्थ और विश्वस्त इतिहास दिया जाय।

(ग) इस यथार्थ और विश्वस्त इतिहास का तैयार करना और उसको रुचिर रूप में अपनी जाति के बच्चों के सामने उपस्थित करना भारतीय विद्वानों और महापुरुषों का कर्त्तव्य है और यह ऐसा कर्त्तव्य है कि जिसकी उपेक्षा करना जातीय स्रोत को चिरकाल के लिये गन्दे और दुर्गन्धयुक्त कीटाणुओं से अपवित्र और सड़ा हुआ रहने देना है।

(घ) यह कर्त्तव्य न हिन्दुओं का है और न मुसलमानों का और न किसी दूसरे धर्म-सम्प्रदायका, वरन प्रत्येक भारतीय का है कि वह अपने देश की सत्य घटनाओं का संग्रह करके प्रकाशित करे।

इतिहास के अर्थ यह नहीं कि उसमें प्राचीन राजाओं की लड़ाइयों का ही वर्णन हो या उनकी प्रशंसा या निन्दा हो। इतिहास से अभिप्राय हमारे ऐसे इतिहास से है जिसमें जाति के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, नागरिक, और राजनीतिक उत्कर्ष तथा अधःपतन की सत्य घटनाओं का उल्लेख हो।

(५) उस काल के सम्बन्ध में ईरानियों, यूनानियों और रोम वालों के लेख;

(६) चीनी यात्रियों के भ्रमण वृत्तान्त।

भारतीय साहित्य से हमें इतिहास संकलन में जो सहायता मिलती है उसके सम्बन्ध में अध्यापक रेप्सन की निम्नलिखित सम्मति विचारणीय है—

"ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में स्वभावतः धार्मिक विषयों पर ही अधिक विचार किया हुआ है, राष्ट्रीय विषयों पर नहीं। उन ग्रन्थों का विषय धार्मिक विचारों का प्रतिपादन तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है। ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करना उनका काम नहीं। इस लिये जहां तक धर्म, तत्वज्ञान, कानून, सामाजिक संस्थाओं और व्याकरण जैसी विद्याओं (जो सूक्ष्म निरीक्षण पर निर्भर हैं)—के विकास के इतिहास का सम्बन्ध है, वहां तक ये ग्रन्थ संसार के प्राचीन साहित्य-भण्डार में अपनी पूर्णता और सुश्रृङ्खलता में अद्वितीय हैं, परन्तु राजनीतिक इतिहास के लिये वे अपर्याप्त हैं"

यह विचार सर्वथा सत्य है कि प्राचीन आर्य साहित्य में चाहे वह ब्राह्मणों का हो, बौद्धों का हो, या जैनों का; अधिक बल सिद्धान्तों के वर्णन पर, तत्वज्ञान के स्पष्टीकरण पर और धर्म की व्याख्याओं पर दिया गया है। राजनीतिक इतिहास को भारतीय वह महत्व न देते थे जो आज कल के यूरोपीय देते हैं। उनकी दृष्टि में राजाओं के नाम, उनका कार्यकलाप या लड़ाई झगड़े इस योग्य न थे कि विद्वान लोग अपना अमूल्य समय और मस्तिष्क उन्हीं के वर्णन में नष्ट

करते। उनकी दृष्टि में इतिहास का सर्वोत्तम उद्देश्य यह था कि लोगों को भिन्न भिन्न कालों के विचारों, रीतियों, नीतियों और नियमों का ज्ञान हो; न कि केवल राजाओं के वृत्तान्तों से पोथे भर दिये जांय। फिर भी हमारे साहित्य में 'इतिहास' की उपेक्षा नहीं की गयी। दुर्भाग्य से भारत का बहुत सा साहित्य नष्ट होगया है। जो ऐतिहासिक साहित्य शेष भी है उस में भी बहुत कुछ प्रक्षेप किया गया है।

ऊपर हमने सिर्फ उन्हीं साधनों का उल्लेख किया है जो हमारी पुस्तक के प्रथम भाग से सम्बन्ध रखने वाले इतिहास के लिये उपयोगी हैं। बाकी साधनों का वर्णन उसी काल के इतिहास के साथ किया जायगा।

पहला अध्याय

भारतभूमि को भिन्न भिन्न लोग अपनी अपनी भाषा में भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। यह स्वयं एक छोटा सा महाद्वीप है। इसके उत्तर में हिमालय की गिरिमाला लगभग १६०० मील लम्बी है। यह पर्वत संसारके सब पहाड़ों से ऊंचा है।

यह देश एक प्रकार से अपने आप में एक छोटासा संसार है। इस में प्रत्येक जाति के मनुष्य, प्रत्येक धर्म्म के अनुयायी प्रत्येक रङ्ग के व्यक्ति और सभ्यता तथा श्रेष्ठता की दृष्टि से भी सब प्रकार के मनुष्य मिलते हैं। इस देश के पहाड़ ऊंचे और लम्बे हैं। उन में बहुतसी बहुमूल्य खानें हैं। इस देश की नदियां लम्बी, चौड़ी और पानी से भरी हुई हैं। उनमें नावें चल सकती हैं। यहां के वन सैकड़ों वर्गमील तक फैले हुए हैं। वे प्रत्येक प्रकार की वनस्पतियों से सज्जित और नाना प्रकार के वृक्षों से परिपूर्ण हैं। उनमें से बहुत से अब कट चुके हैं और वहां की भूमि पर अब खेती होने लगी है।

इस देश में रेतीले मैदान भी हैं जो सैकड़ों मीलों तक फैले हुए हैं। इनमें रेतके टीलों और कतिपय जङ्गली झाड़ियों के सिवा हरियाली का और कोई चिह्न नहीं। वहां पानी भी पृथ्वी-तल से बहुत दूर है।

इस देशके अधिक भागमें खेती होती है। भूमि बहुत उर्वरा है, इसलिये अधिक जोतने और खाद डालने की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रचुरता से विविध प्रकार के शस्य, बीज, फल और फूल इस देश में उत्पन्न होते हैं कदाचित ही संसार के किसी अन्य भाग में उत्पन्न होते हों। यहां के वृक्ष बड़े सुन्दर, छायादायक और फलदार हैं। हमारे देश के बहुत से प्रदेश ऐसे हैं जो अपनी उपज की दृष्टि से उद्यान के नमूने हैं। उनके दृश्य बहुत ही सुन्दर और मनोहर हैं। वहां सब प्रकार की जड़ी बूटी, फल फूल और अन्य अनेक वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। हमारे पर्वतों में बहुतसी घाटियां ऐसी मिलती हैं जो निस्सन्देह स्वर्ग का नमूना हैं, जैसे कि काश्मीर की दृश्यावली, कुल्लूकी घाटियां, और दार्जिलिङ्ग की चोटियां। ये सब इस लोक में अद्वितीय हैं। काश्मीर के विषय में किसी कवि ने सत्य कहा है:

अगर फ़िरदौस बर रूए ज़मीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त॥

अर्थात, यदि भूतलपर कोई स्वर्ग है तो वह यही है, यही है, यही है।

भौगोलिक दशा। इस देश की भौगोलिक दशा का संक्षिप्त वर्णन आगे चलकर किया जायगा। यहां केवल इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि यह देश सारे जगत का शिरमौर है। सुन्दरता, महत्ता, उर्वरता और सम्पत्ति के साधनों की प्रचुरता की दृष्टि से संसार का कोई भी अन्य देश इसकी बराबरी नहीं कर सकता। यह देश इस योग्य है कि यहां के निवासी न केवल इस पर अभिमान करें वरन शुद्धभावसे इसकी पूजा भी करें।

आर्य्यावर्त और भारतवर्ष जैसा कि ऊपर लिख आये हैं, भिन्न भिन्न लोग इस देश को भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। हिन्दू-आर्य्यों की भाषा में इस के दो सर्वप्रिय नाम हैं—

(१) आर्य्यावर्त, और (२) भारतवर्ष।

आर्य्यावर्त इस देश के केवल उस उत्तरीय भाग का नाम था जिसके उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व में ब्रह्मा तथा बंगाल की खाड़ी, और पश्चिम में अफगानिस्तान, बलोचिस्तान तथा अरबसागर का कुछ भाग है। भारतवर्ष उस सारे देश का नाम है जो हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक जाता है, और पश्चिम तथा पूर्व में उपर्युक्त देशों के अतिरिक्त बंगाल की खाड़ी और अरबसागर से घिरा हुआ है।

हिन्दुस्तान मुसलमानों की पुस्तकों में इस देश को हिन्द और हिन्दूस्तान कहा गया है। हिन्दुस्तान शब्द एक समास है जो अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, तुर्किस्तान और ज़ाबालिस्तान के ढंग पर दो शब्दों से मिलकर बना है। और हिन्द यह

पुराना नाम है जो सब विदेशी जातियों ने बहुत प्राचीन काल से इसे दे रखा है। पुरानी रोमन और यूनानी पुस्तकों में इस देश के नाम इण्डो, इण्डीज़ और इण्ड आदि लिखे हैं। 'हिन्द' उन्हीं शब्दों का बिगड़ा हुआ रूप है। बहुत सम्भव है कि इसका यह नाम इण्डस नदी के कारण पड़ गया हो क्योंकि उसको संस्कृत में सिन्धु नदी कहते हैं। इसी व्युत्पत्ति के कारण यूरोपीय भाषाओं में इस देश को इण्डिया कहा गया है।

ईस्ट इण्डिया। चौदहवीं शताब्दी में जब कोलम्बस ने यूरोप से भारतवर्ष का समुद्र-मार्ग ढूंढ निकालने का बीड़ा उठाया और बड़ी लम्बी तथा निराशाजनक यात्रा के पश्चात उसको एटलाण्टिक महासागर में पृथ्वी दिखाई दी तो वह यही समझ बैठा कि वह भूमि भारत की है। फिर जब यह भूल मालूम हुई तो संसार के उस भाग का नाम बदलकर पश्चिमी हिन्द या वेस्ट इण्डीज़ रख दिया गया। इसलिये यूरोपीय लोगों ने हमारे देश का नाम पूर्वीय हिन्द या ईस्ट इण्डीज़ रख दिया। परन्तु ईस्ट इण्डीज़ अब प्रायः जावा और सुमात्रा के द्वीपों को कहते हैं, क्योंकि डच लोगों ने जब सब से पहले यूरोप का व्यापार पूर्व के साथ समुद्री मार्ग से खोला तब उन्होंने भारतवर्ष, लङ्का और भारतीय सागर के सभी द्वीपों को ईस्ट इण्डिया के नाम से पुकारा। कुछ भी हो इस समय हमारे लिये सबसे प्यारा और विश्वव्यापी नाम "हिन्दुस्तान" है।

क्या भारत एक देश है? कुछ लोगों को यह कहने का चसका पड़ गया है कि भारत कोई एक देश नहीं। इसका क्षेत्र-फल बहुत बड़ा होने और इसमें अनेक जातियों के ऐसे मनुष्यों

की बस्ती के कारण, जिनके धर्म भी पृथक पृथक हैं और जिनकी भाषाएं भी अनेक हैं, वे लोग इस देश को एक देश और इसके निवासियों को एक जाति नहीं मानते। इस प्रश्न के दो अंग हैं। एक तो भौगोलिक दृष्टि के अनुसार और दूसरा राजनीति और सभ्यता की दृष्टि से। भौगोलिक दृष्टि से तो प्रायः सभी मान्य लेखकोंने इस सारे देश को एक अभिन्न देश स्वीकार कर लिया है। सारा देश जो पेशावर और कराची से लेकर आसाम की पूर्वीय सीमाओं तक फैला हुआ है, और जो लम्बाई में हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक है, भौगोलिक दृष्टि से एक ही देश मान लिया गया है।

राजनीतिक दृष्टि से भी अधिकतर लोग अब इसी मत के हैं कि राजनीतिक अर्थों में भी इस देश को एक ही समझना चाहिये। भारतके इतिहास में कई एक समय ऐसे पाये जाते हैं कि जब अफगानिस्तान और बलोचिस्तान भी भारत के साम्राज्य में मिले हुए थे। हिन्दुओं के समय में और उसके पश्चात मुसलमानों के समय में भी ये पश्चिमी देश अनेक बार भारत की राजनीतिक अधीनता में आये और इसका अंग गिने गये। अब भी बलोचिस्तान के कुछ भाग ब्रिटिश भारत में सम्मिलित हैं और पूर्व में ब्रह्मा भी ब्रिटिश भारत के ही अन्तर्गत हैं। चिरकाल तक लङ्का द्वीप भी भारत का ही एक भाग गिना जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक अर्थों में सारा भारतवर्ष सदा एक ही राजशक्ति के अधीन नहीं रहा, परन्तु ब्रिटिश शासन से पहले अनेक ऐसे समय हो चुके हैं कि जब वर्तमान ब्रिटिश भारत का अधिकांश नहीं वरन सबका सब

भारत के राज्य में ही गिना जाता था। उदाहरण के तौर पर यहां तीन राजाओं के नाम दिये जाते हैं जिनके शासनकाल में प्रायः सम्पूर्ण 'वर्तमान ब्रिटिश इण्डिया' एक ही राज्य के अधीन था—

(१) महाराज अशोक,

(२) महाराज समुद्रगुप्त, और—

(३) सम्राट अकबर।

श्रेष्ठता और सभ्यता की दृष्टि से भारत को निश्चय ही एक देश स्वीकार करना उचित है। भारत की सभ्यता और संस्कृति की जड़ हिन्दू सभ्यता है जो इसी देश में उत्पन्न हुई और जो यहीं विकसित होकर सारे देश में फैल गयी। सारी हिन्दू सभ्यता की जड़ एक है, इस सिद्धांत को बहुत से यूरोपियनों ने भी मान लिया है। इस हिन्दू-सभ्यता के सम्बन्ध में यह बात निश्चित है कि वह संसार की सारी सभ्यताओं से निराली है और अपने ढंग की एक ही है। इस सभ्यता के मुख्य मुख्य अंग ये हैं:—

(क) गऊ-माता की पूजा।

(ख) ब्राह्मणों का सत्कार और उनकी पूजा।

(ग) वर्णाव्यवस्था अर्थात जाति-पांति का भेद।

(घ) बहुत थोड़े ऐसे हिन्दू हैं जो वेदों को ईश्वरकृत न मानते।

(ङ) हिन्दू संस्कृत भाषा को अपनी पवित्र भाषा समझते हैं।

(च) बहुधा हिंदू विष्णु और शिव आदि बड़े बड़े देवताओं को पूजते हैं।

(छ) हिन्दुओं के तीर्थस्थान देश के उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी दिशाओं में फैले हुए हैं। उत्तर में केदारनाथ और बद्रीनारायण, दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर, पूर्व में जगन्नाथ-जी और पश्चिम में द्वारिका—इन सब तीर्थोंको हिन्दुओं की बहुत बड़ी संख्या पवित्र मानती है।

(ज) बहुधा हिन्दू-रीतियों में उनके पवित्र नगरों का वर्णन होता है। ये नगर भारत की चारों दिशाओं में फैले हुए हैं।

(झ) रामायण और महाभारत हिन्दुओं की उन पूज्य पुस्तकों में से हैं जिनको सारे हिन्दू बड़े प्रेम और मानकी दृष्टि से देखते हैं। इन पुस्तकों के अनेक भाग हिन्दू-जीवन के विशेष और सम्मानित अंग हैं। रामायण के नायक और महाभारत के नायक श्रीकृष्णजी को सभी हिन्दू पूजते हैं। भगवद्गीता महाभारत का एक भाग है और रामलीला लगभग सारे हिन्दू-समाज में मनायी जाती है।* प्रत्येक भारतीय बालक का यह धर्म है कि वह जिस प्रकार प्रकृति के अनेक दृश्यों में परस्पर भेद देखने और सारे देवी देवताओं तथा अनेक सिद्धांतों को मानने पर भी परमात्मा को एक समझता है, ठीक वैसे ही वह सारे भारत को एक ही देश समझे और यहां के निवासियों

* एक बंगाली लेखक, श्रीयुत राधाकुमुद मुकरजीने इस विषय पर "Fundamental Unity of Hinduism" नाम की एक अतीव रोचक पुस्तक लिखी है। वह पढ़ने के योग्य है।

को निज देश बंधु जाने, चाहे उनके जाति, वर्ण, और धर्म कुछ भी हों।

हिन्दुओं के पश्चात सब से बड़ी संख्या इस देशमें मुसलमानोंकी है। हिन्दू सभ्यताने मुसलमान-सभ्यता पर अपना प्रभाव डाला है और इस बातमे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इसलामका भी हिन्दू-सभ्यतापर प्रभाव पड़ा है। इन दोनों संस्कृतियोंकी मिलावटसे इस देश में एक ऐसी संस्कृति उत्पन्न हो गयी है जिसे भारतीय सभ्यता या भारतीय संस्कृति कह सकते हैं। हिन्दुओंके बहुतसे साधु, महात्मा और भक्त ऐसे हुए हैं जिनको मुसलमान सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। मुसलमान फकीरों और भक्तोंमें भी बहुतसे ऐसे हैं जिनको हिन्दू सम्मान और पूजा के योग्य समझते हैं। इसलामकी यह शिक्षा अवश्य है कि मुसलमान अन्य देशोंके मुसलमानों को अपना प्रिय बन्धु समझें: परन्तु इस शिक्षाका यह अर्थ नहीं निकलता कि वे भारतको अपनी जन्म-भूमि और अन्य भारतनिवासियोंको अपना देशबन्धु न समझें।

समय समय पर हमें जो मत भेद और झगड़े दिखाई देते हैं वे कृत्रिम उपायों से तैय्यार किये गये हैं; और कभी न कभी उनका अन्त होना अवश्यम्भावी है*।

---

* अंगरेज इतिहासकार श्री विंसेंट स्मिथने अपनी पुस्तक, 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया' में इस विषयपर यह मत प्रकट किया है—

"India beyond all doubt possesses a deep underlying fundamental unity, far more profound than that produced either by Geographical isolation or by political suzerainty. That unity transcends the

भारत की सीमाएं भारतके चारों ओरकी सीमाओंका वर्णन यद्यपि पहले कर आये हैं पर यहां उसको संक्षेप से फिर लिखते हैं।

भारत के उत्तरमें हिमालय पर्वत है। वह १६०० मील लंबा है। इसके पार तिब्बत देश है। इस उत्तरीय भागमें नेपाल, भूटान और सिक्किम मिले हुए हैं। भारत के पूर्व में ब्रह्मा और बङ्गालकी खाड़ी है। ब्रह्मा इस समय ब्रिटिश भारतका एक अङ्ग है, परन्तु प्राकृतिक रूपसे वह भारतका अङ्ग नहीं है। भारतके पश्चिममें अफगानिस्तान, बलोचिस्तान और अरबसागर है। इसके दक्षिण में लंकाद्वीप और भारतीय सागर हैं इस देशका सागर-तट लगभग चार सहस्र मील लंबा है।

भारत के प्राकृतिक विभाग साधारणतया यह देश उत्तर और दक्षिण दो प्राकृतिक भागोंमें बंटा हुआ है। इन भागोंको हिन्दुओंकी प्राचीन पुस्तकों में उत्तरापथ और दक्षिणापथ लिखा है। उत्तरमें वह भाग है जिसमें सिन्धु, गङ्गा, ब्रह्मपुत्र और उनमें गिरनेवाली उपनदियां और नाले बहते हैं। दक्षिण उस भागको कहते हैं जो नर्मदा और विंध्याचल के दक्षिण में है। महादेव और मेकल पर्वत

innumerable diversities of blood, colour, language, dress manner and sect."

अर्थात, निस्सन्देह भारतवर्ष में एक गहरी मौलिक एकता है। वह उस एकता से बहुत अधिक गहरी है जो भौगोलिक परिस्थिति और राजनीतिक अधीनतासे उत्पन्न होती है। यह एकता जाति, वर्ण, भाषा, पहिनाव, आचार व्यवहार और मत मतान्तरोंसे उत्पन्न होने वाली सब विभिन्नताओं का उल्लंघन कर जाती है।

कई नदियों का तो अब कहीं चिह्न भी नहीं है, जिनमें सब से अधिक प्रसिद्ध नदी सरस्वती है। हिन्दुओंकी रुचि नदियों के किनारे बड़े बड़े नगर बसानेकी ओर बहुत थी। इसलिये आजकल के मानचित्रोंपर उनके पुराने नगरोंका पता लगाना प्रायः असंभव है। भारतके इतिहासमें कितने ही नगर ऐसे मिलेंगे जो अनेक बार उजड़े और अनेक बार बसे। कुछ के नाम अभी तक वही हैं। पर बहुतोंके बदल गये हैं। कई स्थानोंपर खुदाई करके पृथ्वी के भीतर से दो दो मंजिलें ऊंचे घरोंके खंडहर निकाले गये हैं। ऐसे दबे हुए नगर भारत के प्रत्येक भाग में मिलते हैं। अनेक स्थानोंपर ये खंडहर बड़े बड़े टीलोंसे ढके हुए हैं। पटना के समीप भूमिको बहुत गहरा खोदकर प्राचीन पाटलिपुत्र के विशाल राजभवनोंके खंडहर निकाले गये हैं। इसी प्रकार रोहतक और हिसारके जिलों में भी भूमि खोदनेपर कई मकान निकले हैं। देहली और कन्नौज आदि बड़े बड़े नगरों के आस पास की भूमि इस प्रकारके खंडहरोंसे भरी पड़ी है। रावलपिण्डीके समीप हिन्दुओं का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय, तक्षशिला भूमिको खोदकर निकाला गया है। उसके अद्भुत खंडहर, सामग्री, चित्र और मूर्तियां निकाल कर विशेषज्ञों तथा विद्वानों के अध्ययन के लिये प्रदर्शित की जा रही हैं।

भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करके प्रसिद्ध स्थानोंका निश्चय करना अत्यन्त कठिन काम है। इस विषय में जो कुछ अन्वेषण सरकार के पुरातत्व विभागने किया है और उसके परिणाममें जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है वह बहुत मूल्यवान है। यहां यदि संक्षेपमें भी उसका वर्णन किया जाय तो पुस्तक बहुत लंबी चौड़ी हो जायगी, जो ठीक नहीं है। इसलिये श्री०

कनिंगहमके प्राचीन भारतके भूगोल से लेकर केवल कुछ बातें यहां लिखते हैं:—

फनिंगहम ने लिखा है कि भारतीयों को अपने देश के भूगोल का बहुत प्राचीन काल में भी पर्याप्त और ठीक ठीक ज्ञान था।

देशके प्राचीन विभाग

महाभारतमें भारत को चार खण्डों में बांटा गया है। पाराशर और वराहमिहिर ने देश के नौ विभाग किये हैं। अब उन नौ भागों का पता नहीं चलता। परन्तु चीनी पर्यटकोंने भारतको पांच बड़े प्रान्तों में विभक्त किया है। वे पांच प्रान्त ये थे :—

१. उत्तरीय भारत—इसमें सम्पूर्ण पंजाब, काश्मीर तथा अन्य निकटवर्ती पहाड़ी राज्य, सिन्धु नदीके पार सम्पूर्ण पूर्वीय अफगानिस्तान और वे सब देशी राज्य हैं जो सरस्वती नदी के पश्चिम में स्थित हैं।

२. पश्चिमी भारत—अर्थात सिंधु देश, पश्चिमी राजपूताना, थोड़ासा गुजरात तथा कुछ भाग उस प्रदेश का जो नर्मदा नदीके निचले भाग में स्थित है।

३. मध्य भारत—इसमें वह सम्पूर्ण प्रदेश मिला हुआ था जो गङ्गा नदीके किनारों पर स्थित है, अर्थात थानेश्वरसे लेकर त्रिकोण द्वीप (डेल्टा) के मुहानेतक और हिमालय पर्वत से लेकर नर्मदातक।

४. पूर्वीय भारत—अर्थात आसाम, बङ्गाल, गङ्गा के त्रिकोण द्वीपकी भूमि, सम्भलपुर उड़ीसा और गंजाम।

५. दक्षिणी भारत—अर्थात् सम्पूर्ण दक्षिण, पश्चिम में नासिक तक पूर्व में गंजाम तक, दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक। इसमें वर्तमान बरार, तैलङ्ग, महाराष्ट्र, कोंकण, हैदराबाद, मैसूर और ट्रावनकोर मिले हुए थे, अर्थात् वह सम्पूर्ण प्रदेश जो नर्मदा और महानदी के दक्षिण में स्थित है।

नगरों और नदियों के प्राचीन और वर्तमान नाम और स्थान

पंजाब की नदियों के प्राचीन नाम ये हैं—

जेहलम—वितस्ता।
चनाव—चन्द्रभागा या असिक्नि।
रावी—ईरावती या परुष्णी
व्यास—विपाशा
सतलुज—शतद्रु।

नीचे उन कतिपय बड़े बड़े नगरों के नाम और स्थान लिखे जाते हैं, जिनका उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है—

तक्षशिला—सुआन नदी के समीप हसनअवदाल और जेहलम के बीच में था। बहुत सम्भव है कि इस नगर का वही महत्व था जो इस समय रावलपिण्डी का है।

सिंहापुर या सिंघापुर—जेहलम ज़िले के अन्तर्गत कटास के झरने के समीप था।

मतिपुर—पश्चिमी रुहेलखण्ड।
ब्रह्मपुर—गढ़वाल और कुमाऊं।
कौशाम्बी—यमुना नदी के तट पर प्रयाग से ऊपर स्थित है।

प्रयाग—वर्तमान इलाहाबाद।
वाराणसी या बनारस।
वैशाली–गङ्गा नदी के उत्तर में तिर्हुत प्रान्त।
सरस्वती—वैदिक काल में उस नदी का नाम था जो थानेश्वर के नीचे बहती थी।
पाटलिपुत्र—वर्तमान पटने के समीप।
राजगृह—पाटलिपुत्र और गया के बीच एक नगर।
नालन्द—पाटलिपुत्र और गया के बीच में एक प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय।
श्रावस्ती—अयोध्या के उत्तर में राप्ती नदी के तट पर था।

दूसरा खंड

ऐतिहासिक काल से पहले का इतिहास

पूर्व-कथन

अपनी प्रस्तावना के अन्त में हम लिख आये हैं कि हमने भारतीय इतिहास के काल की दृष्टि से जो चार विभाग किये हैं- इस पुस्तक में हम उन में से दो भागों पर विचार करेंगे-६०० या ७०० ईसा पूर्व से पहले का इतिहास तथा उसके पीछे सातवीं सदी के अन्त तक का इतिहास। इस खण्ड में हम पहले विभाग पर विचार करेंगे।

हम पहले कह आये हैं कि इस काल के सम्बन्ध में अभी हमें पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं हुई, जिससे इस काल का क्रमिक इतिहास लिखा जा सके। हम यह भी कह आये हैं कि इस काल का जो साहित्य उपलब्ध होता है उस का विषय भी अधिकतर धर्म तथा तत्वज्ञान सम्बन्धी बातों का विवेचन करना है। इसलिये उसके आधार पर भी हम पूरा पूरा राजनीतिक इतिहास नहीं लिख सकते। इस में भिन्न भिन्न पुस्तकों के निर्माणकाल तथा पूर्वापर काल निर्णय के सम्बन्ध में भी बहुत विवाद है। इस पुस्तक में सर्वसाधारण पाठकों को उस विवाद में डालना उचित न होगा। इसलिये हम उनके संबन्ध में केवल मुख्य मुख्य बातों का वर्णन करेंगे तथा इन धर्म-पुस्तकों के आधार पर हमें उनके निर्माण काल की सामाजिक, धार्मिक

व थोड़ी बहुत राजनीतिक अवस्था का जैसा चित्र मिलता है उसी का यहां संक्षेप से वर्णन करेंगे।

इसलिये इस खण्ड को हम ने पांच अध्यायों में विभक्त किया है।

(१) वैदिक आर्यों के समय से पहले भारत की दशा।

(२) वैदिक साहित्य, जिसमें चार वेद संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, तथा उपनिषदें सम्मिलित हैं, उसके अनुसार भारत की अवस्था।

(३) सूत्र और स्मृति साहित्य।

(४) महाकाव्य अर्थात रामायण तथा महाभारत।

(५) पुरातत्व विभाग की नई खोजें, मोहन-जो-दारो और हरप्पा आदि स्थानों पर हुई हैं, जिन से ३००० वर्ष ईसा-पूर्व की भारतीय सभ्यता पर नया प्रकाश पड़ा है।

———

दूसरा अध्याय

आर्य्यों के समय से पहले भारत की दशा

यूरोप के वैज्ञानिकों का यह मत है कि मनुष्य अपने विकास की अनेक अवस्थाओं में से होकर वर्तमान अवस्था को पहुंचा है। वह पहले पशु था और उन्नति करते करते अब उसने मनुष्य का आकार पाया है। यद्यपि इन विचारों का आधार बहुत कुछ कल्पना पर है तो भी वे बड़े मनोरञ्जक हैं, और इन मोटे मोटे सिद्धान्तों को संसार के बहुत से विद्वान और दार्शनिक मानते हैं।

पृथ्वीमण्डल की बनावट और उस पर प्राणियों का निवास आरम्भ होना एक बहुत ही रोचक विषय है, पर इस इतिहास का उससे बहुत सम्बन्ध नहीं है। केवल मुख्य मुख्य बातें यहां लिखी जाती हैं।

कुछ वैज्ञानिकों का यह मत है कि इस पृथ्वी की आयु दस करोड़ वर्ष से लेकर एक अरब साठ करोड़ वर्ष तक की है। कहने का प्रयोजन यह है कि भिन्न भिन्न विद्वानों ने इसकी आयु का पृथक पृथक अनुमान किया है। सब से पहला यह समय

बताया जाता है, जब बहुत सम्भव है कि पृथ्वी पर कोई भी जीव विद्यमान नहीं था। दूसरा समय जो पहले समय से करोड़ों वर्ष पीछे आया वह समय था जब इस पर केवल छोटी मछलियां (Jelly fish) आदि ऐसे जीव थे जिनकी बनावट बहुत सादी थी। इसके पश्चात वह समय आता है जब समुद्री कछुओं आदि की सृष्टि हुई। फिर और अधिक अच्छी बनावट की मछलियां तथा वन आदि प्रकट हुए। इसके पीछे का समय रेंगने वाले जीवों का समय कहा जाता है। अन्तिम समय वह है जब पृथ्वी पर घास और जङ्गल उत्पन्न हुए और पशुओं में दूध पिलाने वाले जीव दिखायी पड़े (मनुष्य भी एक दूध पिलाने वाला जीव है) उसी के साथ ही मनुष्य की भी उत्पत्ति हुई। इस समय के तीन भाग किये जाते हैं;

प्रथम—वह भाग जिसको प्राचीन "शिला-काल" कहते हैं या यों कहिये कि जिस समय में मनुष्य साधारण मोटे मोटे पत्थर के औज़ारों से काम लेता था। मनुष्य-जीवन का यह काल ईसा के समय से छः लाख वर्ष पहिले का काल गिना जाता है। इस समय में कई बार बर्फ के तूफान आये। वर्तमान आकार की पृथ्वी को बने हुए लगभग पचास सहस्र वर्ष हुए।

दूसरा समय वह है जिसमें पत्थर के अच्छे औज़ारों का विकास हुआ।

तीसरा समय वह है जब मनुष्य ने धातुओं का उपयोग आरम्भ किया।

ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन "शिलाकाल" में मनुष्यों की कबरें बनायी जाती थीं। उस समय के मनुष्यों के कुछ चिन्ह

दक्षिणी भारत में पाये जाते हैं। दूसरे काल के चिन्ह अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। ऐसा कहते हैं कि इस काल के लोगों को स्वर्ण के अतिरिक्त अन्य किसी धातु के अस्तित्व का ज्ञान न था। वे मिट्टी के बरतन बनाते थे और गऊ, भैंस, बकरी इत्यादि पालतू पशु रखते थे। ये लोग खेती बारी करते थे। वे अपने मुर्दों को धरती में गाड़ते और उनकी कबरें बनाते थे। पर उस समय की कबरें भी अब भारत में विरले ही मिलती हैं। अधिकांश कबरें मद्रास प्रान्त के तिनावली जिले में मिली हैं। ये लोग मृतक शरीर को एक मर्तबान में बंद करके गाड़ते थे। भारत में मृतक शरीर के दाह की रीति, बहुत सम्भव है कि आर्यों ने सब से पहले चलायी।

इसके पश्चात उस समय का आरम्भ होता है जिसे लोह-काल कहते हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि लोह-काल से पूर्व औज़ार, तलवारें, कुल्हाड़ियां और भाले तांबे के बनाये जाते थे। इस प्रकार के शस्त्र मध्य प्रान्त, छोटा नागपुर, तथा कानपुर जिले के निकट मिले हैं। कुछ पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद के समय में तांबे के औजारों का ही उपयोग होता था। और उस समय के आर्यों को लोहे का ज्ञान न था। परन्तु ऋग्वेद और अथर्ववेद में ऐसे आन्तरिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे उस समय लोहे का उपयोग सिद्ध होता है *। यूरोपीय अन्वेषक, जो वेदों के समय

* देखो ऋग्वेद १, ५७, ३; १, ६१, ३१; ४, २, १७; ६, ३, ५—इन सब मन्त्रों में "अयस्" शब्द आता है, जो लोहे का वाचक है। अध्यापक मैकडानल ने "वैदिक इंडैक्स" में इस शब्द का

को केवल कल्पना द्वारा बहुत संक्षेप से वर्णन करते हैं, भारतवर्ष में लोह-काल का समय भी ठीक ठीक निरूपित नहीं कर सकते।

ऊपर जो बातें लिखी गयी हैं उन का अधिकांश आधार कल्पना पर ही है। परन्तु ऐसा मानने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं कि मनुष्य लगभग आदि काल से भारत के दक्षिणी भाग में विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में जब उत्तरीय भारत में पानी ही पानी था तब अधिक बस्ती दक्षिण में ही थी। परन्तु उसके बहुत समय पीछे तक भी जब उत्तरीय भारत में समुद्र के स्थान पर पृथ्वी बन गई, दक्षिण और उत्तर में परस्पर सम्बन्ध बहुत थोड़ा रहा।

जैसा कि पहले लिख आये हैं उत्तर की बस्ती अधिकांश आर्य्य जाति से है यद्यपि इसमें अन्य जातियों का रक्त भी कुछ मिल गया है। दक्षिणी भारत में कहा जाता है कि अनार्य्य जाति की बस्ती है और वहां के लोग प्राचीन समय के आदिम मनुष्यों के उत्तराधिकारी हैं। यह कहना तो बहुत कठिन है कि यह बात कहां तक सत्य है परन्तु यह तो स्पष्ट है कि जब तक आर्यों की सभ्यता का प्रवेश भारतवर्ष में नहीं हुआ था उस समय तक यहां की सभ्यता दक्षिणी ही थी।

अर्थ तांबा किया है—परन्तु संस्कृत के किसी लौकिक या वैदिक कोष में इसका अर्थ तांबा नहीं किया। मैकडानल ने जो युक्तियां अपने पक्ष में दी हैं वे लोहे के पक्ष में भी लग सकती हैं।

तीसरा अध्याय

वैदिक साहित्य

आर्य जाति के प्राचीनतम इतिहास का थोड़ा बहुत ज्ञान हमें वैदिक साहित्य द्वारा ही होता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत मोटे तौर से चार वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, और उपनिषदें आदि हैं।

हिन्दू-आर्य्य जातिकी सबसे प्राचीन पुस्तकें वेद हैं। इनको हिन्दू पवित्र और भगवद्वाणी मानते हैं। हिन्दू आर्य्यों का यह दावा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। जिस प्रकार परमेश्वर नित्य और सनातन है, ठीक उसी प्रकार उसका यह ज्ञान भी नित्य और सनातन अर्थात अनादि काल से है। सृष्टि के आदि में मुक्त आत्माओं द्वारा उस ज्ञान का प्रकाश होता है। उनके अनुसार वर्तमान सृष्टि १,९५,५८,८५,००० वर्षों से है।

यूरोपीय लोग इस कथन को स्वीकार नहीं करते और अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों से वैदिक कालका निश्चय करते हैं। वे लोग ऋग्वेद को प्राचीनतम ग्रन्थ मानते हैं; और उसको ईसा के जन्म से ढाई या तीन सहस्र वर्ष पूर्व का निरूपित करते हैं। उनका मत है कि वेदोंके अनेक अङ्ग भिन्न भिन्न समयों में रचे

और लिखे गये हैं। तथापि यह तो सब स्वीकार करते हैं कि आर्य्य सन्तान के साहित्य-भण्डार में ऋग्वेद सब से अधिक प्राचीन पुस्तक है।

वेद गिनती में चार हैं, अर्थात ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ये प्राचीन समय की संस्कृत में हैं, जो कि आधुनिक संस्कृत से बहुत कुछ भिन्न है। संस्कृत भाषा में परिवर्तन होते रहे हैं और इसलिये कुछ संस्कृत शब्दों के अर्थ भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न रहे। सब विद्वानों का यह मत है कि केवल वर्तमान संस्कृत भाषा पढ़ लेने से वेदों का ठीक अर्थ समझ में नहीं आ सकता। हिन्दुओं का यह दावा है कि वैदिक संस्कृत के सब शब्द सार्थक हैं। जिस काल में भारत में वैदिक संस्कृत बोल-चाल की भाषा थी उसको वैदिक काल और उस समय के प्रचलित धर्म को वैदिक-धर्म कहते हैं। वेद अधिकांश पद्य में हैं और इनके पदों को मंत्र कहते हैं। इन मन्त्रों के समूह को संहिता कहा जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

बड़े खेद की बात है कि वेदों का कोई प्राचीन भाष्य विद्यमान नहीं। लोगों का विचार है कि वे भाष्य राजनीतिक परिवर्तनों में शायद लोप हो गये। इस अनुमान का कारण यह है कि संस्कृत पुस्तकों में कहीं कहीं ऐसी पुस्तकों का उल्लेख है जो अब नहीं मिलतीं। फिर भी जिन पुस्तकों की सहायता से वेद के अर्थ किये जाते हैं उनका संक्षेप से यहां वर्णन करते हैं। वेदों के पश्चात जो सबसे प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ पाये जाते हैं उनको ब्राह्मण-ग्रन्थ कहते हैं। उनमें कुछ वेद-मंत्रों का भाष्य भी किया गया है।

प्रत्येक वेद-संहिता के पृथक पृथक ब्राह्मण हैं। प्रसिद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ ये हैं:—

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं, एक ऐतरेय और दूसरा कौशिकीय। यजुर्वेदके भी दो ब्राह्मण हैं, एक शतपथ और दूसरा तैत्तिरीय । सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्ड्य, षड्विंश और छान्दोग्य।

इन ग्रन्थों में कुछ वेद-मन्त्रों के उपयोग के अवसर लिखे हैं। यज्ञ करने की रीतिपर बहुत वादविवाद है। इसके अतिरिक्त धार्मिक और नैतिक शिक्षा भी इन में दी गई है जिस में कहीं कहीं पर बड़े गूढ़ सिद्धान्तों का वर्णन है।

उपनिषद

ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में जो पुस्तकें प्रामाणिक मानी जाती हैं उन में दस प्रसिद्ध उपनिषद हैं। उनके नाम ये हैं :—केन, प्रश्न, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ईश (या वाचस्पति) ऐतरेय, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक *।

उपनिषद् शब्द का अर्थ है "रहस्य", मानो इन पुस्तकों में उस विद्याकी शिक्षा है जिसको ज्ञानी लोग गुप्तविद्या अर्थात ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं।

शाहजहाँ बादशाह के पुत्र दाराशकोह ने इन ग्रन्थों का फारसी भाषा में अनुवाद कराया और उनको ब्रह्मज्ञान के ग्रन्थों में सर्वोत्तम पदवी दी।

* कुछ विद्वानों के मत से ग्यारह उपनिषद मान्य हैं। देखो अध्यापक मेक्समुलर कृत उपनिषदों का अनुवाद।

उपनिषदों के अनुवाद लातीनी, जर्मन और अङ्गरेज़ी भाषाओं में भी मौजूद हैं। यूरोप के कुछ विद्वानों और दार्शनिकों ने उनको बहुत उच्च कोटि की पुस्तकें माना है *।

वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदोंकी भाषा

वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों की भाषा में बहुत अन्तर है। इस से यह प्रत्यक्ष है कि ये ग्रन्थ भिन्न भिन्न कालों में लिखे गये। उन कालों में भी परस्पर बड़ा अन्तर है। फिर भी इन ग्रन्थों की भाषा और उनसे पीछे के संस्कृत साहित्य की भाषा में इतना भारी अन्तर है कि सभी विद्वान इन पुस्तकों को अति प्राचीन मानते हैं।

वेद के स्वाध्याय के लिये निम्नलिखित विषयों का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी तथा सहायक समझा जाता था।

उपवेद—१ धनुर्वेद—युद्ध विद्या।
२ गान्धर्व वेद—संगीत विद्या।
३ अर्थ वेद—शिल्प, वाणिज्य राजनीतिशास्त्र आदि
४ आयुर्वेद—चिकित्सा शास्त्र

* जर्मनी का आधुनिक समय का प्रसिद्ध दार्शनिक "शोपनहार" लिखता है कि उपनिषदों के द्वारा मुझे अपने जीवन में शान्ति प्राप्त हुई और मेरे अन्तकाल में भी मुझे उन्हीं से शान्ति मिलेगी। उसकी सम्मति में संसार की कोई पुस्तक उनके समान महत्वपूर्ण और उनके जैसे उच्च विचारों से सम्पन्न नहीं है। अध्यापक मेक्समुलर ने वेदान्त पर अपने व्याख्यानों में कहा है कि यदि शोपनहार के इस कथन के समर्थन की आवश्यकता हो तो मैं सहर्ष समर्थन करता हूं।

ये चार उपवेद कहे जाते हैं। इन विषयों पर प्राचीन समयों में बहुत सी पुस्तकें रहीं होंगी; परन्तु इस समय इन विषयों पर इतनी प्राचीन कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं होती कि उसे वैदिक साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सके।

वेदांग—वेदों के अर्थों से पूरी तरह परिचित होने के लिये निम्नलिखित छः विद्याओं का जानना भी आवश्यक है। इन छः विद्याओं को वेदांग कहा जाता है।

१ शिक्षा, २ व्याकरण, ३ छन्द, ४ निरुक्त, ५ ज्योतिष, ६ कल्प।

इन छः अंगों पर भी अत्यन्त प्राचीन समय में कई पुस्तकें होंगी जो उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि 'उपवेद' या 'वेदांग' कहने से किसी खास पुस्तक से अभिप्राय नहीं किन्तु उस विषय से अभिप्राय है।

शिक्षा अर्थात वर्णोच्चारण शिक्षा तथा व्याकरण जिसे अंग्रेज़ी में "ग्रामर" कहते हैं आपस में बहुत सम्बद्ध हैं। इन विषयों पर इस समय सब से प्रामाणिक और प्रसिद्ध पाणिनी मुनि के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु पाणिनीय अष्टाध्यायी को देखने से भी पता लगता है कि उससे पहले और कई ग्रन्थ इस विषय पर थे।

छन्दशास्त्र पर इस समय प्रामाणिक और प्राचीन पिंगल सूत्र तथा निरुक्त पर यास्ककृत निरुक्त उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन से पहले इस विषय पर भी और कई पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं। हिन्दू पंडित समाज में निरुक्त का बड़ा आदर है परन्तु निरुक्त के पढ़ने से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि जिस समय

निरुक्त लिखा गया उस समय वेदार्थ के विषय में बहुत मत-भेद उत्पन्न होगये थे।

ज्योतिष विद्या हिन्दू-आर्य लोगों में बहुत प्राचीन काल से पायी जाती है। जब तक यह सिद्ध न हो कि इन से पहले और किसी जाति को भी यह विद्या ज्ञात थी यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दू आर्य्य ज्योतिष विद्या के आविष्कारक थे और बाद को उन्होंने इस विद्या को उन्नति की चरम सीमा तक पहुंचा दिया था।

कल्प शब्द से श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र और धर्म-सूत्र लिये जाते हैं। ये सूत्र-ग्रन्थ अवश्य ही वैदिक साहित्य के युग से पीछे की रचनायें हैं। श्रौत-सूत्रों में वैदिक विधियों की व्याख्यायें तथा आलोचनायें, गृह्यसूत्रों में वैदिक संस्कार आदि संबन्धी बातें, तथा धर्मसूत्रों में व्यवहार कानून आदि संबन्धी विषय पाये जाते हैं। सूत्र-ग्रन्थों के संबन्ध में अधिक हम आगे चल कर लिखेंगे।

श्रुति शब्द का प्रयोग वेदों के लिये होता है और किसी २ स्थान पर वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों के लिये भी। स्मृति से तात्पर्य्य धर्म्म-शास्त्र की पुस्तकों से है। बहुत सी स्मृतियों की रचना सूत्रों में की गयी है। 'सूत्र' ऐसे वाक्य को कहते हैं जिसमें बहुत से विषय को बहुत ही थोड़े शब्दों में भर दिया गया हो। सूत्रकारों ने एक भी फालतू या अनावश्यक शब्द का प्रयोग नहीं किया। सारे मतलब को ठीक तौर पर प्रकट करने के लिये ऐसी ग्रन्थि में बांधा है कि एक शब्द को घटा-बढ़ा देने से अर्थों में अन्तर पड़ जाता है। आर्य लोगों का मानसिक भण्डार प्रायः सूत्रों के रूप में है। सारा धर्म्म-शास्त्र, अर्थात

हिन्दुओं की सारी कानूनी पुस्तकें, उनका व्याकरण, उनका तत्त्वज्ञान, उनका तर्कशास्त्र, उनकी गणित विद्या, उनका वैद्यक, उनका पदार्थ-विज्ञान, और उनकी ब्रह्मविद्या सबके सब सूत्रों में वर्णित हैं; और ये सूत्र ऐसी चतुराई से बनाये गये हैं कि संसार में उनकी कोई उपमा नहीं। यद्यपि इनका अपना आकार संक्षिप्त से संक्षिप्त है परन्तु इनकी व्याख्या में बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गये और लिखे जा रहे हैं। इन सूत्रों का विशेष वर्णन हम 'सूत्र-साहित्य' शीर्षक के नीचे करेंगे।

वैदिक अभिधान या कोश

वैदिक अभिधान भी आजकल की संस्कृत के शब्द-कोश से भिन्न हैं। इस विषय के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ निघण्टु और उणादि कोश हैं।

चौथा अध्याय

वैदिक धर्म

वैदिक काल में आर्य्य लोगों का धर्म वही था जिसका उपदेश वेद करते हैं और जिसकी व्याख्या ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में की गयी है। इन पुस्तकों में वे अनुष्ठान भी दिये गये हैं जो वैदिक काल में आर्य्य हिन्दू लोगों में प्रचलित थे।

वेद अपौरुषेय हैं

वैदिक धर्म्म के विषय में स्वयं हिन्दुओं और फिर हिन्दू और यूरोपीय पण्डितों में बहुत मतभेद है। हिन्दुओं के कई सम्प्रदाय, उनमें आर्यसमाज सबसे अधिक प्रसिद्ध है, यह मानते हैं कि केवल चार वेद संहिताएं ही ईश्वरकृत हैं; ब्राह्मण, उपनिषद, इतिहास और पुराण उनकी व्याख्या हैं। बहुत से सनातनधर्मी यह मानते हैं कि ये सभी पुस्तकें ईश्वरकृत हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दू विद्वानों में इस विषय में भी मत-भेद है कि वेद का केवल ज्ञान ही ईश्वरीय है या उसके शब्द भी। कई ऋषि, जिनमें महर्षि [illegible] पतञ्जलि भी एक हैं केवल ज्ञान को ईश्वरीय मानते हैं। [illegible] रूप में [illegible] बहुत से ऋषि ऐसे हैं जो शब्द और [illegible] दोनों [illegible] रीय स्वीकार करते हैं। [illegible]

यास्क मुनि ने कई ऐसे सम्प्रदायों के नाम लिखे हैं जो वद के विषय में भिन्न भिन्न सम्मतियां रखते थे। उन में से एक "वेद-मन्त्रों को निरर्थक" तथा एक "वेदों में इतिहास" मानने वाला सम्प्रदाय भी था।

वेदों का धर्म एक ईश्वर की पूजा है या तत्वों की पूजा?

आर्य-समाजियों का दावा है कि वेदों में एक ईश्वर की पूजा के सिवा और किसी की पूजा नहीं है। वेद में जिन नाना देवी देवताओं का उल्लेख है वे भी सब परमात्मा ही के नाम हैं। यहां तक कि वेदों में भी इस बात की भीतरी साक्षी विद्यमान है कि अग्नि, इन्द्र, वरुण और मित्र आदि जो देवता पूज्य और आराध्य बतलाये गये हैं वे सब एक ही परमेश्वर के नाम हैं। सनातनधर्मी पण्डित यह तो स्वीकार करते हैं कि वेदों में एक ईश्वर की पूजा है, परन्तु वे यह भी मानते हैं कि ये नाना देवी देवता ईश्वर के भिन्न भिन्न गुण हैं, और इनका अलग अस्तित्व भी है। वेदों में कोई विवाद नहीं। इनमें या तो प्रार्थनाएं हैं या विधियां हैं। परन्तु कुछ भी हो प्रायः सभी विद्वान क्या सनातनधर्मी, क्या आर्यसमाजी और क्या यूरोपीय, इस बात में एकमत है कि वेदों में मूर्तिपूजा नहीं है, और न मूर्ति का और न मन्दिरों का उल्लेख है।

वैदिक धर्म की सरलता और उच्चता

वेदों की भाषा अतीव गहन है। उसका समझना बहुत कठिन है। तो भी कुछ मन्त्र सरल और स्पष्ट हैं और उनके विषय बहुत ही उच्च हैं। मेरी सम्मति में संसार की शायद ही कोई दूसरी पुस्तक ऐसी हो जिसमें इस

प्रकार के उच्च विषयों का ऐसी सरलता-पूर्वक वर्णन किया गया हो। वैदिक धर्म्म उन लोगों का धर्म्म था जो अपनी प्रकृति की सरलता और सचाई से अपने हृदय के गम्भीर भावों को अत्यन्त सादे और स्पष्ट शब्दों में प्रकाश करते थे, और जिन्होंने हृदय की पवित्रता और भावों की उच्चता में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त किया था। अतएव चाहे ये पुस्तकें अपौरुषेय मानी जायं या पौरुषेय, इनके विषय ऐसे हैं जिनसे भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह किसी भी मत या सम्प्रदायका हो, कुछ न कुछ परिचय अवश्य होना चाहिये। कई मन्त्र तो अपनी सुन्दरता, अपनी कवितामय रचना, और अपने उच्च भावों की दृष्टिसे संसार में अनुपम हैं। उदाहरणार्थ आगे दिये मन्त्र निर्भयता सिखलाते हैं :—

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवामे प्राणमा बिभेः ॥ १ ॥ यथाहश्च रात्री च न बिभीतो० ॥ २ ॥ यथा सूर्य्यश्च चन्द्रश्च० ॥३॥ यथा ब्रह्म च क्षत्रं च० ॥ ४ ॥ यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः एवामे प्राणमाबिभेः ॥ ५ ॥

(अथर्ववेद, काण्ड २, सूक्त १५, मन्त्र १—५)

अर्थ—१-जैसे द्यौ और पृथिवी निर्भय हैं और कभी नुकसान नहीं उठाते वैसे ही मेरी आत्मा अभय रहे।

२-जैसे दिन और रात निर्भय हैं और कभी नुकसान नहीं उठाते वैसे ही मेरी आत्मा अभय रहे।

३-जैसे सूर्य और चन्द्र अभय हैं और कभी नुकसान नहीं उठाते वैसे ही मेरी आत्मा अभय रहे।

४-जैसे ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व अभय हैं और कभी नुकसान नहीं उठाते वैसे ही मेरी आत्मा अभय रहे।
५-जैसे भूत और भविष्यत अभय हैं और कभी नुकसान नहीं उठाते वैसे ही मेरी आत्मा अभय रहे।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।
(अथर्व० कां० १९ सू० १५, मं० ६ ।)

अर्थ—हमें मित्रसे भय न हो, हमें शत्रुसे भी भय न हो। जो कुछ हमें ज्ञात है उससे हमें भय न हो और जो कुछ हमें ज्ञात नहीं है उससे भी हमें भय न हो। न हमें दिनमें भय हो और न रात में। सब ओर से हम अभय रहें।

आगे दो तीन मन्त्र स्वतन्त्रता की प्रशंसा में दिये जाते हैं:—

आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे। ऋग्वेद, कां० १०, सू० १००, मन्त्र १।

अर्थ—हम स्वतन्त्रता और परमानन्द चाहते हैं।

आदित्यासो अदितयः स्याम पूर्देवत्रावसवोमर्त्यत्रा। सनेममित्रावरुणा सनन्तो भवेमद्यावापृथिवी भवन्तः ॥

ऋ० ७ । ५२ । १

अर्थ—हे देवताओं और मनुष्योंमें शक्ति के केन्द्र ! हम प्रत्येक प्रकार की दासता से बचे रहें। हे जीतनेवाले ! हम मित्रों के मित्र को जीतें और हे सर्वशक्तिमान सत्ता ! हम धन, शक्ति और यश से जीवित रहें।

नू मित्रो वरुणो अर्यमानस्मेवतोकाय वरिवो दधन्तु ।
सुगानो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयंपात स्वस्तिभिः सदानः ॥

ऋ० ७ । ६२ । ६

अर्थ—मित्र, वरुण और अर्यमन हमें अपने और अपने बच्चों के लिये स्वतन्त्रता और स्थान दे। हमारी यात्रा के लिये सब मार्ग साफ और शुभ हों। हे स्वामिन्! हमें सदा आशीर्वाद के साथ सुरक्षित रख।

बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥

अथर्व २० । १७ । ११ ॥

अर्थ—बृहस्पति हमको पीछे से, ऊपर से, नीचे से, दुष्कर्मों से सुरक्षित रखे। इन्द्र हमको जगह और स्वतन्त्रता प्रदान करे, जैसा कि मित्रों का मित्र आगे से और मध्य से प्रदान करता है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२९ वां सूक्त सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में उच्चकोटि के तत्त्वज्ञान से भरा हुआ है। उदाहरणार्थ दो मन्त्र नीचे दिये जाते हैं:—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

अर्थ—१ उस समय न असत् (जगत) था, न सत् (प्रकृति),

न पृथिवी थी न आकाश। कोई वस्तु इनको आच्छादित करनेवाली भी न थी। क्या और किसके लिये कुछ होता? यह गहरा समुद्र भी उस समय कहां था?

२ यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है वही एक इसे धारण करनेवाला है। जो इस विस्तृत आकाश में व्यापक और इसे धारण करता है वही इसके विषय में जान सकता है।

एक और मन्त्र भी यहां दिया जाता है। इसमें सर्व सृष्टि को मित्र की दृष्टि से देखने का उपदेश है:—

दृते दृ९ंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष-न्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजुर्वेद ३६। १८॥

अर्थ—मेरे टूटे फूटे काम में मुझे दृढ़ करो। सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। सब एक दूसरे को मित्र-दृष्टि से देखें।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्। देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

अर्थ—तुम्हारी चाल एक हो, बात एक हो, हृदय के भाव एक हों। प्राचीन काल से जिस प्रकार देवता लोग एक भाव से अपने अपने यज्ञ के भाग को लेते हैं उसी प्रकार तु. भी धन को बांटो।

समानोमन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषां। समानंमंत्रमभिमंत्रयेवः समानं वो हविषा जुहोमि॥

अर्थ—तुम्हारी सलाहें एक हों, तुम्हारी सभा का एक मत हो, तुम्हारे विचार और विश्वास एक ही हों। तुम्हारे भीतर में एकता का मन्त्र फूंकता हूं। एक ही आहुति से मैं तुम्हारे लिये यज्ञ करूं।

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

अर्थ—तुम्हारे संकल्प एक हों। तुम्हारे हृदय ऐसे एक हों कि तुममें पूर्णरूप से एकता स्थापित रहे।

इस प्रकार के बहुत से मन्त्र दिये जा सकते हैं, परन्तु इनसे पुस्तक का आकार अनुचित रूप से बढ़ जायगा।

ब्राह्मण ग्रंथोंका धर्म

ब्राह्मण-ग्रन्थ प्रायः अनुष्ठानों के नियमों का समुच्चय हैं। आर्यों का सब से बड़ा अनुष्ठान यज्ञ करना था। हवन यज्ञ का आवश्यक अङ्ग था। ये यज्ञ व्यक्तिगत, सामूहिक, और जातीय पवित्रता के लिये किये जाते थे। हवन में सुगन्धित पदार्थ जलाये जाते थे। यज्ञ शब्द के अर्थों में धर्म्म का प्रत्येक ऐसा कृत्य आ जाता है जिसमें त्याग का भाव काम करता हो और जिससे दूसरे का कुछ हित-साधन होता हो। ये यज्ञ कई प्रकार के हैं। इन ब्राह्मण ग्रंथों में इन यज्ञों की रीति और उस समयके रीति रिवाजों का वर्णन है। परन्तु उनका वह भाग जिसको आरण्यक कहते हैं, अर्थात जो वनों में तैयार हुआ, तत्वज्ञान के गहन विचारों से पूर्ण है।

उपनिषदों की शिक्षा

उपनिषदों की शिक्षा बहुत ही गहन, गम्भीर और सूक्ष्म है। उनके विचार बहुत ही श्रेष्ठ और उच्च कोटिके हैं। उनमें जीवन और मृत्यु के सभी प्रश्नों की अतीव विद्वत्तापूर्ण और दार्शनिक व्याख्या की गयी है। संसार के साहित्य में ये पुस्तकें अद्वितीय हैं। भूमण्डल के सभी धर्मों के विद्वानों ने उनकी प्रतिष्ठा की है। हिन्दुओं के वेदान्त के आधार उपनिषद हैं। उपनिषदों के विषय ऐसे सरल और काव्यमय नहीं हैं जैसे कि वेदों के हैं। उनमें प्रायः वे कथनोपकथन और विवाद हैं जो तत्कालीन धार्मिक नेताओं, ऋषियों और वानप्रस्थों के और उनके शिष्यों के बीच हुए। परन्तु उन विवादों में कटुता और मनोमालिन्य का कहीं नाम निशान नहीं। धार्मिक दृष्टि से सभी गहन और कठिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है और उत्पत्ति, जीवन और मृत्यु के सभी रहस्यों पर विचार किया गया है। उपनिषदों में निस्सन्देह उच्च कोटिके एकीश्वरवाद की शिक्षा है। इस बात पर विद्वानों का मतभेद है कि उपनिषद द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं या अद्वैतवाद का; हमारी सम्मति में उनमें दोनों प्रकार की शिक्षा मौजूद है। उपनिषदों का उद्देश्य मतमतान्तरों का कायम करना नहीं वरन केवल तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विचारों को प्रकट करना था।

पांचवां अध्याय

वैदिक काल की सभ्यता ।

वैदिक काल की सभ्यता का चित्र अधिकतर वैदिक साहित्य में ही मिलता है, क्योंकि उस समय के कोई भवन शिला-लेख अथवा मन्दिर आदि विद्यमान नहीं हैं। आर्य्यों के धर्म का उल्लेख तो ऊपर हो चुका है। अब उनके सामाजिक और राजनीतिक जीवन तथा रहनसहन का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

रहन सहन का ढङ्ग कृषि और भोजन

हिन्दू-आर्य्य लोगों के विषय में कई यूरोपीय इतिहासकारों ने लिखा है कि वे खानाबदोश थे। परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है। इस बात के बहुत पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि आर्य्य लोग कृषि-शास्त्र, वास्तुविद्या और शस्त्र-निर्माण-विद्या से भली भांति परिचित थे। ऐसा माना जाता है कि हिन्दू आर्य्यों से पहले भारत में रहने वाले लोग अधिकतर चावल और जंगली फल खाते थे। हिन्दू-आर्य्यों ने उनको गेहूं, जौ आदि अनाज तथा सरसों और तिल आदि बीज और नाना प्रकार के फल उत्पन्न करना सिखलाया। आर्य्य लोग पशु भी

असंख्य रखते थे। वे गऊ और घोड़े की बड़ी कदर करते थे। वेदों में जो शब्द गऊ के लिये आया है उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वैदिक आर्य्यों के हृदय में गऊ के प्रति बड़ा सम्मान था। यद्यपि यह कहना असम्भव है कि वे लोग मांस बिलकुल न खाते थे, पर शायद यह कहना ठीक होगा कि मांस उनका साधारण भोजन न था। दूध, अन्न, तरकारी यही उनका साधारण भोजन था।

शिल्प तथा व्यवसाय

इस बात का भी पर्याप्त प्रमाण मौजूद है कि प्राचीन आर्य्य कपड़ा बुनना, चमड़ा रंगना और धातु की नाना वस्तुएं बनाना भली भांति जानते थे। रुई की खेती सब से पहले भारत में हुई और रुई का वस्त्र सब से पहले इसी देश में बनाया गया। भारत से रुई की खेती और रुई से कपड़ा बनाने की विद्या पूर्व में चीन और जापान और पश्चिम में पहले अरब में, और फिर अरब से यूरोप में प्रचलित हुई। यहां तक कि रुई के लिये अंग्रेजी में जो शब्द "काटन" प्रयुक्त होता है वह अरबी शब्द 'कुतन' का अपभ्रंश है।

प्राचीन आर्य घर बनाकर रहते थे। वे दुर्ग बनाते थे। यज्ञ-शाला बनाने में भी वास्तुविद्या से काम लेते थे। आर्य्य धातुओं का उपयोग भी अच्छी तरह जानते थे। यद्यपि कई यूरोपीय ऐतिहासिक इस बात में सन्देह करते हैं कि वैदिक काल के आर्य्यों को लोहे का ज्ञान था, परन्तु यह बात तो सब मानते हैं कि उस काल में तांबा, सोना और चांदी का प्रचुर उपयोग किया जाता था। लोहे के उपयोग के प्रमाण

भी पर्याप्त मौजूद हैं*।

आर्य्य लोग धनुष-बाण के अतिरिक्त भाला और सैनिक कुठार का भी उपयोग करते थे। वे घोड़ों के रथ पर चढ़कर लड़ते थे।

सामाजिक जीवन वर्ण विभाग और जातिभेद

वैदिक काल में जाति-पातिका भेद ऐसा न था जैसा कि अब है। स्मरण रखना चाहिये कि जैसा पहले कह आये हैं आर्य्यों से पहले इस देश के अधिवासी बिलकुल असभ्य और अशिक्षित न थे। द्रविड़ रहनसहन में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को बहुत अधिक स्वतन्त्रता और अधिकार प्राप्त थे। पिता के स्थान पर माता ही प्रत्येक परिवार की मुखिया और अग्रणी गिनी जाती थी। विवाहों की ऐसी रीति न थी जैसी आजकल है। वरन कहा जाता है कि स्त्रियां और पुरुष जब मेलों या पर्वों के अवसरों पर एकत्र होते थे तो आपस में सम्भोग करते थे और उस से जो सन्तान होती थी वह अपनी माता की देखरेख में पालित और पोषित होती थी। इस प्रकार कई बार एक एक स्त्री के कई कई पति भी होते थे। सारे घर का काम और गांव का प्रबन्ध स्त्रियों के सपुर्द था। पुरुष प्रायः

---

* देखो ऋग्वेद—मंडल १, ८८, ४; १०, ८७, २; ४, ६२, ८। में 'अयस्' शब्द लोहे के लिये आता है। "वैदिक इंडैक्स" में अध्यापक 'मैकडानेल' और 'कीथ' ने इस का अर्थ तांबा सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु उस से उन के मत की पूरी तरह पुष्टि नहीं होती।

शिकार करते थे। वे जब गावों में आते थे तो पृथक भाग में सोते थे। परन्तु आर्य्यों का रहन सहन इससे सर्वथा भिन्न था। उनके यहां विवाह की रीति प्रचलित थी और अधिक सम्भव है कि वैदिक काल में एक पति की एक ही पत्नी होती थी। यद्यपि वेद में 'सपत्नी' का ज़िक्र आता है, और उससे यह परिणाम निकाला जाता है कि उस समय बहु-विवाह प्रचलित था; तथापि ऐसा मालूम होता है कि यह प्रथा आम न थी। परिवार का मुखिया पिता होता था। जब आर्यों का द्रविड़ लोगों से मेल जोल हुआ तो द्रविड़ लोगों ने अपने रहन सहन का ढङ्ग बदलकर आर्यों का सामाजिक जीवन ग्रहण कर लिया। आरम्भ में प्रजा के अन्य भागों की अपेक्षा योद्धाओं की प्रतिष्ठा अधिक थी। अतएव जाति का नेतृत्व क्षत्रियों के सपुर्द था। वही लड़ने वाले और वही पुरोहित थे। आर्य्यों में धर्म-बुद्धि का विकास उनके भारत में आने से पहले ही हो चुका था। अतएव प्रत्येक कुल और प्रत्येक गोत्र का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने धर्मकृत्य अपने सर्वोत्तम मनुष्यों से करवाये। प्रत्येक कुल अपनी भिन्न भिन्न शाखाएं फैलने पर गोत्र बन जाता था। साधारणतः एक गांव में एक गोत्र के लोग रहते थे और उसी गोत्र के बड़े लोग लड़ने वाले और धर्मकृत्य कराने वाले होते थे।

जब आर्य्य लोगों ने भारत में आकर यहां के प्रचलित रीति-रिवाजों और रहन सहन की शैली को देखा तो उनको यह चिन्ता हुई कि कहीं उनकी जातीय पवित्रता और उनके धार्मिक

भावों में अन्तर न आ जाय * । ये लोग अपने आपको दूसरों से अधिक श्रेष्ठ और उच्च मानते थे, और समझते थे कि वे परमेश्वर के विशेष प्रिय मनुष्य हैं और उनके पास एक धर्म-पुस्तक है। इसके अनुसार वे अपनी धार्मिक रीतियों की रक्षा करना और अपने उच्च नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों को स्थिर रखना अपना कर्त्तव्य समझते थे। अतएव बहुत सम्भव है कि भारत में आ बसने के थोड़े ही समय पश्चात उनको इस बात की आवश्यकता का अनुभव हुआ कि वे अपने समाज का एक ऐसा विभाग नियत करें, जो उनकी इस उच्च धार्मिक और सामाजिक श्रेष्ठता की रक्षा कर सके। आर्य्य लोगों की नीति और उनकी आध्यात्मिकता की यह विशेषता है कि वे अपनी सैनिक उत्कृष्टता पर उतना भरोसा न करते थे जितना कि अपने आध्यात्मिक बल और अपनी सभ्यता पर। उन्होंने भारत के मूल निवासियों से लड़ाइयां अवश्य लड़ीं, और उनको पराजित किया, परन्तु उनको नष्ट नहीं किया, उनको अपमानित भी नहीं किया। उनके रीतिरिवाज में बलात हस्तक्षेप नहीं किया। उन्होंने शनैः शनैः अनुग्रह और

* संसार की सभी बड़ी बड़ी जातियों में, विशेषतः यहूदियों, चीनियों और अरबों में, यह विचार पाया जाता है। अपने अपने समय में सभी प्रबल जातियां अपने आपको परमेश्वर की विशेष प्रिय और उत्कृष्ट सन्तान समझती रही हैं। वर्तमान काल में यूरोप के लोग अपने आप को सामान्यतः ऐसा ही समझते हैं। परन्तु जर्मन लोगों ने विशेष रूप से इस धारणा को बहुत दृढ़ किया। प्रायः अङ्गरेज़ भी ऐसा समझते हैं कि वे संसार में शासन करने और सभ्यता फैलाने के लिये उत्पन्न हुए हैं।

प्रेम व्यवहार से उनको अपने समाज में सम्मिलित कर लिया और आध्यात्मिक शिष्य बनाकर बहुत शीघ्र समता की पदवी दे दी। बहुत से प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि आर्य्य लोगों ने भारत के आदिम निवासियों में जो लोग अच्छे और शिष्ट थे उनको अपने संगठन में सम्मिलित कर लिया और गायत्री का उपदेश देकर उनको द्विज बना लिया। यह धारणा सर्वथा निर्मूल है कि आर्य लोगों ने भारत के सभी आदिम निवासियों को शूद्र बनाया। हां, यह ठीक है कि आरम्भ में उन्होंने अपने वंश को पवित्र रखने के लिये ऐसे उपाय अवश्य किये जिन से उनकी जाति में मिश्रण कम हो और वे अपनी सभ्यता के आदर्श से न गिर जायं। परन्तु जिस समय द्रविड़ लोगों ने अपने पहले रीति रिवाज को छोड़कर आर्य्य लोगों की नैतिक और आध्यात्मिक प्रथाएं स्वीकार कर लीं उस समय उन्होंने उनको उदारता से अपने समाज में मिला लिया और उनको उनकी योग्यता तथा गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार पद दिया। आरम्भ में क्षत्रिय सब से ऊंचा गिना जाता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि क्रमशः धार्मिक नेताओं को सर्वोच्च स्थान देने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा ताकि वे सारी जाति के चरित्र और आध्यात्मिक भावों की रक्षा कर सकें, और उनके जीवन लड़ाईभिड़ाई के भय से सुरक्षित रहें। हिन्दू-शास्त्रों में इस बात का पर्याप्त प्रमाण विद्यमान है कि हिन्दू आर्य्यों ने अपने प्रारम्भिक इतिहास में वर्ण को जन्मसिद्ध नहीं समझा। उन्होंने अतीव स्वतन्त्रतापूर्वक लोगों को उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वंश-भेद का विचार छोड़कर भिन्न भिन्न वर्णों में शामिल किया और फिर उनके

पतित हो जाने पर उनको वहिष्कृत भी किया। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कालके बहुत समय पश्चात तक जाति-पांति का यह बंधन कड़ा नहीं हुआ और उस पर वह जंजीरें नहीं लगायी गयीं जो पीछे से लगायी गयीं हैं। वर्ण-विभाग का आरम्भ यजुर्वेद के इस एक मंत्र से बतलाया जाता है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ᳪ शूद्रो अजायत॥ यजुः ३१। ११॥

अर्थ—ब्राह्मण उसका (ईश्वरका) मुंह हुआ, क्षत्रिय बाहु, वैश्य टांगें और शूद्र पैर।

परन्तु इस मंत्र से केवल यही प्रकट होता है कि मन्त्रदृष्टा ऋषि की दृष्टि में मनुष्य के भिन्न भिन्न कर्म किस दर्जे की प्रतिष्ठा और सम्मान के पात्र हैं। यह वर्णन अलङ्काररूप में है न कि किसी सत्य घटना के उल्लेख के रूप में। जो घटनाएं इस काल और इसके पीछे के काल की मालूम होती हैं उनसे भी इस बात का समर्थन होता है। देखिये, प्राचीन हिन्दू-शास्त्रों में सैकड़ों नाम ऐसे मनुष्यों के आते हैं जो अतीव छोटी जातियों में उत्पन्न हुए और फिर ब्राह्मणों में परिगणित हुए। ऐसे भी नाम पाये जाते हैं जो आरम्भ में ब्राह्मण थे परन्तु पीछे से अपने दुष्कर्मों के कारण पतित हो गये। हिन्दू शास्त्रों में इस बात के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं कि बाहर से आये हुए विदेशियों को यज्ञोपवीत देकर और गायत्री का उपदेश करके द्विज बनाया गया। चिरकाल तक आर्य्य-समाज में वर्ण-विभाग केवल गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार रहा, और आर्य्य लोग इस बात को अपना धर्म समझते

रहे कि अनार्य्य लोगों को उपदेश और शिक्षा द्वारा आर्य्य बनाकर समाज में सम्मिलित कर लें। वर्ण-विभाग और जाति-भेद कब कड़ा हुआ, इसका काल निरूपण करना बड़ा कठिन है परन्तु कुछ भी हो, यह वैदिक काल में कड़ा न था।

स्त्रियोंका स्थान

वैदिक काल के साहित्य से यह भी मालूम होता है कि वैदिक समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊंचा था। यद्यपि उनको वह स्वतन्त्रता और वह शक्ति प्राप्त न थी जो द्रविड़ लोगों के मातृक संगठन में स्त्रियों को प्राप्त थी, तो भी इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि विवाह एक दूसरे की पसन्द से होता था और विवाह के पश्चात दुलहिन अपने घर में स्वाधीन स्वामिनी समझी जाती थी। यहां तक कि यदि वृद्ध माता पिता उसके साथ रहना पसंद करें तो उनको भी उस की आज्ञा माननी पड़ती थी। हिन्दू-समाज में इस समय स्त्री की जो स्थिति है वह अवनति की चिह्न है।

हिन्दू समाजमें शिल्पियों का स्थान

ऐसा मालूम होता है कि वैदिक काल में जहां ब्राह्मणों के काम की बहुत उच्च पदवी थी वहां शिल्प कलाकौशल और वाणिज्य को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। जाति का एक बड़ा भाग इन्हीं कार्यों में लगा रहता था और वे बहुत सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। शिल्पशास्त्र की बहुत उच्च पदवी थी। जो लोग शिल्प-शास्त्र के अनुसार यज्ञशाला बनाते थे या ग्रामों, भवनों और कृषिसम्बन्धी मकानों की रचना के नक्शे तैयार करते थे उनको ब्राह्मण की पदवी दी

जाती थी। शूद्रों की कोटि में वही लोग थे जो केवल मेहनत और मजदूरी करते थे।

विद्याएं वैदिक साहित्य में कई प्रकार की विद्याओं का वर्णन है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर निम्नलिखित विद्याओं का वर्णन है :—

(१) वेद, (२) इतिहास, ३) पुराण, (४) व्याकरण, (५) राशि या गणित विज्ञान, (६) दैव (Science of Portents), (७) निधि (काल विज्ञान), (८) वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), (९) एकायन (आचार शास्त्र), (१०) देव विद्या (निरुक्त शास्त्र), (११) ब्रह्मविद्या (वर्णोच्चारण शिक्षा आदि). (१२) भूत विद्या, (१३) क्षत्र विद्या (युद्ध विद्या), (१४) नक्षत्र विद्या (ज्योतिष), (१५) सर्प विद्या, (१६) देव विद्या, (१७) जन विद्या।

मदिरा बहुत से यूरोपीय लोग कहते हैं कि वैदिक-आर्य्य एक विशेष प्रकार की मदिरा पीते थे। उसका नाम 'सोमरस' था। 'सोम' एक वनस्पति का नाम था। आज कोई नहीं बतला सकता कि यह कौनसी वनस्पति है। पारसी लोग अब भी सोमयज्ञ करते हैं और उसमें एक प्रकार का रस बनाकर पीते हैं। परन्तु वह नशीला नहीं है; वरन कड़ुआ है। इसके अतिरिक्त इस बात की और कोई साक्षी मौजूद नहीं कि वैदिक आर्य्य नशीली वस्तुओं का सेवन करते थे। कहा जाता है कि वैदिक साहित्य में एक शब्द 'सुरा' आता है जो एक प्रकार की हलकी मदिरा थी। परन्तु यह भी केवल एक आनुमानिक बात है। इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं।

संगीत तथा मनोरंजन

प्राचीन आर्य्य गाना, नाचना और घुड़-दौड़ करना जानते थे और सम्भवतः पासों के साथ जुआ खेलते थे।

वैदिक काल की राजनीतिक पद्धति

वैदिक काल की राजनीतिक पद्धति अधिकांश में प्रजातन्त्र थी। वैदिक आर्य्य बड़े बड़े नगर नहीं बनाते थे वरन प्रायः देहात में रहते थे। बहुधा गांव एक ही वंश के मनुष्यों से आबाद थे। गांव का प्रबन्ध प्रायः एक पञ्चायत के सपुर्द होता था। यह पञ्चायत गांव के भिन्न भिन्न परिवारों के मुखियों द्वारा चुनी जाती थी। प्रायः गांव स्वतन्त्र थे और वे अपने में से एक को राजा निर्वाचित करते थे। उसको पदच्युत और अलग कर देने का भी उनको अधिकार था। इसी प्रकार बहुत से ग्राम मिलकर भी अपना राजा और अपनी राजसभा का निर्वाचन करते थे। इन में से कई राजा परम्परीगत भी बन जाते थे। परन्तु वैदिक काल की राजनीतिक व्यवस्था में किसी राजा को कानून के विरुद्ध आचरण करने या अपने अधिकारों को अन्यायपूर्वक जाति के वृद्धों की सभा या पञ्चायत की आज्ञाओं के विरुद्ध काम में लाने का अधिकार न था। वेदों में बहुत से मन्त्र ऐसे हैं जिन में यह लिखा है कि राजा किस प्रकार का होना चाहिये। वैदिक साहित्य में राजाओं के चुनाव और उनको पदच्युत करने के नियम भी लिखे हैं। इसी प्रकार न्याय करने और युद्ध आरम्भ करने के विषय भी वर्णित हैं।

आर्य्यों की युद्ध-नीति में विषाक्त वाणों का उपयोग निषिद्ध है। उस में किसी को यह आज्ञा नहीं है कि वह शस्त्र छिपाकर किसी पर आघात करे या निहत्थे मनुष्य पर शस्त्र चलाये। उनके नियमों में यह भी आज्ञा न थी कि जो लोग युद्ध में सम्मिलित नहीं उनकी हत्या की जाय। सोये हुए और घोर रूप से आहत शत्रुपर प्रहार करना अपराध था। नंगे व्यक्ति पर, या जिसके शस्त्र टूट गये हों, या जिसका कवच खोया गया हो उस पर भी आघात करने की आज्ञा न थी। ऐसा जान पड़ता है कि गत पांच सहस्र वर्षों में संसार ने युद्ध-नीति में उन्नति के स्थान पर अवनति की है। आजकल वे जातियां अपने आपको बहुत ही सभ्य और शिष्ट समझती हैं जो निहत्थों पर हथियार चलाती हैं, जो वायुयानों से स्त्रियों और बच्चों तक की हत्या करना अनुचित नहीं समझतीं, जो जलमग्न नावों द्वारा न लड़नेवाली जातियों और निरपराध मनुष्यों के जहाज़ डुबोती हैं और जो विषाक्त धुयें से शत्रु की प्रजा की अकथनीय हानि करती हैं।

प्राचीन आर्य्योंका आर्थिक संगठन

ऐसा मालूम होता है कि आर्य्यों के आने से पहले अनार्य्य लोगों का आर्थिक संगठन सामूहिक (Communal) था। गांव की आबादी विभाजित न थी और न व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा थी। जो कुछ उत्पन्न होता था या पुरुष जो कुछ बाहर से उठाकर लाते थे वह आवश्यकतानुसार बांट लिया जाता था। प्राचीन आर्य्य लोगों ने आकर इस संगठन में किसी कदर परिवर्त्तन किया, यद्यपि उनके समयमें भी चिरकाल तक खेती की भूमियों

और रहने के मकानों पर वैय्यक्तिक प्रभुत्व (Individual property) के कोई अधिकार स्वीकार नहीं किये गये।

भूमियां समय समय पर खेती के लिये गांव के अधिवासियों में बांट दी जाती थीं और किसी मनुष्य को अपनी कृषि की भूमि को बेचने या रेहन करने का अधिकार न था। गांव के इर्द गिर्द भूमि पशुओं के चरने के लिये शामिलात के रूप में छोड़ दी जाती थी। गांव के जोहड़ और कुएं सब शामिलात समझे जाते थे। हां, यह सम्भव है कि ढोर डंगर प्रत्येक व्यक्ति के अपने अलग हों और उपज भी वैय्यक्तिक सम्पत्ति समझी जाती हो। कृषि के अतिरिक्त लोग अन्य नाना प्रकार के व्यवसाय भी करते थे। प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेता था। सम्भव है व्यवसायी लोगों को उनकी सेवाओं का पुरस्कार खेती की भूमियों की उपज के भाग के रूप में दिया जाता हो जैसा कि अंगरेज़ी राज्य के आरम्भ तक होता रहा है और कई स्थानों में अब भी है।

वैदिक सभ्यता पर पाश्चिमीय विद्वान

वैदिक काल की सभ्यता के विषय में अध्यापक 'रैप्सन' की आगे लिखी सम्मतियां ध्यान देने योग्य हैं। ये सम्मतियां उन्होंने 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' के प्रथम खंड में दी हैं। साथ साथ इस पुस्तक के पृष्ठों के प्रतीक भी दिये जाते हैं।

(१) ऋग्वेद में एक स्त्री के एक से अधिक पतियों का कोई उल्लेख नहीं। विवाह का सामान्य नियम एक पती और एक पत्नी (मोनोगेमी) था। बाल्यावस्था के विवाह का भी कोई चिन्ह नहीं। वर और कन्या को आपस में एक दूसरे को पसन्द करने का अधिकार था। (पृष्ठ ८८)

(२) जाति-पांति का भेद अभी दृढ़ नहीं हुआ था और परम्परागत न था। (पृष्ठ ६२)

(३ राजा भूमिका स्वामी न समझा जाता था। (पृष्ठ ६५)

(४) यद्यपि वेश्याएं थीं परन्तु आचार का आदर्श बहुत ऊंचा था। (पृष्ठ ६७)

(५) वैदिक-काल के लोग बहुत से शिल्पों को जानते थे और शिल्प के कारण किसी व्यक्तिको घृणा की दृष्टि से न देखा जाता था। बढ़ईका काम, लोहारका काम, रङ्ग बनाना कपड़े बुनना, सीना, बोरिये बनाना इत्यादि सब का उनको ज्ञान था। (पृष्ठ १००)

(६) वैदिक आर्य्यों को जहाज़ चलाने और समुद्रका ज्ञान न था। (पृष्ठ १०१) *

---

* पश्चिमीय विद्वानों के कथनानुसार ऋग्वेद में जहां सिन्धु तथा समुद्र शब्द आता भी है वहां उसका अभिप्राय सिंधु नदी से है न कि समुद्र से। परन्तु ऐसा ठीक नहीं। वेद में 'पूर्व समुद्र' का भी वर्णन है (ऋग् १०, १३६, ५) सिन्धु नदी पश्चिम में है न कि पूर्व में। 'पूर्व समुद्र' अवश्य ही बंगाल की खाड़ी होना चाहिये। चार समुद्रों का भी वर्णन आता है (ऋग् ९, ३३, ६ तथा १०, ४७, २) ऋ० ८, ६, ४ के "समुद्रायेव सिंधवः' में सिंधु और समुद्र दोनों शब्द आते हैं जिनमें एक का अर्थ अवश्य समुद्र होना चाहिये। ऋ० १, ११६, ४-५ में बड़े बड़े जहाज़ों का वर्णन है। इस प्रकार समुद्र तथा जहाज़ों द्वारा समुद्र यात्रा के सम्बन्ध में और भी बहुत से प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

(७) जरीदार वस्त्रों और सोनेके आभूषणोंका बहुत बार उल्लेख मिला है। (पृष्ठ १०१)

(८) फल और तरकारी भोजनका प्रधान भाग था। (पृष्ठ १०१)

(९) यद्यपि वैदिक आर्य्य अपने अतिथियोंके लिये बैलका बलिदान करते थे परन्तु गायको वे भी पवित्र समझते थे। (पृष्ठ १०२)

(१०) मदिरा (सुरा) का यद्यपि प्रचार था परन्तु उसको बुरा समझा जाता था। (पृष्ठ १०२)

(११) नाचने और गानेकी प्रथा थी और संगीत-विद्या आरम्भिक अवस्थासे उन्नति कर चुकी थी। (पृष्ठ १०३)

(१२) ऋग्वेदमें जन्तुओंकी पूजाका उल्लेख नहीं। विविध जन्तुओं को पवित्र समझकर उनका पूजन न किया जाता था। (पृष्ठ १०५ तथा १०६)।

(१३) सांपोंकी पूजाका भी कोई उल्लेख नहीं है। (पृ० १०६)।

(१४) ऋग्वेदमें मनुष्यके बलिदानका कोई चिह्न नहीं। (पृष्ठ १०६)।

(१५) देवताओं के प्रति भारतीयोंका बर्ताव ऐसा न था जिससे पाया जाता हो कि वे उनसे डरते थे। उनकी सम्मतिमें यदि देवताओंकी उचित रीतिसे पूजा की जावे तो उनसे काम लिया जा सकता था। (पृ० १०६)।

(१६) सती प्रथा का कोई चिह्न नहीं और न आवागमनका है। (पृष्ठ १०८)।

(१७) मन्त्रोंमें अधिकतर बल शक्तिपर दिया गया है न कि आचरणपर। (पृ० १०८)।

(१८) ऋग्वेदकी भाषा असाधारण रूपसे पूर्ण है। (पृ० १०६)।

उक्त पुस्तक के पंचम परिच्छेदमें यजु, साम और अथर्व वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों आदि का वर्णन है। इसमें अधिकतर कल्पनाओंसे काम लिया गया है। सूत्रोंके समयको ब्राह्मणोंके समय के साथ खिचड़ी कर दिया गया है। पृष्ठ १२६ पर माना गया है कि ब्राह्मणोंमें शूद्रोंको घृणा की दृष्टिसे नहीं देखा गया वरन आर्यों और शूद्रोंकी सामान्य रक्षा तथा भलाई के लिये प्रार्थना की गयी है और धनाढ्य शूद्रोंका उल्लेख मिलता है। परन्तु सूत्रोंमें शूद्रों को वेद पढ़ानेका निषेध है और उनके हाथसे खाना निषिद्ध है। *

तैत्तिरीय संहिता में जो राजाके रत्न बताये गये हैं उनकी सूची यह है:-पुरोहित, राजन्य महिषी (अर्थात पहली रानी। सूत। अर्थात रथवान), सेनानी अर्थात सेनापति, ग्रामणी अर्थात गांवका नम्बरदार, क्षत्र अर्थात राजसदनका अध्यक्ष, संगृहीतृ अर्थात खजानची, अक्षावाप अर्थात जूआ खेलनेके यन्त्रोंका अध्यक्ष।

* परन्तु इसके लिये कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया गया।

शतपथ ब्राह्मणमें व्याध और दूतको भी इस सूचीमें स्थान दिया गया है और मैत्रायिणी संहितामें तरखान और रथ के बनानेवालेको भी उसी सूचीमें स्थान दिया गया है (पृ० १३०–१३१)।

पञ्चविंश ब्राह्मणमें आगे लिखे व्यक्तियों को आठ वीरोंके नामसे पुकारा गया है:—

भाई, बेटा, पुरोहित, महारानी, सूत, ग्रामणी, क्षत्, संग्रहीतृ।

विश्वकर्मा भौवन नामक एक राजाने अपने पुरोहितों को भूमिका दान दिया। इसपर धरती माता ने उसे बहुत लज्जित किया। इसका तात्पर्य यह है कि राजा के लिये राज्य की भूमि को दान कर देना अनुचित समझा जाता था।

वैदिक साहित्य में 'समिति' और सभा शब्दोंका बहुत प्रयोग पाया जाता है। यह भी लिखा है कि समिति अर्थात प्रतिनिधि-मण्डल राजोंका निर्वाचन करता था। ब्राह्मणसाहित्य में राज्यच्युत राजाओंका उल्लेख प्रचुरतासे मिलता है। राजा लोग बहुत बार सिंहासन और राजमुकुटसे वंचित कर दिये जाते थे। मदिरापान 'महापाप' बताया गया है। न्यायका भाव यहांतक बढ़ा हुआ था कि जब राजा और पुरोहित से संयोगवश एक लड़का मर गया तो उस विषयपर (समिति या सभामें) बहुत चर्चा हुई और बहुत सा वाद-विवाद हुआ (पृष्ठ १३३, अन्ततः राजाको प्रायश्चित्त करना पड़ा।

फौजदारी अपराधों के लिये केवल एक कुल्हाड़ीकी परीक्षा (आरडियल) का वर्णन है। परन्तु यह नहीं बताया गया कि इसका क्या अर्थ था।

छठा अध्याय

सूत्र तथा स्मृति साहित्य

जैसा हम पहले लिख आये हैं आर्यों का सूत्र-साहित्य कई दृष्टियों से बहुत ही महत्व पूर्ण है। शैली की दृष्टि से संसार के साहित्य में इसका और कहीं उदाहरण नहीं मिलता। सूत्र-ग्रन्थों में सारे विषय को अत्यन्त संक्षिप्त वाक्यांशों में वर्णित किया गया है। इन सूत्रों में प्रत्येक शब्द बड़े सोच विचार के साथ लिखा गया है जिससे भाव भी पूरी तरह से स्पष्ट हो जाय और एक भी व्यर्थ शब्द न लिखा जाय। सारे विषय और भाव को ठीक तौर पर प्रकट करने के लिये एक शृङ्खला में बांधा गया है। इन सूत्रों के अन्दर धर्म-शास्त्र, आचार-शास्त्र, धार्मिक अनुष्ठान संबन्धी विषय, कानून, व्याकरण, तत्वज्ञान, तर्कशास्त्र, गणित, पदार्थ विज्ञान आदि नाना प्रकार के विषय वर्णित किये गये हैं।

कल्प

सूत्र-ग्रन्थों में सब से प्राचीन 'कल्प-सूत्र' समझे जाते हैं। कल्प-सूत्रों में तीन प्रकार के सूत्र-ग्रन्थ सम्मिलित हैं:—

(१) श्रौत सूत्र, (२) गृह्य सूत्र, (३) धर्म सूत्र।

इनके संबन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। श्रौत सूत्रों में वैदिक यज्ञों की विधियों का वर्णन है। ये ग्रन्थ लगभग ब रह के करीब हैं। गृह्यसूत्रों में गृहस्थों के लिये भिन्न भिन्न संस्कारों, उत्सवों, दैनिक यज्ञों आदि का वर्णन है। ये ग्रन्थ लगभग एक दर्जन से ज्यादा हैं। धर्म सूत्रों में प्रतिदिन के व्यवहार तथा आर्यों के प्राचीनतम कानूनों का वर्णन है। इस समय ये लगभग आधे दर्जन उपलब्ध होते हैं। इन में राजा के कर्तव्य, न्याय, दायभाग, और विवाहादि के नियमों का भी वर्णन है।

धर्म सूत्रों में गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्म सूत्र, आपस्तम्भ आदि हैं। छः वेदांगों में 'कल्प' भी एक अंग समझा जाता है। कल्पसूत्रों के अन्तर्गत ही शुल्व सूत्र हैं। शुल्व सूत्रों में ज्यामिति या रेखागणित के सिद्धान्तों का वर्णन है।

व्याकरण

पाणिनी मुनि का व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी भी सूत्रों में है। इस के द्वारा संस्कृत भाषा को एक वैज्ञानिक व्याकरण द्वारा बांधा गया है। सभी विद्वान इस व्याकरण की बहुत प्रशंसा करते हैं। संसार के भाषा-शास्त्र के इतिहास में सब से प्रथम संस्कृत के व्याकरण में ही शब्दों का विश्लेषण तथा मूल धातुओं का आविष्कार किया गया। इससे वर्तमान भाषा विज्ञान को भी बड़ी सहायता मिली है। पाणिनी का काल भिन्न भिन्न ऐतिहासिक भिन्न भिन्न प्रकार से रखते हैं। ६ वीं सदी ई० पू० से लेकर चौथी सदी ई० पू० के मध्य में पाणिनी की भिन्न भिन्न तिथियां नियत की गयी हैं। पाणिनी ने अपने से पहले और दस व्याकरण-शास्त्र के कर्ताओं के नाम निर्देश किये हैं।

दर्शन

मूल दर्शन ग्रन्थ भी सूत्रों में ही हैं। दर्शन ग्रन्थों में आर्य्यों का तत्वज्ञान (फ़िलोसोफ़ी) भरा पड़ा है। आर्यों का तत्वज्ञान कितना ऊंचा था इसका पता इन ग्रन्थों से लगता है। पीछे से इन ग्रन्थों के कई भाष्य तथा टीकाएं हुईं, कई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचे गये, और संस्कृत में इस विषय पर बड़ा भारी साहित्य तैयार हो गया।

छः दर्शन प्राचीन आस्तिक दर्शन समझे जाते हैं। ये छः आस्तिक दर्शन वेद को तत्वज्ञान का मूल मानते हैं। आर्य-तत्वज्ञान के ये छः भिन्न भिन्न सम्प्रदाय हैं, जो अपने अपने तरीके से इस संसार की उत्पत्ति, भिन्न भिन्न पदार्थों के मूल भौतिक तत्वों, तथा उनके परस्पर संबन्ध तथा आत्मा परमात्मा आदि आध्यात्मिक विषयों की व्याख्या करते हैं। इन छः दर्शनों के नाम ये हैं:—

सांख्य—सांख्य सिद्धान्त संभवतः सब से पुराने हैं; परन्तु सांख्य-सूत्र पीछे की रचना कहे जाते हैं। सांख्यशास्त्र कपिल मुनि का बनाया हुआ है। सांख्य सिद्धान्तों के अनुसार पुरुष (जीव) और प्रकृति दो अनादि पदार्थ हैं। प्रकृति सत्व, रजस्, तमस् तीन गुणों से बनी हुई है। इन्हीं गुणों के भिन्न भिन्न स्वरूपों में परिणत होने पर इस स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

योग—योग सूत्रों के कर्ता पतञ्जलि मुनि हैं। योग विद्या का यह मूल ग्रन्थ है। इसके सिद्धान्त सांख्य सिद्धान्तों से बहुत मिलते जुलते हैं।

न्याय—न्याय सूत्रों के कर्ता गौतम मुनि हैं। कई विद्वान गौतम को भारत का अरस्तू कहते हैं। तर्कशास्त्र (Logic) पर यह बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

वैशेषिक—वैशेषिक दर्शन कणाद मुनि की रचना है। यह दर्शन आर्यों का पदार्थ विज्ञान कहा जाता है। इस के सिद्धान्त न्याय-सिद्धान्तों से बहुत मिलते हैं।

पूर्व मीमांसा—जैमिनी मुनि की रचना है। इस में कर्मकाण्डों तथा अनुष्ठानों की व्याख्या है।

उत्तर मीमांसा या वेदान्त—वेदान्त सूत्रों की रचना व्यास मुनि ने की है। इस में परमात्मा या ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है। वेदान्त सूत्रोंकी भिन्न भिन्न व्याख्याएं की गयी हैं। शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त भी इन्हीं वेदान्त सूत्रों के आधार पर स्थापित किया गया है।

इन दर्शनों के अतिरिक्त नास्तिकों, बौद्धों और जैनों ने भी अपने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में अपने दर्शन शास्त्रों की रचना की।

आर्य तत्वज्ञान का प्रभाव विदेशों में कहां तक पड़ा, या यूनानी तत्वज्ञान का प्रभाव भारतीय तत्वज्ञान पर कहां तक पड़ा, इस संबन्ध में विद्वानों में बहुत वाद विवाद है। परन्तु मेकडोनेल महाशय इस बात को स्वीकार करते हैं कि संभवतः सांख्य सिद्धान्तों का प्रभाव यूनानी तत्वज्ञान पर पड़ा*। यूनानी विद्वान 'पैथागोरस' के सिद्धान्तों पर भारतीय तत्वज्ञान का

* देखो मेकडोनल का "इंडियाज़ पास्ट" पृ० १४६।

प्रभाव पड़ा इस बात को बहुत से विद्वान सर्वथा सत्य मानते हैं।

विद्याएं

सूत्र-साहित्य में हमें कई विद्याओं का वर्णन मिलता है जिन से भारतीय विद्वान भली भांति परिचित थे। इन विद्याओं का आविष्कार भी भारतीय विद्वानों द्वारा हुआ था। फिलासफी तथा भाषा-शास्त्र के अतिरिक्त अलंकारशास्त्र, छन्दशास्त्र, कोष, नाट्य-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, कामशास्त्र (जिस में सन्तानोत्पत्ति संबन्धी सिद्धान्तों का वर्णन होता है), प्राणि-शास्त्र (Biology), आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित-रेखागणित-बीज-गणित आदि विद्याओं में भारतीय विद्वानों ने कुशलता प्राप्त कर ली थी। ज्योतिष की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। चन्द्र, सूर्य और तारों के हिसाब से वर्ष, मास, दिवस और राशियां निश्चित की जा चुकी थीं। वर्ष के बारह मास तथा चांद्र वर्ष में मलमास (लौंद का महीना) आदि का ज्ञान हो चुका था। चन्द्रमा के अट्ठाइस नक्षत्रों का ज्ञान भी हो चुका था।

राजधर्म और कानून

धर्म सूत्रों और उनके आधार पर लिखी गयी स्मृतियों में राजधर्म तथा व्यवहार या कानून के संबन्ध में विचार किया गया है। उस समय तक राजनीतिशास्त्र अच्छा उन्नत हो चुका था।

राजा के लिये यह आदेश है कि वह अपना राजभवन नगर के मध्य में बनावे। उस के ठीक सामने एक बड़ा भवन हो जिस में वह लोगों से मिला करे। नगर से कुछ दूर

दक्षिण दिशा में एक बड़ा सभा-भवन बनावे; वहां राज्य के प्रतिष्ठित विद्वानों की सलाह से राजकार्य करे। उसका मुख्य धर्म प्रजा की रक्षा करना है।

करके संबन्ध में लिखा है कि वह राजस्व के अतिरिक्त प्रजा से कुछ न ले

गौतम सूत्रों में राजस्व के विषय में निम्नलिखित आदेश हैं।

(१) किसानों से उपज का दसवां, आठवां या छठाभाग।

(२) पशुओं और स्वर्ण पर पचासवां भाग।

(३) व्यपार पर बीसवां भाग

(४) फल फूल, औषध, मधु, मांस, घास तथा लकड़ी पर साठवां भाग

नीचे लिखे व्यक्ति कर से मुक्त थे।

• विद्वान ब्राह्मण, राजकीय नौकर, अनाथ, साधु, बालक, विद्यार्थी, विधवाएं, कुमारी कन्याएं, नौकरों की स्त्रियां, जिन कन्याओं की सगाई हो चुकी हो।

न्याय के संबन्ध में गौतम धर्मशास्त्र में लिखा है कि "न्याय वेदों, धर्मशास्त्रों अंगों पुराणों और उपवेदों के अनुसार होना चाहिये" अभियोगों और झगड़ों का निर्णय करते हुए इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि निर्णय जाति-नियम, कुल नियम और भिन्न भिन्न देशकाल की प्रथाओं और रिवाजों के विरुद्ध न हों। कृषकों, व्यापारियों, गडरियों,

वाणिज्य करने वालों, शिल्पियों आदियों की श्रेणियां (गिल्ड्स) बनी हुई थीं और इन श्रेणियों को अधिकार था कि वे अपने लिये स्वयं नियम बना लें।

युद्ध के नियमों के सम्बन्ध में आपस्तम्ब में लिखा है कि राजा को विषाक्त बाणों का उपयोग न करना चाहिये; उसे आदेश था कि वह शरणागतों या निरुपाय लोगों पर आक्रमण न करे, और (बौद्धायन के प्रमाण से) उन पर भी आघात न करे जो लड़ाई से हाथ उठा चुके हों या जो अपने को गऊ कहकर शरण ढूंढते हों।

राजा को राज-प्रबन्ध में सहायता देने के लिये तीन सभाओं का उल्लेख है; धर्म-सभा, राज-सभा, विद्या-सभा।

झगड़ों का ठीक ठीक न्याय करने पर बहुत बल दिया गया है। दीवानी और फौजदारी मुकदमों के निर्णय करने के लिये भी आदेश लिखे हुए हैं। झूठी गवाही देना महापाप लिखा है। उत्तराधिकार, दायभाग, बालकों की शिक्षा आदि के सम्बन्ध में भी विस्तार से लिखा हुआ है।

शिक्षा

सूत्र ग्रन्थों में आश्रम प्रणाली का उल्लेख है। पहला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थ तीसरा वानप्रस्थ चौथा सन्यास। प्रथम पचीस वर्ष की उमर तक प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्य्य आश्रम में रहना होता था। इसी में उसे विद्याध्ययन करना होता था। इस आयु में विवाह करने या किसी अन्य प्रकार से अपने वीर्य्य को नष्ट करने का उसके लिये निषेध था। सादा भोजन, सादा लिबास, सादा रहन सहन उसके लिये आवश्यक था। माता पिता का घर छोड़कर वह जंगलों

में गुरु के पास रहता था। गुरुओं के इन आश्रमों को गुरुकुल कहते थे। यहां उसे भूमि पर सोना पड़ता था, नंगे पैर घूमना पड़ता था। सारांश यह कि आश्रम के नियम बहुत कड़े थे। राजा, धनी, रंक, सब के बालक इन आश्रमों में एक समान रह कर पढ़ते थे। इस से उनका जीवन सादा और शरीर कष्ट सहन के योग्य होजाता था। उनका शरीर दृढ़, तथा आचार शुद्ध पवित्र होजाता था और वे विद्या में पारंगत होजाते थे। पचीस वर्ष की आयु में वे विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते, गृहस्थाश्रम में सन्तान उत्पन्न करते धन कमाते, और जायदाद बनाते थे। पचास वर्ष की उमर में सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों और सम्बन्धियों को बांट कर वानप्रस्थ हो जाते। वानप्रस्थ वनों में तपस्या करते, विचार करते और शिष्यों को पढ़ाते थे। पचहत्तर साल की उमर में वे सन्यासी हो जाते। पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी शिक्षा का प्रचार था।

आश्रमों और गुरुकुलों में सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। धर्मशास्त्र का जानना प्रायः सब के लिये आवश्यक था, क्योंकि उसे जाने बिना कोई भी मनुष्य अपने कर्तव्यों और स्वत्वों को पूरी तरह न समझ सकता था। आजकल भी यूरोप और अमेरिका में स्वत्वों और कर्तव्यों की शिक्षा प्रारम्भिक पाठशालाओं से ही शुरु की जाती है; और भारतवर्ष के सदृश लड़कों को प्रचलित कानूनों और नागरिकता के अधिकारों से अनभिज्ञ नहीं रखा जाता।

सामाजिक दशा

धर्म शास्त्रों में जाति-बंधन का उल्लेख है। परन्तु वह बहुत कठोर प्रतीत नहीं होता।

गृह्य-सूत्रों में आर्य्यों को सोलह संस्कार करने की आज्ञा है।

पहला - गर्भाधान, अर्थात गर्भ रहने के समय का संस्कार।

दूसरा—पुंसवन संस्कार। यह गर्भ से दो तीन मास पीछे किया जाता है।

तीसरा—सीमन्तोन्नयन संस्कार। यह गर्भ-स्थापना से पांचवें छठे मास पश्चात किया जाता है।

चौथा—जात कर्म, अर्थात उत्पत्ति का संस्कार।

पांचवां—नामकरण अर्थात नाम रखने का संस्कार।

छठा—निष्क्रमण, अर्थात मकान के बदलने का संस्कार।

सातवां—अन्नप्राशन, अर्थात बालक को सब से पहले अन्न खिलाने का संस्कार।

आठवां—चूड़ाकर्म्म, अर्थात सिर मुड़ाने का संस्कार।

नवां—कर्ण-वेध संस्कार, अर्थात कानों में छेद करने की प्रक्रिया।

दसवां—उपनयन संस्कार, अर्थात यज्ञोपवीत या जनेऊ पहनाने की प्रक्रिया।

ग्यारहवां—वेदारम्भ संस्कार, अर्थात वेद की शिक्षा आरम्भ कराने का अनुष्ठान।

बारहवां—समावर्त्तन संस्कार, अर्थात विद्या की समाप्ति पर गुरु के आश्रम से वापस आने की प्रक्रिया।

तेरहवां—विवाह संस्कार। विवाह के संस्कार में 'सप्तपदी' अर्थात फेरों के समय दुलहा दुलहिन का हाथ पकड़ कर कहना था—"यह मैं हूं, तू तू है। तू तू है और मैं यह हूं। मैं

आकाश हूं तू पृथ्वी है। तू ऋचा है मैं साम हूं। तूने मेरे साथ सती भाव से रहना" इस प्रकार पति और पत्नी में समानता और प्रेम का सम्बन्ध स्थापित होता था।

चौदहवां— वानप्रस्थ, अर्थात संसार छोड़कर वन में जाने का संस्कार।

पन्द्रहवां – सन्यास, अर्थात तप करने के पश्चात सन्यासी बनने का संस्कार।

सोलहवां—मृतक संस्कार, अर्थात शव को जलाने की प्रक्रिया।

सूत्र ग्रन्थों से यह भी मालूम होता है कि प्राचीन आर्य्य सदाचार पर बड़ा बल देते थे। वशिष्ठ सूत्रों में एक जगह लिखा है कि "आचारहीन मनुष्य वद शास्त्र के पाठ से शुद्ध नहीं होता। ऐसे मनुष्य को वेद कल्याणकारी नहीं होते।"

गोतमऋषि लिखते हैं कि निम्नलिखित कामों से मनुष्य अपने वर्ण से पतित हो जाता है;—

"हत्या, सुरापान, गुरु-भार्य्या के साथ व्यभिचार, चोरी, वेद-निन्दा, ईश्वर को न मानना, बार बार पाप करना, अपराधियों को शरण देना, निर्दोष मित्र का साथ छोड़ देना, दूसरों को पाप कर्म के लिये प्रेरणा करना, मिथ्या दोषारोपण और अन्य ऐसे ही दुष्कर्म।"

इन शास्त्रों में समुद्र के पार जाने या विदेश-यात्रा आदि का निषेध नहीं है।

रसोई की स्वच्छता

उस समय शूद्रों और दासों से भी रसोई बनवाने का काम लिया जाता था,

परन्तु उनको आदेश था कि वे अपने बाल दाढ़ी और नाखून प्रतिदिन कटवाएं। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की स्वच्छता और सावधानता संसार में अद्वितीय है। आजकल की यूरोपीय सभ्यता भी इतनी सावधान नहीं।

स्त्रियों की अवस्था

सूत्रों और धर्म-ग्रन्थों में स्त्रियों के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न आज्ञाएं और भिन्न भिन्न मत प्रकट किये गये हैं। कुछ सूत्रों और शास्त्रों में स्त्रियों को ऊंचा स्थान दिया गया है और कुछ में बहुत नीचा। परन्तु यूरोपीय विद्वानों को समस्त शास्त्रों में से वे भाग छांट छांट कर उपस्थित करने का स्वभाव हो गया है जिनसे यह पाया जावे कि प्राचीन भारत में स्त्री की पदवी बहुत अपमानजनक थी। यहां तक कि कुछ सूत्रों या श्लोकों के अर्थ भी तोड़ मरोड़ कर उनसे अशुद्ध परिणाम निकाले जाते हैं। उदाहरणार्थ हम अध्यापक हापकिन्स की कुछ सम्मतियां यहां उद्धृत करते हैं: —

'कैम्ब्रिज हिस्ट्री' पृष्ठ २४७ पर स्त्रियों की स्थितिपर विचार करते हुए बौद्धायन और गौतम के प्रमाण से वे लिखते हैं कि स्त्री स्वतन्त्र नहीं, न यज्ञ के लिये न दाय के लिये। स्त्रियां सम्पत्ति हैं (अर्थात उनको व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा जाता है और उनके साथ उसी प्रकार वर्ताव किया जाता है)। इसके समर्थन में वशिष्ठ का आगे लिखा प्रमाण दिया गया है :—

"यदि कोई गैरव्यक्ति न्यास में रक्खी वस्तु को, या नाबालिग लड़कों की सम्पत्ति को, या खुले अथवा मुहर-बंद निक्षेप को, या स्त्री को या राजा या विद्वान ब्राह्मण की सम्पत्ति को,

उपभोग में लाये तो उस उपभोग से (मूल स्वामी का) कोई स्वत्व नष्ट नहीं हो जाता।" यहां पर स्त्रियों को ऐसी सम्पत्तियों में गिना गया है जिन पर अधिकार करने या जिनका उपभोग करने से प्रकृत स्वामी का अधिकार नष्ट नहीं होता। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि यहां पर उदाहरण रूप में स्त्री का वर्णन आया है। उससे यह तात्पर्य्य न था कि स्त्री को स्थावर या जंगम सम्पत्ति के रूप में वर्णन किया जावे। उक्त अध्यापक महाशय ने तीन शास्त्रों का—आपस्तम्ब, बौद्धायन, और वसिष्ठ का—प्रमाण दिया है, परन्तु स्त्रियों के विषय में किसी की भी पूरी आज्ञाएं नहीं लिखी गयीं।

वस्तुतः स्त्री की स्थिति सूत्र-ग्रन्थों व स्मृतियों में नीची नहीं। स्त्री को उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त है, स्त्री का अत्यन्त आदर करने का विधान है। माता की पदवी पिता और गुरू से भी ऊंची रखी गयी है। स्त्रियां अंतःपुर में ही बन्द न रखी जाती थीं उन्हें बाहर आने जाने की स्वतन्त्रता थी। कैम्ब्रिज हिस्ट्री (पृ० २६२—२६३) में लिखा है कि 'अधिक संभव है कि पर्दे की प्रथा ग्रहण करने के लिये हिन्दुओं को पश्चिमी जातियों ने विवश किया"। धर्म-सूत्रों में विधवा विवाह और नियोग को धर्म्म-सम्मत माना गया है। और इनके द्वारा उत्पन्न सन्तान को समाज में पूरे अधिकार दिये गये हैं।

दास-प्रथा

आर्यों में दासों का रिवाज न था। गौतम धर्म-सूत्र में मनुष्यों के क्रय विक्रय का घोर निषेध किया गया है।

सातवां अध्याय

आर्य्यों के महाकाव्य

महाकाव्य ।

संसारके साहित्य में महाकाव्यों को एक विशेष स्थान प्राप्त है। यूरोप के महाकाव्यों तथा युद्धकी कविताओं में यूनानी महाकवि होमर रचित इलियड और ओडेसी, तथा इटालियन कवि होरे रचित वर्जिल जगत-प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार फारसी में फिरदौसी का शाहनामा बड़ी उच्चकोटिकी पुस्तक है। संस्कृत साहित्य में रामायण और महाभारत को बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। उनकी कविता उत्तम, उनकी भाषा पवित्र और उनके विचार अति निर्मल हैं। संस्कृत साहित्य तो क्या, संसार भर के साहित्य में ये दोनों ग्रन्थ अद्भुत गिने जाते हैं। यूरोपीय विद्वान महाभारत की कथा को रामायण की कथा से प्राचीन मानते हैं, परन्तु हिन्दूविद्वान महाभारत को पीछेकी रचना मानते हैं। साधारणतया कहा जाता है कि महाभारत के महायुद्धमें हिन्दू-आर्य्य लोगों की [illegible]त्ता का अन्त हो गया। हिन्दुओंका विश्वास है कि रामा[illegible]युग की रचना है और महाभारत की अन्तिम लड़ाईसे [illegible] युगका आरम्भ हुआ,

जिसको आज लगभग पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। वास्तवमें निश्चयपूर्वक यह कहना कि जिन घटनाओं का इन ग्रन्थोंमें उल्लेख है वे कब घटित हुई और कब ये ग्रन्थ लिखे गये असम्भव है। कई पाश्चात्य विद्वानोंका विचार है कि जब आर्य लोगोंने पंजाबको पार करके गङ्गा और यमुनाके बीचके प्रदेशमें राजधानियां प्रतिष्ठित की थीं उस समय ये घटनाएं घटित हुईं। यह सम्भव है कि इनके घटित होनेके बहुत काल पीछे ये दोनों ग्रन्थ लिखे गये। परन्तु इन ग्रन्थों में इनकी रचनाकी जो कथा मिलती है वह इस विचारका समर्थन नहीं करती। डाक्टर हण्टर महाशय लिखते हैं कि यह सम्भव है कि रामायण के कुछ भाग महाभारत से पहलेके हों*। हिन्दू लङ्का-विजयके स्मारकके रूपमें प्रति वर्ष आश्विन में दसहरे का पर्व मनाते हैं, और फिर उससे कोई पन्द्रह दिन पीछे कार्तिक मासमें श्री रामचन्द्रजीके अयोध्यामें लौट आनेकी स्मृतिमें दीपावलीका त्यौहार करते हैं। दीपावली के उपलक्ष में सब हिन्दू-भवनोंमें सफ़ाई होती है, मकान सजाये जाते हैं और प्रत्येक मकान में प्रकाश किया जाता है, बाजारों में भी प्रकाश किया जाता है। मित्रों-सम्बधियों को मिठाई बांटी जाती है। हिन्दू-पुरुष और हिन्दू स्त्रियां रामायणकी कथा सुनने के लिये बड़े उत्सुक रहते हैं। इस कथा का सुनना वे बड़ा पुण्य कर्म समझते हैं।

रामायण

रामायण वाल्मीकि मुनिकी रचना है। यह श्रीरामचन्द्रजी महाराज के समयका इति-

* देखो हण्टर महाशय कृत 'इण्डियन इम्पायर' पृष्ठ १६६।

हास है, या यों कहिये कि यह उनका जीवनचरित है । पुस्तक की वर्णन-शैलीसे ऐसा जान पड़ता है कि इसका कर्त्ता श्रीरामचन्द्रजीका समकालीन था । क्योंकि कथा में अनेक स्थलोंपर ग्रन्थकर्त्ताका उल्लेख मिलता है। इसी महाकाव्य में आर्यों के दक्षिण और लङ्काको जीतनेका वर्णन है ।

रामचन्द्रजीकी कथा भारतवर्ष में बहुत प्रसिद्ध है ।

रामचन्द्रजी कोशल नरेश दशरथ के पुत्र थे। उनकी राजधानी अयोध्या में थी। अयोध्या अवध प्रान्तमें है। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय गङ्गाके निकट आर्यजातिके तीन बड़े राज्य थे। एक तो कोशल राज्य अवधमें, जिसमें महाराज रामचन्द्रजीका जन्म हुआ था। दूसरा उत्तर बिहारमें विदेहों का। यहांके राजा जनक विदेहकी पुत्री श्रीसीताजी से श्रीरामचन्द्रजी का विवाह हुआ। तीसरा काशीराज्य, वर्तमान बनारस के आसपास।

रामायणके प्रारम्भिक भागमें रामचन्द्रजीके जन्म, उनके शिक्षण, और उनके विवाह का वर्णन है। आर्यों के प्रसिद्ध ऋषि वसिष्ठ रामचन्द्र जी और उनके भाइयोंके गुरु थे। जब रामचन्द्र और उनके भाई विद्या प्राप्त कर चुके और जवान हो गये तब विश्वामित्र जी उन्हें म्लेच्छोंके साथ लड़नेके लिये ले गये। इस युद्धमें इन क्षत्रिय युवकोंने विजय पायी। तत्पश्चात [illegible] स्वयम्बर रचा गया। यहां रामचन्द्रजी ने समस्त [illegible] के राजाओं, महाराजाओं, और राजकुमारों के सामने, [illegible] धनु, जो किसीसे न उठता था—उठाया, और इस [illegible] स्वयंवर जीतकर राजकन्या सीता जी को प्राप्त किया।

रामचन्द्रजी महाराजा दशरथ के सबसे बड़े पुत्र थे। कुछ काल के अनन्तर राजाने उनके राज्याभिषेक की तैयारी की। इस पर उनकी छोटी रानी कैकेयी के मनमें ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि उत्पन्न हुई। यह भरत की माता थी। यह किसी समय रणमें अपने पति की सहायता करके उससे तीन वर पाने की प्रतिज्ञा ले चुकी थी। उसने इस समय वही प्रतिज्ञा स्मरण करायी, और राजा से वर मांगा कि रामचन्द्रजी को चौदह वर्षके लिये वनवास और मेरे पुत्र भरतको राजतिलक दिया जाय। महाराज दशरथ यह सुन कर बड़े दुखी हुए। यद्यपि उन्होंने रामचन्द्र जीको आप वनवास की आज्ञा नहीं दी, पर जब रामचन्द्र जी को सारी बातका पता लगा तब उन्होंने अपने पिताके वचन को पूरा करनेके निमित्त कैकेयी की इच्छानुसार कार्य करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। उनके छोटे भाई लक्ष्मण और धर्मपत्नी सीताजी भी उनके साथ चलने को तैयार हो गये। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी, उनके भाई लक्ष्मण और श्री-सीताजी, ये तीनों दण्डक वन के लिए चल पड़े। भरतजीने बड़े भाई के वियोग और माताके द्रोहपर केवल शाक ही नहीं प्रकट किया वरन सारे परिवार और राजकर्मचारियों को साथ ले वह रामचन्द्रजी को मार्गमें जा मिले और उनसे लौट आनेकी प्रार्थना करने लगे। पर उन्होंने ऐसा करनेसे इनकार कर दिया। तब वह उनकी खड़ाऊं साथ लाये और उनको राजसिंहासनपर रखकर आप केवल एक प्रतिनिधिके रूप में राज्य करने लगे।

रामायण की कथा बड़ी ही हृदयद्रावक है और आर्यों के धर्म तथा आचार का एक अत्युत्तम नमूना है।

इस घटनावलीको कविने ऐसी ललित और मर्मस्पर्शी भाषा में वर्णन किया है और मानवी भावों का ऐसी उत्तम रीति से चित्र खींचा गया है कि उसकी तुलना किसी दूसरे साहित्यमें कठिन है। कैकेयीके द्वेष, दशरथके शोक, रामचन्द्रजीकी पितृभक्ति और धर्मपरायणता, कौशल्याके संताप, लक्ष्मणके भ्रातृ-स्नेह तथा भक्तिभाव, और सीताजीके पातिव्रत्यका जो दुर्लभ चित्र रामायणमें देखनेको मिलता है वह आर्य्यों के उच्च आचार और पवित्र जीवनका आदर्श बताता है। इसी प्रकार से जब कवि भरतजीको जो उस समय अपने नाना के यहां थे, अयोध्या में वापिस लाता है तब वह और ही कवि-कौशल दिखलाता है। भरत का निस्वार्थ प्रेम और धर्मानुकूल आचरण प्रत्येक पाठक के सामने पवित्रता और शुद्ध प्रेमका आदर्श स्थापित करता है।

वनमें राम और लक्ष्मणपर अनेक विपत्तियां आती हैं। अन्त में उनके दुर्भाग्य की चरमसीमा आ पहुंचती है। एक दिन शिकार से वापिस आकर वे क्या देखते हैं कि सीताजी कुटीमें नहीं। ढूंढने और खोजनेसे पता लगता है कि लङ्का का राजा रावण उन्हें बलात उठा ले गया है। सीता जी के सतीत्व और रावण की कामान्धता का चित्र खींचनेमें भी कविने अप्रतिम कौशल दिखलाया है।

इसी सीताजीकी खोजमें दक्षिणकी विजयका वर्णन है। रामचन्द्र और लक्ष्मण वानर नामी दक्षिणी जातियों की सेना लेकर समुद्र के पार लङ्कापर धावा करते हैं, और लङ्काको जीतकर वहांका राज्य रावणके भाई विभीषणको प्रदान कर देते हैं।

वनवास की अवधिकी समाप्तिपर कवि महाराजा रामचन्द्र जीको लक्ष्मणजी, सीताजी तथा अन्य साथियों सहित बड़ी धूम-धामके साथ अयोध्या में वापस लाकर राजसिंहासन पर बैठाता है। कारण यह कि महाराज दशरथ का देहान्त तो रामचन्द्रजीके वन-गमनके समय ही हो गया था, और भरतजी इस कालमें केवल रामचन्द्रजीके प्रतिनिधिके रूपमें राज्य करते थे। यहांपर पुस्तकका पूर्वार्ध समाप्त होता है।

उत्तरार्द्ध की कथा यों है कि जब अयोध्या में लौट कर श्रीरामचन्द्र जी राज्य करने लगे तो एक दिन उनको यह पता लगा कि प्रजा सीता जी के रावण के घर में रहने का उपालम्भ देती है। वे, इस विचार से कि राजा को लोकमत की परवाह करनी चाहिये, गर्भवती सीता जी को घर से निकाल देते हैं। इस स्थल पर कवि ने राजधर्म का बड़ी सुन्दरता से वर्णन करते हुए बतलाया है कि यद्यपि महाराज रामचन्द्र जी को अपनी भार्या की पवित्रता पर कुछ भी सन्देह न था तो भी लोकमत के सामने सिर झुकाते हुए, उन्होंने ऐसी प्यारी स्त्री को, ऐसे संकट के समय में अकेली घर से निर्वासित कर दिया। सीता जी रोती धोती वन को चली गयीं। वहां वाल्मीकि मुनिने उन्हें अपने आश्रम में शरण दी। वहीं महारानी के दो पुत्र हुए। उनका पालन-पोषण और शिक्षण वाल्मीकि जी ने किया। इन के शिक्षण-काल में ही वाल्मीकि ने रामायण की रचना की और उसे इन लड़कों को कण्ठस्थ करा दिया। जब वे लड़के उसे कण्ठस्थ कर चुके तब उनको अपने साथ रामचन्द्र जी के यज्ञ में अयोध्या ले गये। वहां

वे रामायण सुनाते फिरते थे। यह समाचार फैलते फैलते महाराजा रामचन्द्र जी को भी पहुंचा। उन्होंने उन लड़कों को बुलाकर उनसे रामायण सुना। इसे सुनकर सीता जी के वियोग का दुख उनके हृदय में फिर ताजा हो गया। उन्होंने वाल्मीकि जी से कहा कि यदि प्रजा स्वीकृति दे तो मैं सीता को पुनःग्रहण करने को उद्यत हूं। वाल्मीकि जी को विश्वास था कि प्रजा पर अब सीता जी की पवित्रता सिद्ध हो चुकी है, और वे उसकी करुणोत्पादक दशा देख कर रामचन्द्र जी से उसको ग्रहण करने की अवश्य प्रार्थना करेगी। इसलिये ऋषि ने सीता जी को अयोध्या में बुला भेजा। सीता जी यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुईं और अयोध्या में चली आयीं। परन्तु जब रामचन्द्र जी ने प्रजा की सम्मति ली तो थोड़े से लोगों को अबतक भी विरोधी पाया। इस पर सीता जी को इतना भारी शोक हुआ कि वे तत्काल मूर्च्छित होकर गिर पड़ी और वहीं उनका प्राणान्त हो गया।

महाभारत आर्य्यों का दूसरा महाकाव्य महाभारत है। बहुत से ऐतिहासिक इसका समय ईसा से १४०० वर्ष पूर्व ठहराते हैं। यह पुस्तक व्यास जी की रचना बतायी जाती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि वर्त्तमान महाभारत किसी एक समय में लिखी हुई नहीं है। प्रत्येक काल के पण्डित इस में अपनी ओर से कुछ न कुछ वृद्धि करते आये हैं। यहां तक कि इस समय इसकी श्लोक-संख्या एक लाख से अधिक है। बहुत से विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि मूल पुस्तक बहुत

छोटी थी। कुछ इसे दस सहस्र श्लोक की और कुछ इससे भी कम की बतलाते हैं। डाक्टर हण्टर लिखते हैं कि मूल पुस्तक में केवल ८००० श्लोक थे। इसी कारण इस पुस्तक से उस समय की आर्य्य-सभ्यता का सच्चा और यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

महाभारत का युद्ध कौरवों और पाण्डवों के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु ऐतिहासिक पुस्तकों में यह युद्ध कौरवों और पांचालों का युद्ध कहलाता है। पाञ्चाल का राजा द्रुपद पाण्डवों का ससुर था। ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तर-कुरु का देश हिमालय के उत्तर में लिखा है। एक यूरोपीय विद्वान का मत है कि यह उत्तर-कुरु देश चीनी तातार के अन्तर्गत वर्त्तमान काशगर के पूर्व में था। परन्तु कई दूसरे विद्वान लिखते हैं कि वर्त्तमान काश्मीर प्रदेश ही उत्तर कुरु देश था। अस्तु, कुछ भी हो इस में सन्देह नहीं कि कुरु लोग उत्तरीय पर्वतों के रहने वाले थे। वहां से उतरकर उन्होंने गङ्गा और यमुना के बीच के प्रदेश में एक प्रबल राज्य की स्थापना की। जिस समय कौरव दिल्ली के निकट राज्य करते थे उस समय कन्नौज के समीप एक और प्रबल राज-धानी पाञ्चाल लोगों की थी। कौरव और पाण्डव एक ही वंश से थे, और उनकी आपस में बहुत घनिष्ठता थी।

संक्षेप में महाभारत की कथा इस प्रकार है:—

जब कुरु-कुल के राजा शन्तनु का देहान्त हुआ तब उसके दो पुत्र थे। उन में ज्येष्ठ भीष्म था। वह संस्कृत साहित्य में बालब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध है। उसने आजन्म ब्रह्मचारी

रहने की प्रतिज्ञा की * । भीष्म से छोटा लड़का शन्तनु के पश्चात् हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा । हस्तिनापुर इस राज्य की राजधानी थी । यह नगर जिस स्थान पर वर्तमान दिल्ली है वहां से ६५ मील उत्तर पूर्व दिशा में गङ्गा-तट पर बसा हुआ था । इस राजा के दो पुत्र हुए एक धृतराष्ट्र और दूसरा पाण्डु । धृतराष्ट्र चक्षुहीन था । पाण्डु के पांच पुत्र हुए । बाल्यावस्था में ही इनके पिता का देहान्त हो गया । पाण्डवों के अल्पव-

---

* इस प्रतिज्ञा का मूल कारण भी बड़ा मनोरंजक है , कहते हैं, एक दिन राजा शन्तनु शिकार खेलते हुए एक नदी के किनारे पहुंचे । वहां वह एक धीवर की कन्या पर आसक्त हो गये । उन्होंने विवाह के लिये धीवर से प्रार्थना की । धीवर ने कहा कि यदि आप वचन दें कि आप के पीछे मेरी कन्या का पुत्र राजसिंहासन पर बैठेगा तो मैं विवाह की स्वीकृति दे सकता हूं । महाराज शन्तनु उसकी वह बात न मान सके, क्योंकि इस से उन के बड़े पुत्र भीष्म का अधिकार छिनता था । जब भीष्म को यह समाचार मिला, तब उसने आप धीवर के पास जाकर प्रतिज्ञा की कि महाराज शन्तनु के पीछे राज्य का अधिकारी तुम्हारा दौहित्र होगा । परन्तु धीवर इस पर भी न माना । उसने कहा कि तेरी सन्तान मेरी कन्या की सन्तान से राजगद्दी छीन लेगी । इस पर भीष्म ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं विवाह भी नहीं करूंगा । तब धीवर ने स्वीकार कर लिया ।

इस कथा से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस काल में वर्य राजा लोग कहां तक कानून पर चलते थे । एक राजा का भी ह साहस न हो सकता था कि वह एक धीवर की कन्या को बलात र में डाल ले ।

यस्क होने के कारण राज्य का काम धृतराष्ट्र करने लगा। उसने अपने पुत्रों और पांचों पाण्डवों को शिक्षा-प्राप्ति के लिये द्रोणाचार्य्य के सपुर्द कर दिया। धृतराष्ट्र के पुत्र महाभारत में कौरव कहलाते हैं।

द्रोणाचार्य्य बड़ा विद्वान था। वह शस्त्र-विद्या और युद्ध-सञ्चालनकला में बड़ा निपुण था। वह पाञ्चाल के राजा द्रुपद से रुष्ट होकर यहां चला आया था। यह राजा द्रुपद से बदला लेना चाहता था। इस ने बड़े परिश्रम और योग्यता से अपने शिष्यों को शिक्षा दी। पाण्डवों में युधिष्ठिर सब से बड़ा था। यह धर्म-शास्त्र और ब्रह्म-विद्या में सब भाइयों से बढ़ा चढ़ा था। उससे छोटा भीम मल्ल-युद्ध और गतका खेलने में निपुण था। तीसरा अर्जुन धनुर्विद्या और खड्ग चलाने में अद्वितीय था। चौथा नकुल अश्वविद्या का और पांचवा सहदेव ज्योतिषका पण्डित था। सारांश यह कि यों तो पांचों के पांचों भाई साधारणतया योग्य, विद्वान और शास्त्रज्ञ थे, पर फिर भी उनमें से प्रत्येक एक विशेष काम में नाम रखता था।

धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन भीम के सदृश मल्ल-युद्ध और गतका खेलने में विशेष निपुण था। जब इन नवयुवकों की शिक्षा समाप्त हो चुकी तब उनकी परीक्षा की ठहरी। एक शुभ दिन इस काम के लिये नियत हुआ, और बहुत बड़ा उत्सव रचा गया।

समस्त प्रदेश की प्रजा एक विस्तृत क्षेत्र में राजकुमारों के करतब देखने के लिये एकत्र हुई। स्वयं महाराज धृतराष्ट्र

भी वहां पधारे। दुर्योधन की माता गान्धारी भी गयी। युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन की माता कुन्ती भी वहां उपस्थित थी। सब से पहले भीम और दुर्योधन के बल की परीक्षा आरम्भ हुई। दोनों बड़े आवेश में आकर लड़ने लगे। मनुष्य क्या थे, हाथी थे या बला थे। उनके कोलाहल से आकाश गूंजने लगा। दोनोंने पराक्रम की पराकाष्ठा दिखलायी। करीब था कि दोनों कट जाते, पर बलात उनको अलग कर दिया गया। अब अर्जुन मैदान में आया। इसने वह बाण छोड़े कि चारों ओर से 'साधु, साधु !' का शब्द गूंजने लगा। दर्शकों के मुख से प्रशंसा के वाक्य अनायास निकलने लगे। कुन्ती की छाती प्रसन्नता से फूली न समाती थी। बाणों के अतिरिक्त अर्जुन ने खड्ग और अन्य शस्त्रों से भी खूब करतब दिखाये। लड़का क्या, बलाका पुतला था। लक्ष्यभेदन में ऐसा निपुण, ऐसा अभ्यस्त, ऐसा कुशल-हस्त और ऐसा फुर्तीला कि उसके समान संसार में दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ। सारे कौशल दिखला कर वह गुरु जी की ओर बढ़ा। झुककर प्रणाम किया और अपने स्थान पर आ बैठा। अर्जुन का यश दुर्योधन से न देखा गया। उसकी छाती में द्वेष की ज्वाला धधकने लगी। वह जलकर कोयला हो गया। वह और उसके भाई एक और जवान को मैदान में लाये और पाण्डु-पुत्रों को उसके साथ लड़ने के लिये ललकारा। इस युवक का नाम कर्ण था।

राजपुत्र राजा लोगों के सिवा दूसरों के साथ लड़ना लज्जाजनक समझते थे। इसलिये दुर्योधन के विना महाराजा धृतराष्ट्र ने तत्काल कर्ण को राजा की पदवी दे दी। परन्तु जब

पाण्डुपुत्रों ने कर्ण से उसकी वंशावली पूछी तब उसने स्पष्ट उत्तर देने में संकोच किया। इस पर पाण्डवोंने वंशावली मालूम किये बिना कर्ण से मुकाबला करने से इनकार कर दिया।

अब द्रोणाचार्यने दक्षिणा* मांगी, अर्थात अपने परिश्रम के लिये पुरस्कार की याचना की। राजा ने कहा, मांगिये जो मांगते हैं। अग्निरूप ब्राह्मण ने इतने वर्षों तक जिस रहस्य को अपने हृदय में छिपा रखा था उसको प्रकट कर दिया और राजा द्रुपद से बदला लेने का वर मांगा। राजा वचन दे चुका था, और उसका पालन करना धर्म्म था। सारांश यह कि द्रोणाचार्य्य ने राजा द्रुपद पर चढ़ाई की और राज्य छीन लिया।

पाण्डुपुत्र युवा होते जाते थे और राजा वृद्ध होता जाता था। देश की रीति के अनुसार यह आवश्यक था कि किसी को युवराज चुना जाय। युधिष्ठिर सबसे बड़ा था और पिता के राज्य पर सबसे पहला अधिकार भी उसी का था। अतएव वही युवराज निर्वाचित हुआ। परन्तु दुर्योधन ने इस निर्वाचन को स्वीकार न किया और अपने पिता को बहकाकर पाण्डवों को देश से निर्वासित करा दिया। पाण्डवपुत्र हस्तिनापुर छोड़कर वारणावत नगर में (संभवतः बनारस के पास वर्तमान वारुणा नदी के तट पर) जा बसे। दुर्योधन ने यह सोचकर कि जब तक पाण्डव जीते हैं उनकी ओर से आशङ्का बराबर बनी हुई है, पाण्डवों के रहने के मकान में आग लगवा दी।

---

* प्राचीन काल में शिक्षण-काल में आचार्य शिक्षा देने के लिये फीस या वेतन न लेते थे। जब शिष्य ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा समाप्त कर लेता था तब वे अपने परिश्रम का पुरस्कार मांगते थे।

परन्तु विदुर* की कृपा से पाण्डवों को समय पर पता लग गया। वे अपनी मातासहित एक गुप्त मार्ग से बच निकले। जिन दिनों वे ब्राह्मणों के वेष में वनों में फिरते थे, पाञ्चाल देश के राजा द्रुपदने अपनी बेटी द्रौपदीका स्वयंवर रचा। स्वयंवर में उसने यह प्रण किया था कि जो पुरुष धनुर्विद्या में उच्च कोटि की योग्यता का परिचय देगा उसी के साथ द्रौपदी का विवाह कर दिया जायगा। एक लकड़ी पर एक चक्कर बांधा गया। उस चक्कर के ऊपर सोने की एक घूमती हुई मछली थी। एक भारी धनुष उपस्थित किया गया। प्रण यह था कि जो पुरुष उस घूमती हुई मछली की परछांही नीचे खौलते हुए तेल में देखकर उस की आंख में बाण मारे, वही द्रौपदी का पति बने। दूर दूर के देशों से राजा, राजकुमार धनुर्धर, पहलवान और क्षत्रिय इकट्ठे हुए। ब्राह्मणों ने वेदमंत्र उच्चारण करके यज्ञ किया। राज-कन्या द्रौपदी हाथ में फूलों की माला लेकर अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ राजभवन से उतरी। सब राजा और राजकुमार बारी बारी उठे और अपने भाग्य की परीक्षा करने लगे। परन्तु किसी को सफलता न हुई। कर्ण भी आगे बढ़ा। परन्तु उसे पीछे हटा दिया गया क्योंकि वह एक सूत का पुत्र प्रसिद्ध था। दर्शकों की पंक्ति में से एक पुरुष ब्राह्मण-वेष में आगे बढ़ा। धनुष उठाया, और बात करते करते लक्ष्य-

* विदुर कौरवों और पाण्डवों का चचा था। यह वही मनुष्य था जिसकी विदुरनीति प्रसिद्ध है। विदुर-नीति राजनीति-शास्त्र की एक प्रामाणिक पुस्तक है।

वेध कर दिया। चारों ओर से वाह वाह होने लगी। द्रौपदी ने जयमाल उसके गले में पहना दी। वीर ब्राह्मण ने राज-कन्या का पाणिग्रहण किया। जो क्षत्रिय राजा और राज-कुमार आये हुए थे उन्होंने शोर मचा दिया कि राजकन्या के साथ ब्राह्मण विवाह नहीं कर सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण ने अपना वेष उतार दिया और अपनी वंशावली बताकर अपने आप को पाण्डु-पुत्र अर्जुन प्रकट किया।

इस प्रकार स्वयंवर जीतकर जब पाण्डव अपनी माता के पास आये तो कहने लगे कि आज हमको एक उपहार मिला है। माता को क्या मालूम था कि क्या उपहार मिला है। उसने कहा कि यह उपहार पांचों का साझे का माल है। इस पर माताकी आज्ञा का पालन करने के लिये पांचों पाण्डुपुत्रों ने द्रौपदी से विवाह कर लिया।

अब तो पाण्डवों को एक प्रबल राजा की सहायता मिल गयी। राजाद्रुपद उनका सहायक हो गया। उसने धृतराष्ट्र को विवश किया कि वह आधा राज्य पाण्डवों को दे दे। इस बांट में भी पाण्डवों के साथ अन्याय ही हुआ। जंगली इलाका उनको मिला।

खाण्डवनामी वनको साफ करके पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ नगरी बसायी। इसके खण्डहर अबतक दिल्ली नगर के निकट विद्यमान हैं। फिर अपने पराक्रम और वीरता से उन्होंने और भी बहुत से प्रदेश जीत लिये, और अपनी विजय तथा उत्तम राज्य-प्रबंध के कारण अपने आपको राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी बना लिया। सभी राजा महाराजा इस यज्ञ में निमन्त्रित हुए। दुर्यो-

धनादि भी सम्मिलित हुए। श्रीकृष्ण को प्रधान की पदवी दी गयी। जब यज्ञ सम्पूर्ण हो चुका तब दुर्योधन ने हंसी हंसी में एक दिन युधिष्ठिर को जुआ खेलने पर सहमत कर लिया। धर्मात्मा युधिष्ठिर इस चाल में आ गया और जूए की बाजी में राज-पाट सब कुछ हार गया। यहां तक कि अपनी स्त्री भी दांव पर लगा दी और उसे भी हार गया। जब द्रौपदी को यह समाचार पहुंचा तो वह बहुत क्रुद्ध हुई। उसने दुर्योधन के पास जाने से इनकार कर दिया किन्तु दुःशासन उसको केशों से घसीटकर राजसभा में ले आया। उपद्रव हुआ ही चाहता था कि इतने में अंधे धृतराष्ट्र की सवारी आ गयी। उसने मध्यस्थ होकर यह निर्णय किया कि पाण्डव बारह वर्ष के लिये वन में चले जावें। बारह वर्ष के पश्चात एक वर्ष और छिपे रहें। यदि इस तेरहवें वर्ष में दुर्योधन उनका पता न पा सके तो चौदहवें वर्ष के आरम्भ में उनको उनका राज्य लौटा दिया जाय।

लाचार पाण्डवों को दुबारा वन में जाकर रहना पड़ा। बारह वर्ष वनों में घूमकर तेरहवें वर्ष उन्होंने राजा विराट के यहां नौकरी कर ली। तेरहवां वर्ष समाप्त होने को था अथवा हो चुका था कि हस्तिनापुर राज्य के मनुष्य विराट की गउएं ले गये। अर्जुन ने युद्ध करके उन गउओं को छुड़ाया। यद्यपि अर्जुन वेष बदले हुए था, उसको किसी ने नहीं पहचाना फिर भी दुर्योधन ने प्रसिद्ध कर दिया कि [अर्जु]न के सिवा और किसी में यह सामर्थ्य न थी जो यह काम [क]रता। जब पाण्डवों [ने] अपना राज्य वापस मांगा तब उसने इसी बहाने से राज्य देने से इनकार कर दिया। अन्त को दोनों में एक भारी युद्ध

हुआ। आर्य्यावर्त के सभी राजे इसमें सम्मिलित थे। कोई पाण्डवों की ओर कोई कौरवों की ओर। श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर थे, और इनकी सारी सेना कौरवों की ओर थी। यह सर्व विनाशकारी भयङ्कर युद्ध बहुत दिन तक रहा। इसमें द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, दुर्योधन और दुःशासन आदि सभी मारे गये। अन्त में असीम नर-संहार के पश्चात युधिष्ठिर को विजय प्राप्त हुई। युधिष्ठिर विजय पाकर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। आर्य्यावर्त के प्रायः सब राज्य उसने जीत लिये। अन्त में उसने अश्वमेध यज्ञ* किया। इससे उसे सारे भारतवर्ष के महाराजाधिराज की पदवी मिली। संक्षेप से महाभारत की कथा यही है।

महाभारत में धर्म्म, राजनीति और आचार पर बड़े बड़े दुर्लभ उपदेश हैं। एक प्रसंग में दूसरा प्रसंग चलाकर कथा को इतना बढ़ा दिया है कि पुस्तक क्या, एक असीम सागर है। इसे हिन्दू आचारशास्त्र (Ethics) और समाजशास्त्र (Sociology) का एक विश्वकोष कहना चाहिये। हिन्दू महाभारत को बड़े आदर और मान की दृष्टि से देखते हैं और उसकी कथा सुनते

* अश्वमेध यज्ञ—जब कोई राजा सारे राजाओं को जीत कर अपने अधीन कर लेता था तब उसे अधिकार होता था कि वह एक घोड़ा छोड़ दे। किसी राजा की मजाल न थी कि वह उस घोड़े को पकड़ ले। वर्षभर तक वह घोड़ा घूमता रहता था। वर्ष भर के पश्चात उसे पकड़ कर मारा जाता था। इस अवसर पर एक भारी यज्ञ रचा जाता था। इस में सारे राजा सम्मिलित होते और घोड़े के स्वामी राजा को महाराजाधिराज स्वीकार करते थे।

सुनाते हैं। सहस्रों वर्षों से इसकी बातें हिन्दुओं की धार्मिक और नैतिक अवस्था को प्रभावित करती चली आयी हैं। विवादों में पण्डित लोग बहुधा महाभारत के श्लोक प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं। भगवद्गीता भी महाभारत का एक भाग है। इस में श्रीकृष्ण और अर्जुन का रण-क्षेत्र में होनेवाला कथनोपकथन है।

भगवद्गीता

भगवद्गीता एक अतीव विलक्षण पुस्तक है। इसको हिन्दु आर्य्य बड़ी ही प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। इस पुस्तक का आरम्भ इस प्रकार होता है कि अर्जुन रण-क्षेत्र के मध्य में जाकर अपने सारथि श्रीकृष्ण से प्रश्न करता है कि हे कृष्ण! क्या मेरे लिये उचित है कि मैं संसार के राज्य के लिये अपने इन भाइयों, सम्बन्धियों और पूज्य पुरुषों से जो कौरवों की सेना में हैं, युद्ध करूं और उनके रक्त से अपने हाथ रंगूं?

श्रीकृष्ण इस प्रश्न के उत्तर में बतलाते हैं कि आत्मा अमर है उसको कोई नहीं मार सकता। वह अनश्वर पदार्थ है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि निष्काम भाव से अपने धर्म्म का पालन करे। धर्म्म-युद्ध में क्षत्रिय को उचित है कि लड़ाई करे, चाहे सामने कोई हो। जो क्षत्रिय युद्ध से विमुख होता है या रण-क्षेत्र से भागता है, वह अपने धर्म्म से पतित होता है।

यह पुस्तक अपनी शिक्षा, अपनी सुन्दरता, और अपनी गम्भीरता की दृष्टि से संसार की उन अद्वितीय पुस्तकों में से है जिनको सारा जगत श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इस समय संसार की कदाचित ही कोई साहित्यिक भाषा होगी जिसमें

भगवद्गीता का अनुवाद न हुआ हो। भारतवर्ष में तो यह पुस्तक प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में बिकती है। लाखों हिन्दू इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं। बहुत से साधु गीता का गुटका गले में लटकाये फिरते हैं।

श्रीकृष्णको* हिन्दू विष्णु का अवतार मानते हैं और गीता उनकी शिक्षा है।

ने एक अलग पुस्तक में लिखा है। वह संसार के महापुरुषों के सिल-सिले में छपी है।

आठवां अध्याय

रामायण और महाभारतके समयकी सभ्यता

महाभारत के विषय में यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि इसमें आर्य्य सभ्यता का जो चित्र है वह आवश्यक रूप से किसी एक काल का नहीं, क्योंकि मूल महाभारत में बहुत कुछ परिवर्त्तन होता रहा है। यही कारण है कि महाभारत में अनेक विषयों में परस्पर विरोधी आज्ञाएं पायी जाती हैं। मूल पुस्तक ऐतिहासिक काल से पूर्व की है; परन्तु वर्तमान रूप में उस के बहुत से भाग पीछे की रचनाएं हैं। भिन्न भिन्न समयों में इन ग्रन्थों में बहुत मिलावटें होती रही हैं रामायण में अपेक्षाकृत कम मिलावट है।

इन महाकाव्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाकाव्यों की सभ्यता वैदिक-साहित्य की सरलता का बहुत कुछ अतिक्रम कर चुकी थी। धर्म्म, आचार सामाजिक जीवन, और राजनीति आदि सभी बातों में जीवन अधिक जटिल और आडम्बरमय हो गया था। इन दोनों पुस्तकों में यद्यपि आचार का आदर्श बहुत ऊंचा है, परन्तु ऐसा सरल नहीं जैसा कि वैदिक-साहित्य में मिलता है। इन में सामाजिक संगठन भी वैसा सादा प्रतीत नहीं होता।

धार्मिक दृष्टि

धार्मिक दृष्टि से वेदों की एकेश्वर-पूजापर बहुदेव-पूजा का कलस चढ़ चुका था। वैदिक देवताओं के स्थान में विष्णु और शिव अधिक लोकप्रिय हो गये थे। यज्ञों की प्रक्रिया भी बहुत जटिल हो गयी थी। रामायण में महाराज रामचन्द्र को, और महाभारत में श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार कहा गया है। अवतारों की यह कल्पना भी वैदिक कल्पना नहीं है।

सामाजिक संगठन

इन किताबों में पीछे बहुत सी मिलावट होने के कारण इन में स्वभावतः कई समयों की सभ्यता तथा विचारों के चिन्ह पाये जाते हैं। इस लिये खास उस समय में जब कि रामायण और महाभारत की घटनाएं हुई ठीक तौर पर समाज का संगठन कैसा था इस बात का निर्णय करना प्रायः असम्भव ही है। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि उस समय—खासकर महाभारत के समय में—क्षत्रिय भी अपने विचार वैसे ही आज़ादी से प्रकट करते थे जैसे कि ब्राह्मण। आध्यात्मिकविज्ञान और तत्वज्ञान की भी आधार शिला रखी जा चुकी थी। इस के कुछ काल पश्चात सम्भवतः क्षत्रियों ने ही ज्यादातर ब्राह्मणों के यज्ञों और कर्मकाण्ड की जटिल विधियों के विरुद्ध आवाज़ उठायी जिसका आख़री परिणाम बुद्धधर्म के रूप में प्रकट हुआ। जनता भी सम्भवतः ब्राह्मणों के कड़े धार्मिक बन्धनों तथा रीतिरिवाजों के जटिल जाल से ऐसी तङ्ग आगयी कि उन में से कम से कम विचारशील लोग स्वतन्त्र रूप से सोचने लगे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विष्णु के ये दोनों अवतार जिनका

अद्‌भुत कार्यकलाप इन पुस्तकों में दिया गया है, क्षत्रिय वर्ण के थे और यद्यपि महाराज रामचन्द्रजी को धर्म्मोपदेश करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु श्रीकृष्ण महाराज ने धर्म का उपदेश किया। उनका उपदेश इस समय लोकप्रिय हो रहा है। इसके अतिरिक्त दोनों पुस्तकों में ब्राह्मणों को युद्ध-विद्या का आचार्य्य बतलाया गया है। यदि रामचन्द्रजी तथा उनके भाइयों को वशिष्ठजी तथा विश्वामित्रजी ने शिक्षा दी तो कौरवों और पाण्डवों के गुरु भी द्रोणाचार्य्य थे और वह ब्राह्मण थे। रामायण और महाभारत के काल में भी जाति-पांति के बन्धन अभी बहुत कड़े नहीं हुए थे, यद्यपि उन में वैदिक काल की सी सरलता न थी। महाभारत के नैतिक भाग में जहां जाति भेद को स्थान नहीं दिया गया वहां दास को भी पढ़ने पढ़ाने का अधिकार दिया गया है। "विद्वान दास नीति की भी शिक्षा दे सकता है।"

विवाहादि

स्त्रियों और पुरुषोंके सम्बन्धोंमें भी अधिक परिवर्तन हुआ जानपड़ता है। महाभारत-कालमें हिन्दू-समाजका चित्र बहुत सी बातों में वर्त्तमान यूरोपीय समाज के सदृश जान पड़ता है। यह स्पष्ट है कि स्त्रियों और पुरुषों के सम्बन्ध में ऐसे कड़े नियम न थे जैसे कि अब हैं। स्त्रियोंको स्पष्टतया अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। राज-परिवारों की स्त्रियां घोड़ोंपर चढ़ती थीं, शस्त्र चलाना जानती थीं और सभा समाजोंमें सम्मिलित होती थीं। स्त्री-शिक्षाका खूब प्रचार था, और गाना बजाना तथा नाचना भी बुरा न समझा जाता था। गुरु और शिष्यका

पवित्र सम्बन्ध था और ऋषियों तथा विद्वानों का आदर सब कोई करता था।

समाजकी आर्थिक अवस्था

रामायण एक ऐसे समाजका चित्र उपस्थित करती है जो बड़ा सुखी और समृद्धिशाली था, जो आचार और धर्मके उच्च आदर्श पर स्थित था और जिसमें प्रत्येक सदस्य धर्मात्मा और कर्त्तव्यानुरागी था। इन दोनों पुस्तकोंमें कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि जनता खाने पीने और पहनने की वस्तुओं के अभावसे अथवा दरिद्रतासे दुखी थी। कलाकौशल भी अच्छी उन्नत अवस्था में था।

राजनीतिक अवस्था

रामायण और महाभारतके काल में इस देश में बड़े बड़े नगर बन गये थे। यद्यपि आर्य्यों की राजनीतिक पद्धति का आधार गांव थे, जो अपने भीतरी विषयों में स्वतन्त्र थे, किन्तु बड़े बड़े नगरों में शासनप्रणाली किसी कदर अधिक जटिल हो गयी थी। रामायण और महाभारतकी भीतरी साक्षीसे यह मालूम होता है कि राजा स्वेच्छाचारी न था। जब महाराजा दशरथने रामचन्द्रजीको युवराजकी पदवीके लिये चुना तो उनका यह चुनाव प्रजाकी स्वीकृति से हुआ। अभिषेक के लिए तिथि नियत करने से पूर्व उन्होंने इस चुनाव को मंत्रियों और राजकर्मचारियों से स्वीकृत कराया और तत्पश्चात सर्वसाधारण से। हमारे पास यह कहनेके लिये यथेष्ट प्रमाण हैं कि आर्य्य-शासन-पद्धतिमें राजा कभी सर्वथा

स्वेच्छाचारी न था। उसका कर्तव्य था कि वह पञ्चायतके निर्णयों और राजनियमोंके अनुसार कार्य करे। आर्य्य-शासन-प्रणाली में कानून बनाने का अधिकार कभी राजा को नहीं दिया गया। कानून सदैव राजा से ऊपर समझा जाता था। वह श्रुतियों और स्मृतियोंके आधारपर ब्राह्मणों और ग्राम लोगोंके निर्णयों के रूप में जारी होता था। राजाके कर्तव्य ऐसे कठिन होते थे कि यदि उसके राज्य में कोई मनुष्य युवावस्थामें मर जाय, या दुर्भिक्ष या महामारी फैलजाय तो उसका उत्तरदाता राज्य को समझा जाता था। वरन यहां तक लिखा है कि प्रजा जो जो पाप करे उसका भी किसी कदर उत्तरदायित्व राजा पर है। यह भी लिखा है कि "राजा का शासन उसकी शक्ति के कारण नहीं वरन उसकी नैतिक श्रेष्ठता के कारण है। आचारहीन राजा को सिंहासनच्युत किया जा सकता है। जो राजा प्रजा की रक्षा करने के स्थान में उसको हानि पहुंचाये उसे मृत्यु दण्ड देना उचित है। वह पागल कुत्ते के सदृश है। टैक्सों का लगाना आवश्यक है क्योंकि प्रजा की रक्षा के लिये व्यय आवश्यक है। परन्तु टैक्स आवश्यकता के अनुसार हलके लगाने चाहिये।"

व्यापारिक कमेटियोंके नियमों में राजा को हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। मानों और बाटों का निरीक्षण किया जाता था। 'यह विश्वास करने का कोई हेतु नहीं कि धार्मिक मतभेदों के कारण युद्ध किये जाते थे*।' शासन (गवर्नमेंट) की बनावट इस प्रकार की थी। और यह किन नियमों पर अवलम्बित थी, इसका सविस्तर वर्णन हम अन्त में करेंगे।

* देखो, "कैम्ब्रिज हिस्ट्री" पृ० २

भीतरी और बाहरी वाणिज्य

भारतीय लोग सदा से विदेशों के साथ वाणिज्य व्यापार करते रहे हैं। इसके बहुतसे प्रमाण हमें दूसरी जातियों के साहित्य में मिलते हैं। रामायण और महाभारत में भी इस बात के यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं कि भारतीय लोग पश्चिम में अरब, ईरान, और इराक के साथ, और पूर्व में चीन और जापान के साथ व्यापार करते थे। वे नाविक-विद्या में बड़े निपुण थे।

युद्ध विद्या

महाभारत में इस प्रकार की अनेक साक्षियां हैं जिनसे विदित होता है कि युद्ध-विद्या में आर्य्यों ने बहुत कमाल पैदा किया था। वे बहुत से ऐसे शस्त्रास्त्रों को जानते थे जिनका अब किसी को ज्ञान तक नहीं। महाभारत का यह भाग शस्त्रास्त्र के वर्णन से भरा हुआ है। रामायण में भी युद्धकला का विशेष रूप से उल्लेख है। परन्तु दोनों महाकाव्यों से ऐसा मालूम होता है कि आर्य्य लोग अपने पारस्परिक युद्ध में लड़ने वाली जनता पर किसी प्रकार का अत्याचार न करते थे, और प्रजा उन संग्रामों में नष्ट न होती थी। योद्धा लोग आम तौर पर वे पाशविक कर्म न करते थे जो आधुनिक यूरोपीय युद्धोंकी विशेषता है। छिप कर शत्रुपर आघात करना, शस्त्रहीन रिपुका वध करना, अबलाओं और वृद्धों पर आक्रमण करना, अति कुत्सित कर्म समझे जाते थे। शत्रु की सम्पत्ति को लूट लेना भी उचित न था। इस सम्बन्ध में आर्य्यों का आचरण इतना उच्च था कि पांचों पाण्डवों ने युद्ध आरम्भ होने से पूर्व भीष्म पिता-मह की सेवा में उपस्थित होकर प्रणाम किया और उनसे

युद्ध आरम्भ करने की आज्ञा प्राप्त की। इन पुस्तकों से यह भी ज्ञात होता है कि आर्य्यों ने जब भी किसी आर्य्य या अनार्य्य राजा को पराजित किया तो उसे अपना दास नहीं बनाया, वरन उसे फिर उसका राज्य प्रदान कर दिया। उस समय आर्य्य शब्द ऐसा सम्मानसूचक था कि अनार्य्य कहलाना बड़ी भारी अप्रतिष्ठा की बात थी। गीता के दूसरे अध्याय के आरम्भ में जब महाराज कृष्ण अर्जुन की उदासीनता और उत्साह हीनता पर उसे धिक्कारने लगे तब उस समय उन्होंने उसके भाव को अनार्य्य ठहरा कर उसे उपालम्भ दिया। इन दोनों पुस्तकों में आर्य्यपुत्र एक बड़े सम्मान का शब्द गिना जाता था। किसी आर्य्य से कोई कपट-छल और वञ्चना का कर्म होना, अथवा भीरुता प्रकट होना अथवा कोई नीति और धर्म के विरुद्ध कार्य्य होना प्रायः असम्भव समझा जाता था। इन पुस्तकों में यद्यपि हमें आर्य्यों की त्रुटियों से भी (जिन में से जुआ खेलना विशेष रूप से उल्लेखनीय है) पर्याप्त शिक्षा मिलती है, परन्तु उनके सामान्य आचार और धर्म के आदर्श बहुत ऊंचे मालूम होते हैं। यही कारण है कि हिन्दुओं ने इन दोनों पुस्तकों के प,ने पढ़ाने और सुनने सुनाने को पुण्य कर्म ठहराया है। शताब्दियों तक हिन्दू लोग इन्हीं ग्रन्थों के विपुल भण्डार से लाभ उठाते रहे हैं। क्या ही अच्छा वर्त्तमान पीढ़ियां भी इनके अध्ययन को उसी प्रकार

नवां अध्याय

भारत की प्राचीनता पर एक नया प्रकाश

संसार में सभ्यता कहां से फैली इस विषय पर विद्वानों में बहुत मत-भेद है। यूरोपीय विद्वानों में एक मत यह है कि संसार में सभ्यता मिश्र से फैली। दूसरे मत के अनुसार सभ्यता का आदि-स्रोत भारतवर्ष है। एक और मत के विद्वान भी हैं जिनका कथन है कि संसार में सभ्यता का विस्तार बावल (बेबिलोनिया) तथा नेनेवा से हुआ—ये स्थान आजकल मैसोपोटामिया और सीरिया के अन्तर्गत हैं। इस कथन के अनुसार सभ्यता का मूलस्थान भूमध्यसागर के पूर्वीय देशों को मानना पड़ेगा। इन देशों में प्राचीन सुमेरिया भी शामिल है। बहुत से ऐतिहासिक अन्वेषकों का यह ख्याल है कि प्राचीन सुमेरिया के निवासी आर्य जाति के ही थे*। कुछ लोगों का कथन है कि सभ्यता का विस्तार भारत से सुमेरिया में हुआ। दूसरे लोगों का विचार है कि सुमेरिया से ही भारत में सभ्यता फैली।

भारत सरकार के पुरातत्व विभाग की नयी खोजों ने इस विषय पर अभी हाल ही में नया प्रकाश डाला है। कई अर्थों

---

* देखो अविनाशचन्द्र दास कृत 'Rigvedic India'

में ये खोजें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन खोजों से उन लोगों का दावा बहुत कुछ मज़बूत हो गया है जो यह कहते हैं कि दुनिया की सभ्यता का आदिस्रोत भारतवर्ष है। पिछले चार पांच सालों में पुरातत्व विभाग (Archeological department) ने पंजाब, सिन्ध व बिलोचिस्तान में जो खुदाई की है उस में से कुछ ऐसे ऐतिहासिक चिन्ह निकल हैं जिन के कारण इन अन्वेषकों के मत में भारतीय सभ्यता कम से कम ईसा से स.ढ़े तीन हज़ार साल पूर्व तक ठहरती है। यही काल ऐतिहासिक अन्वेषकों ने प्राचीन बैबीलोनिया, नेनेवा और मिश्र की सभ्यताओं के लिये निश्चित किया है। हम पहले कह आये हैं कि अभी तक उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर हमारे लिये यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि प्राचीन आर्य लोग भारत के ही मूल निवासी थे या कहीं बाहिर से आये थे और अगर कहीं बाहिर से आये थे तो कहां से आये थे और इस लिये यह कहना भी कठिन है कि पुरातत्व विभाग की इन खोजों से प्राचीन सभ्यता के जो चिन्ह उपलब्ध हुए हैं वह मूल आर्य सभ्यता के हैं या और किसी सभ्यता के। परन्तु क्यूंकि हमारा यह दावा है कि वेद अब से पांच हज़ार साल से बहुत पुराने जमाने की किताबें हैं, और वैदिक सभ्यता भारत में पांच हज़ार साल से बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी; इस लिये ये चिन्ह भी आर्य सभ्यता के ही चिन्ह हैं। साथ ही ये अन्वेषण भारतीय आर्य सभ्यता की प्राचीनता को कम से कम अब से छः हज़ार साल पहले तक ले आते हैं। इन खोजों से प्राचीन आर्य और सुमेरियन

सभ्यताओं में बहुत समानताएं सिद्ध होती हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों का विचार है कि छः हज़ार पहले के आर्य और सुमेरियन भिन्न भिन्न जातियों के थे, परन्तु इन नयी खोजों ने उन लोगों के विचार को अधिक मज़बूत बना दिया है जो यह समझते हैं कि प्राचीन हिन्दू आर्य और सुमेरियन लोग एक ही नसल और एक ही सभ्यता के थे।

खैर, अभी हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि आज से छः हज़ार बरस पहले के हिन्दुस्तान के निवासी किस नसल के थे। छोटी और बड़ी खोपड़ियों के आधार पर भिन्न भिन्न नसलों के सम्बन्ध में जो परिणाम निकाले जाते हैं वे अभी बहुत संदिग्ध और अनिश्चित हैं। भिन्न भिन्न जातियों और नसलों को भिन्न भिन्न श्रेणियों में बांटने की यह प्रणाली अभी सर्वमान्य भी नहीं कि उन के आधार पर कोई अन्तिम परिणाम निकाले जा सकें। दक्षिण एशिया और यूरोप के निवासियों को आमतौर पर लम्बे सिर वाले गिना जाता है। इन का नाम यूरोपीय विद्वानों ने "भूमध्य सागर की जातियां" रखा है। कहा जाता है कि आर्य और द्रविड़ दोनों इसी नसल के थे। ऐसी हालत में यह निश्चित करना और भी मुश्किल होजाता है कि आज से छः हज़ार साल पहले के भारतीय निवासी जिन के चिन्ह पंजाब, सिन्ध व बिलोचिस्तान में मिले हैं आर्य नसल के थे या द्रविड़ नसल के। सर जान मार्शल-जिन के निरीक्षण में ये सब खोजें हुई हैं- ने यह भी राय ज़ाहर की है कि मोहन-जो दारो से जो खोपड़ियां बरामद हुई हैं उन में से सिर्फ एक छोटे सिरवाली

है, बाकी लम्बे सिर की हैं। हमारी राय में यह वहस केवल कल्पना मात्र है और इस से कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाले जा सकते।

सिंध के मौजूदा किनारे से चार पांच मील के फ़ासिले पर जिला लारकाना में, रेलवे स्टेशन डोकरी से आठ मील पर, एक पुराने शहर मोहन-जो-दारो के खण्डरात ज़मीन से निकाले गये हैं। ये पुराने खण्डरात '*मोहन-जो-दारो*' के *आस पास करीबन* ढाई सौ एकड़ के रकबे में पाये जाते हैं। परन्तु इस पुराने शहर के कुछ भाग (इसकी चहार दीवारी और आस पास की आबादियों सहित) इस ढाई सौ एकड़ के अतिरिक्त आस पास की भूमि में दबे हुए हैं। खुदाई से मालूम हुआ है कि इस स्थान पर एक दूसरे के बाद क्रमशः छः शहर-एक दूसरे के खण्डरात पर-आबाद होते रहे। इन में से तीन के निशानात तीस फुट की गहराई तक पाये जाते हैं; जिससे यह नतीजा निकाला जाता है कि सिंध नदी की सतह पिछले पांच हज़ार साल में ३० फुट ऊँची होगयी है, और इर्द गिर्द के इलाके की ज़मीन भी उसके साथ इतनी ही ऊँची हो गयी है। इसी कारण से ज़मीन के नीचे पानी की सतह भी ऊपर चढ़ आई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अब इस प्राचीन शहर की सब से निचली इमारतें पानी में डूबी हुई हैं, और इस लिये उन के खोदे जाने की कोई सम्भावना नहीं। जो खण्डरात खोदे गये हैं वे उन आखिरी तीन शहरों के हैं जो इस जगह आबाद थे। स्वाभाविक तौर पर सब से उमदा और सुन्दर खण्डरात आखिरी शहर के हैं। जो खण्डरात ज़मीन से खोदे गये हैं वे अधिकतर रिहायशी मकानों और दुकानों के हैं; परन्तु चन्द ऐसी इमारतें हैं जो अपनी विशेष

प्रकार की बनावट के कारण मन्दिर मालूम होते हैं। एक ठोस इमारत गैर मामूली तौर पर लम्बी चौड़ी ऐसी बरामद हुई है जिसे स्नान-गृह या हम्माम कहा जा सकता है। ये सब इमारतें निहायत अच्छी पकी हुई ईंटों की हैं जिन्हें बड़ी उत्तम रीति से गारे के साथ जोड़ा गया है। कहीं कहीं चूना भी लगाया गया है। मकान दुमंजिले या ज्यादा मंजिलों के थे, और इन में अच्छे लम्बे चौड़े कमरे थे। कुछ बड़े मकान तो ठीक उसी नमूने के हैं जैसे अब भी हिन्दुस्तान में बने हुए हैं। इन के बीच में आंगन है और चारों ओर रिहायशी मकान। ऊपर की मंजिलों में पहुंचने के लिये ज़ीने लगे हुए हैं। बड़े बड़े मकानों में कुएं और स्नान-गृह बने हुए हैं, जिनके अन्दर पानी निकलने के लिये पक्की ईंटों की नालियां बनी हुई हैं। ऊपर की मंजिलों में पानी के निकलने के लिये परनाले बने हुए हैं। घरों की नालियां गली की बड़ी बड़ी नालियों में जाकर मिलती हैं। जो बड़ा स्नानगृह निकला है वह ३९ फुट ३ इंच लम्बा और २३ फुट चौड़ा और ७ फुट गहरा है। इसके दोनों किनारों पर सीढ़ियां बनी हुई हैं। चारों तरफ बरामदे और कमरे बने हुए हैं। इसमें ईंटों का बड़ा सुन्दर कार्य किया हुआ है। जोड़ों में चूना लगा हुआ है, और दीवारों पर "असफाल्ट" का लेप किया हुआ है, जिससे उन पर पानी का असर न होने पावे।

दूसरा शहर पंजाब में माण्टगुमरी से १५ मील के फासिले पर निकला है। इसका नाम 'हरप्पा' है। यह प्राचीन शहर मोहन-जो-दारो से दुगुना बड़ा था। जो इमारतें इस में से निकली हैं वे भी पक्की ईंटों की बनी हुई हैं, और आम तौर पर उसी नमूने की हैं जैसी मोहन-जो-दारो से निकली हैं। यहां एक

इमारत बहुतही बड़ी निकली है जो उत्तरसे दक्षिणको १६८फुट और पूर्व से पश्चिम को १३६ फुट है। इस इमारत की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह किस इस्तमाल में आती थी।

हरप्पा में जो प्राचीन वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं उनमें से कुछ खास का नीचे ज़िक किया जाता है।

एक तांबे का बर्तन उपलब्ध हुआ है जिसमें तांबे के शस्त्र और औज़ार हैं—जैसे कुल्हाड़ियों भालों, बल्लमों, आरों, आदियों के सिरे। इन में से कुछ औज़ारों पर चित्र-लिपि (Pictographic Script) में कुछ लेख भी मौजूद हैं। इस के अतिरिक्त १५० मुहरें तथा मट्टी की मुहरें (Terracotta seals) भी उपलब्ध हुई हैं। एक मुहर पर सात आदमियों के एक जलूस की तसवीर है जिन्होंने घुटने तक के पजामें (Kilts) और सिरों पर लोहे की टोपियां (helmets) पहनी हुई हैं। एक और तस्वीर में एक आदमी की तस्वीर है जो शेर पर एक मचान पर से हमला कर रहा है। तीसरी मुहर पर एक आदमी की तसवीर है जो झंडा उठाये जा रहा है। इन खण्डरात में एक तांबे की गाड़ी का नमूना भी मिला है-यह गाड़ी दो पहियों की बनी हुई है जिसमें आगे गाड़ीवान बैठा है।

सर जान मार्शल ने इन इमारतों का समय ईसापूर्व ढाई या साढ़े तीन हज़ार वर्ष निश्चित किया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि चाहे ये इमारतें ईसा से साढ़े तीन हज़ार वर्ष पूर्व की ही हों, परन्तु ये जिस सभ्यता की साक्षी देती हैं वह इ के निर्माण काल से बहुत पहिले की होनी चाहिये।

इन उपर्युक्त अन्वेषणों से यह ज्ञात होता है कि उस समय शहरों का जीवन शान्ति, सुख व आराम का जीवन था। शहरों का वैभव उन्नति पर था। मकानों की सुदृढ़ बनावट, उनके अन्दर कुओं और स्नानगृहों की मौजूदगी शहर के गन्दे पानी के निकास के लिये उत्तम नालियों का प्रबन्ध ये सब बातें प्रकट करती हैं कि उस समय इन नगरों के निवासियों का सामाजिक और नागरिक जीवन पर्याप्त उन्नत था। और वे तत्कालीन सुमेर के निवासियों के बराबर और बाबल और मिश्र के निवासियों से बहुत बढ़े हुए थे। बाबल व मिश्र के प्राचीन शाहीमहल, मकबरे और मन्दिर अवश्य ज्यादा अच्छे मालूम पड़ते हैं, परन्तु वहां सर्वसाधारण लोगों के मकानात ऐसे अच्छे नहीं निकले जैसे हिन्दुस्तान के इन प्राचीन शहरों में सर्वसाधारण लोगों के मकानात उपलब्ध हुए हैं। बाबल और मिश्र में उपलब्ध रिहायशी मकानों की कोई तुलना भारत में उपलब्ध रिहायशी मकानों से नहीं हो सकती।

मोहन-जो-दारो और हरप्पा के प्राचीन निवासी मुख्यतः कृषि पर ही गुज़ारा करते थे। यद्यपि इस बात को जानने के लिये कि उस समय कृषि और नहरों आदियों का क्या प्रबन्ध था, अभी काफी सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। मोहन-जो-दारो में गेहूं का जो नमूना मिला है वह उसी किस्म का है जो आज-कल पंजाब में पैदा होता है। सर जान मार्शल की सम्मति में यह मानने के लिये पर्याप्त कारण मौजूद हैं कि उस समय पश्चिमी पंजाब व सिंध में वर्षा आज कल से बहुत ज्यादा होती थी और उस समय सिंध का भूमिभाग एक नदी की बजाय दो

बड़ी नदियों से सिंचित होता था।

रोटी के अतिरिक्त उस समय के लोग कई प्रकार के मांस, मछली व अन्य समुद्री जलजीवों पर भी अपना निर्वाह करते थे। दूध भी उनके भोजन का एक आवश्यक भाग था। पालतू जानवरों में दो प्रकार के सांडों के निशान मिलते हैं, एक वह जिसके सींग छोटे होते थे और दूसरा वह जिसकी पीठ पर कुहान निकला होता था। इसके अतिरिक्त भेड़, सुअर कुत्ता, घोड़ा और हाथी भी पाले जाते थे; परन्तु ऊंट और बिल्ली के कोई चिन्ह उपलब्ध नहीं हुए। कुत्ते की भी दो किस्में मिली हैं: एक मामूली बाजारू कुत्तों की किस्म का, और दूसरा आधुनिक "बुल-डाग" की तरह का। सर जान मार्शल की राय में सम्भवतः यह कुत्ता उसी किस्म का था जिस किस्म का सिकन्दर महान ने आज से दो हज़ार बरस पहले हिन्दुस्तान में देखा था, और जिसके विषय में यूनानी ऐतिहासिक एरियन ने लिखा है कि अगर एक बार यह कुत्ता शेर को भी पकड़ लेता था तो जब तक दम में दम रहता था उसे छोड़ता न था, चाहे उसकी टांग काट ली जाय। पत्थरों की मुहरों पर चीते, मेंढ़े और हाथी आदि जंगली जानवरों की भी तसवीरें हैं।

घरों से अगणित तकलियां भी उपलब्ध हुई हैं, जिन से मालूम होता है कि कातने बुनने का आम रिवाज था। कपड़े के कुछ टुकड़े भी मिले हैं जो सन (linen) के मालूम होते हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस समय रुई का रिवाज था या नहीं। मर्दों का पहिरावा एक इस प्रकार का जामा होता था जो घुटनों तक आता था और छाती के इर्द गिर्द बांधा जाता था; और कंधे पर एक शाल इस तरह लिपटा हुआ

होता था कि दहिने हाथ को काम करने में रुकावट न हो। इस बयान से मालूम होता है कि उस समय हिन्दुस्तान में एक लम्बे चोगे का रिवाज था जिसके ऊपर शाल उसी तरह ओढ़ा जाता था जैसा अब भी हिन्दुस्तान में ओढ़ा जाता है। एक पत्थर पर स्त्री की तस्वीर है जिसमें बाल पिछली तरफ बिखरे हुए हैं। गरीब लोगों में मर्द नंगे और औरतें लंगोटीदार मालूम होती हैं। ऐसा मालूम होता है कि जेवरों का आम रिवाज था। गले में हार और हाथों पर अंगूठियें-मर्दों व औरतों दोनों के, पायी जाती हैं। औरतें कानों में बालियां, हाथों में कड़े और पैरों में पायज़ेब और कमर में तगड़ियां पहनती थीं। ज़ेवरात चांदी, सोने, व हाथीदांत, कार्नेलियन और भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरों के होते थे। खालिस सोने की कानों की बालियां और बुनने की सुइयां ऐसी उपलब्ध हुई हैं जिन पर बहुत ही सुन्दर पालिश किया हुआ है जैसा आजकल के अच्छे कारीगर सुनार ही कर सकते हैं। सोने चांदी के इलावा उस समय लोग तांबा, टीन और सीसे का भी प्रयोग जानते थे। रांगे के भी कुछ औज़ार मिले हैं। ऐसा मालूम होता है कि हथियार और औज़ार अधिकतर तांबे के बनाये जाते थे।

इन खण्डहरों में से मिट्टी के बर्तन भी कई प्रकार के उपलब्ध हुए हैं। बहुत से बर्तन सादे हैं, परन्तु कुछ पर बड़ा सुन्दर काम हुआ है। खुदी हुई मुहरें और अन्य इस प्रकार की वस्तुएं प्रायः सभी मकानों से निकली हैं। इस से यह परिणाम निकलता है कि इन शहरों के लोग लेखनकला और उस समय की लिपि से अच्छी तरह परिचित थे, और

व्यापार आदि में लेखनकला का आम प्रयोग होता था। ऐसा मालूम होता है कि इन लोगों की कारीगरी ऐसी बढ़ी हुई थी जिस के मुकाबले की कोई चीज़ मिश्र या मैसोपोटामिया में नहीं पायी गयी। यद्यपि मनुष्यों की मूर्तियां बनाने का उन्हें ऐसा अभ्यास नहीं मालूम होता जैसा सुमेरिया के कारीगरों को था।

मोहन-जो-दारो में दो स्थानों पर मनुष्यों की खोपड़ियों के ढेर मिले हैं। प्रथम एक घर के अन्दर, और दूसरे एक गली में। ये सब किसी आकस्मिक दैवीय आपत्ति-अकाल आदि-के शिकार मालूम होते हैं। मोहन-जो-दारो में उस समय की सिर्फ एक ही सार्त्ता उपलब्ध हुई है जिस से मालूम होता है कि मुर्दे के जिस्म का कुछ हिस्सा दफनाया जाता था और कब्र में उसके साथ कुछ मिट्टी के बर्तन व अन्य वस्तुएं भी दबायी जाती थीं। इस प्रकार की कब्रें बिलोचिस्तान में 'नाल' और पश्चिमीय ईरान में 'मूसियान' ना।ि स्थानों से भी उपलब्ध हुई हैं। परन्तु हरप्पा में ऐसी कोई कब्रें उपलब्ध नहीं हुईं। हरप्पा से छोटी ईंट की बनी हुई हिन्दू समाधियों की किसम की समाधें उपलब्ध हुई हैं, जिन में जली हुई हड्डियां हैं और दाह करने का एक चबूतरा भी मिला है जिस पर कुछ राख और जली हुई हड्डियां पड़ी हुई मिली हैं। यह याद रखना चाहिये कि मोहन-जो-दारो से मुर्दा दफनाने की एक

सर जान मार्शल की राय है कि यद्यपि कई वस्तुएं ऐसी प्राप्त हुई हैं जिन से यह ज्ञात होता है कि उस समय सिंध की सभ्यता का संबन्ध मेसोपोटामिया की सभ्यता से था, और सिंधि व पश्चिमी एशिया के लोगों में बहुत सी बातों में समानता थी, परन्तु बहुत सी ऐसी चीज़ें भी मिली हैं जिनसे मालूम होता है कि सिंध की सभ्यता पश्चिमी एशिया की सभ्यता की बिलकुल नकल न थी । यह सभ्यता वर्तमान सिंध, बिलोचिस्तान, वज़ीरिस्तान, पंजाब, तथा कच्छ और काठियावाड़ में फैली हुई थी। अभी इस बात के प्रमाण नहीं मिले कि यह सभ्यता राजपूताना, तथा उत्तरीय भारत के गंगा यमुना के दुआबों में फैली हुई थी या नहीं। ज्यादा सम्भव यही है कि यह उत्तरीय तथा उत्तर-पूर्वीय भारत में भी इतनी ही फैली हुई थी जितनी कि इन प्रदेशों में फैली हुई थी । परन्तु हिन्दुस्तान में यह सभ्यता कहां तक फैली हुई थी इस प्रश्न को छोड़कर, सर जान मार्शल की राय है कि इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यह सभ्यता भी उसी सभ्यता का अंश थी, जो उस समय एशिया और यूरोप में प्रधान रूप से फैली हुई थी, और जो एड्रियाटिक समुद्र से जापान तक और मुख्यरूप से दक्षिण की बड़ी बड़ी नदियों–नील, दजला व फ्रात, करन, हेलमन्द और सिंध-के किनारों पर केन्द्रित थी। यह प्रश्न वस्तुतः बहुत ही महत्वपूर्ण है; क्योंकि इसका तात्पर्य यह है कि उस समय हिन्दुस्तान भी उसी सभ्यता के दायरे में था जो बाकी एशिया में फैली हुई थी, और आगे भी हिन्दुस्तान की सभ्यता का विकास और विस्तार उसी प्रकार से होता गया जिस प्रकार एशिया की अन्य जातियों की सभ्यता का। परन्तु

यह प्रश्न अभी विवादास्पद है कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में भारत को उसके एशिया के पड़ोसियोंने कुछ मार्ग दिखाया था या वह स्वयं अपने ही पैरों पर खड़ा हुआ।

जहां तक मैसोपोटामिया का सम्बन्ध है, सिंध, सुमेर व बाबल की सभ्यताओं में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। इन प्रदेशों में परस्पर अवश्य ही बहुत अधिक सम्बन्ध रहा होगा। यह सम्बन्ध कुछ तो समुद्र के मार्ग से था और कुछ सीस्तान और ईरान के मार्ग से। परन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि इन देशों में परस्पर समानताओं की अपेक्षा असमानताएं बहुत अधिक हैं। इस समय तक हमारे पास इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं कि इन प्रदेशों में परस्पर कोई नसल या भाषा,सम्बन्धी ताल्लुक था। अगर कोई ऐसा सम्बन्ध रहा भी होगा तो वह बहुत पहले रहा होगा। क्यूंकि जितनी असमानताएं हमें इन में दिखाई देती हैं वह काफी समय के बाद पैदा होनी चाहिये। समानताओं के आधार पर तो थोड़ा बहुत सम्बन्ध सीस्तान, पश्चिमी ईरान, कश्यप सागर (कास्पियन सागर) के पार के प्रदेशों और मिश्र के साथ भी दिखाया जा सकता है। इस लिये सब जातियों में कितना, कहां तक और क्या सम्बन्ध था और अपनी अपनी सभ्यता के लिये ये जातियां कहां तक एक दूसरे पर आश्रित रही होंगी, इस सारी उलझन को सुलझाने के लिये अभी बहुत अन्वेषण कार्य की आवश्यकता है।

यद्यपि देर से ऐतिहासिक विद्वानों की यह सम्मति स्थिर होती जा रही है कि सुमेरिया और मिश्र की सभ्यताओं का

आदि स्थान पूर्वीय मैसोपोटामिया में किसी स्थान को निश्चित करना चाहिये; परन्तु अगर कोई ऐसा स्थान वास्तव में रहा हो तो उसके भारत के इन प्रदेशों में होने की भी उतनी ही सम्भावना हो सकती है। खैर जब तक इस प्रश्न के निर्णय के लिये पर्याप्त सामग्री उपस्थित न होजाय हम इस विवाद को यहीं छोड़ते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि मोहन-जो-दारो और हरप्पा आदि की इन खोजों ने भारतीय इतिहास की खोज के लिये एक नया क्षेत्र उपस्थित कर दिया है और यह आशा करनी चाहिये कि इन खोजों के पूर्ण होने पर हमें भारतीय इतिहास के प्राचीन काल पर जहां बहुत सी नयी बातें मालूम हो सकेंगी वहां बहुत सम्भवतः भारतीय इतिहास के विषय में अब तक की हुई बहुत सी स्थापनाओं में भी परिवर्तन करने आवश्यक होजायंगे।

—:o:—

तीसरा खण्ड

"ऐतिहासिक काल" का आरम्भ

दसवां अध्याय

तत्कालीन भारत की सामान्य अवस्था

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, ईसा के जन्म से सात सौ वर्ष पूर्व से लेकर उसके बाद हमें भारतवर्ष का बहुत कुछ क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध होता है। इसी लिये इसे हमने "ऐतिहासिक काल" नाम दिया है। इस समय भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था का एक नया सा चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। नये नये राष्ट्र और राज्य, उन के नये प्रकार के परस्पर सम्बन्ध; इसी प्रकार आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक बातों में भी हमें उन अवस्थाओं से कुछ विभिन्न अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं जिनका वर्णन हम पिछले पृष्ठों में कर आये हैं।

इस अवस्थाओं का दिग्दर्शन हमें ज्यादातर प्राचीन बौद्ध ग्रंथों द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त सीमावर्ती प्रदेशों पर यूनानियों, ईरानियों तथा अन्य विदेशी जातियों के आवागमन और प्रभुत्वादि के संबन्ध में हमे विदेशी लेखकों के प्राचीन लेखों के आधार पर बहुत सी घटनाओं का परिचय मिलता है। यही वह काल है, जब भारत में महात्मा बुद्ध और महात्मा

महावीर ने बड़ी भारी धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न की। आगे हम संक्षेप से इन सब बातों का उल्लेख करेंगे; परन्तु उससे पहले तत्कालीन भारत की सामान्य अवस्था का संक्षेप से वर्णन करना आवश्यक है।

उस समय के राजनीतिक विभाग

महात्मा बुद्ध के जन्म से कुछ काल पूर्व हमें भारत वर्ष में सोलह मुख्य मुख्य राज्यों के नाम मिलते हैं। इन राज्यों में कुछ एकतन्त्र थे, और कुछ प्रजातन्त्र थे। ये सोलह राज्य "षोडश महाजनपद" कहाते हैं। इन राज्यों के नाम ये हैं:—

१ मगध—इसकी राजधानी राजगृह थी। परन्तु बाद को पाटलिपुत्र राजधानी बन गयी। पुराणों के अनुसार ६५२ ई० पू० में शिशुनाग नामी राजा ने मगध के राज्य पर अधिकार किया। इस वंश का पांचवां राजा बिम्बिसार था। उस ने अंग देश (वर्तमान भागलपुर तथा मुंगेर) को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद मगध देश की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती गयी। बिम्बिसार के बाद उसका पुत्र अजातशत्रु गद्दी पर बैठा। उस ने २७ वर्ष राज्य किया। उसने सोन नदी पर पाटलि नाम का एक दुर्ग बनाया। यही पीछे से पाटलिपुत्र हो गया। इसकी माता प्रसिद्ध लिच्छवी जाति की थी, और भार्या कोशल की राजकुमारी थी। अजातशत्रु के पश्चात उसका पुत्र दर्शक ईसा से लगभग ५२७ वर्ष पूर्व सिंहासन पर बैठा। दर्शक के पश्चात उसका पुत्र उदयन ईसा से ५०३ वर्ष पूर्व राजा
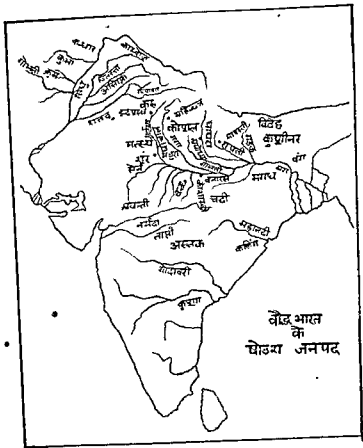
बौद्धकाल के सोलह महाजनपद

बना। इस राजा ने गङ्गा-तीरपर पाटलिपुत्र से कुछ मील दूर; कुसुमपुर नामक एक नगर बसाया।

इसके बाद मगध की शक्ति किस प्रकार बढ़ती गयी इसका वृत्तान्त हम आगे चलकर लिखेंगे।

२. कोशल—दूसरा राज्य उत्तर पश्चिम कोशल का था। बुद्ध के समय यह बड़ा महत्वशाली राज्य था। इसकी राजधानी राप्ती नदी के किनारे "श्रावस्ती" थी। आगे चलकर यह राज्य भी मगध के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

३. तीसरा राज्य कोशल से दक्षिण की ओर "वत्स" लोगों का था। इसकी राजधानी यमुना तट पर "कौशाम्बी" (वर्तमान अलाहाबाद के समीप 'कोसम') थी। इसमें परन्तप का पुत्र उदयन राज्य करता था, जो बिम्बिसार का समकालीन था।

४. अवन्ति—चौथा राज्य अवन्ति का था—इस की राजधानी 'उज्जयन' थी। यहां राजा चण्डप्रद्योत इस समय राज्य करता था।

५. अंग—इसकी राजधानी 'चम्पा' वर्तमान भागलपुर के समीप थी, परन्तु जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं इसे मगध राज्य में शामिल कर लिया गया।

६. काशी—यह बनारस ज़िले के आस पास इलाके पर स्थित था। उस समय भी 'बनारस' भारत के प्रसिद्ध नगरों में से एक नगर था। परन्तु बुद्ध के समय इसकी स्वाधीनता प्रायः नष्ट हो चुकी थी।

७. वज्री या वज्जी—इस के अन्तर्गत आठ संयुक्त "कुल"

थे, जिन्हें "अष्ट कुल" कहा गया है। इन आठकुलों का यह एक सम्मिलित राज्य (Confederacy) था। इन आठ कुलों में लिच्छवि तथा विदेह मुख्य थे। बुद्ध के समय इनकी शासन-प्रणाली प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर थी। विदेह लोगों की राजधानी 'मिथिला' थी। लिच्छवि लोगों की राजधानी वैशाली थी।

८. मल्ल—इन लोगों का एक केन्द्र कुशावति (कुशीनारा) तथा दूसरा 'पावा' था। इनकी शासन-प्रणाली भी प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार थी। कुशीनारा सम्भवतः वर्तमान ज़िला गोरखपुर में 'कसिया' नामक स्थान के कहीं आसपास था।

९. चेदि—यह राज्य लगभग वर्तमान बुंदेलखंड और आसपास के इलाकों में स्थित था। इसकी राजधानी शुक्तिमति वर्तमान 'बान्दा' के समीप थी।

१०. कुरु—कुरु लोगों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। इसके पूर्व में पांचाल और दक्षिण में मत्स्य जातियां बसती थीं। इस राज्य का क्षेत्रफल दो सहस्र वर्गमील के लगभग लिखा है। बुद्ध के समय इनका राजनीतिक महत्व प्रायः नष्ट हो चुका था।

११. पांचाल—इन के दो राज्य—एक गंगा के उत्तर में और दूसरा दक्षिण में—थे। प्रथम की राजधानी काम्पिल्य थी और दूसरे की कन्नौज। कुछ ने प्रथम की राजधानी अहिच्छत्रा भी लिखी है।

१२. मत्स्य—मत्स्य लोग यमुना के पश्चिम तथा कुरुओं के दक्षिण में थे।

१६. शूरसेन—इन की राजधानी 'मथुरा' थी।

१४. अस्सक—बुद्ध के समय गोदावरी के किनारे एक बस्ती अश्मक या अस्सक लोगों की थी। इनकी राजधानी पोतन या पोतली थी।

१५. गान्धार—या वर्तमान कन्धार पूर्वीय अफगानिस्तान तथा पश्चिमोत्तर पंजाब के प्रदेशों में स्थित था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। बुद्ध के समय गान्धार के राजा के दूत बिम्बिसार के दर्बार में आये थे।

१६. कम्बोज—प्रोफेसर रिस डेविड्स के अनुसार यह राज्य पश्चिम में कच्छ के समीप था, और इसकी राजधानी 'द्वारका' थी। परन्तु अन्य कई ऐतिहासिकों के अनुसार यह उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में गांधार और वर्तमान पुंछ रियासत के मध्यवर्ती प्रदेशों में स्थित था। और इसकी राजधानी 'द्वारका' पश्चिमी 'द्वारका' से पृथक थी।

• इनके अतिरिक्त कुछ और स्वाधीन जातियों का उल्लेख है। वे प्रजातन्त्र-सिद्धान्तों पर शासन करती थीं। उनकी शासन-प्रणाली कई बातों में प्राचीनकाल के यूनानी प्रजातन्त्र राज्यों के सदृश थी। इन प्रजातन्त्र जातियों में सब से बड़ी शाक्य जाति थी। इसके विषय में लिखा है कि उसका प्रबन्ध और विचारसम्बन्धी कार्य एक सार्वजनिक सभा में कपिलवस्तु के समीप हुआ करता था। इस में छोटे बड़े सभी सम्मिलित होते थे। दूसरी जातियों के जो सन्देश और पत्र आते थे वे भी इसी प्रतिनिधि सभा में उपस्थित होते थे।

इन लोगों की रीति थी कि एक मनुष्य को एक अधिवेशन के लिये, या जब अधिवेशन न होते थे तो कुछ काल के लिये प्रधान चुन लेते थे।

निर्णय और न्याय संबन्धी (जुडीशल) प्रबन्ध के विषय में ऐतिह्य कहता है कि वज्जी-वंश के संयुक्त राज्यों में फौजदारी की अदालतों के छः दर्जे थे। उन में से प्रत्येक को दोषी को छोड़ देने का तो अधिकार था; परन्तु किसी एक को उसे दण्ड देने का अधिकार न था। यदि वे छः एकमत होकर किसी व्यक्ति को अपराधी ठहरावें तो राजा धर्म्म के अनुसार दण्ड देता था। यह नहीं कहा जा सकता कि यह रीति सभी राज्यों में प्रचलित थी। परन्तु इस से इतना तो अवश्य प्रकट हो जाता है कि उस समय के लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कितनी परवा करते थे।

उस समय के बड़े बड़े नगर। प्रोफेसर रिस डेविड्ज़ने उस समय के बड़े बड़े नगरों की आगे लिखी सूची अपनी पुस्तक में दी है:—

(१) अयोध्या, जो सरयू नदी पर थी।

(२) गङ्गा-तीर पर बनारस, इसका विस्तार पचासी मील बताया गया है।

(३) चम्पा, यह अङ्ग देश की प्राचीन राजधानी थी और चम्पा नाम की नदी पर स्थित थी।

(४) काम्पिल्य, उत्तरीय पांचाल जाति की राजधानी थी और गंगा के उत्तरीय तट पर स्थित थी। ज़िला फर्रुखाबाद में फतेहगढ़ से अठाईस मील उत्तर पूर्व वर्तमान 'कांपिल' नामी स्थान पर यह नगर बसा हुआ था।

(५) कौशाम्बी, बनारस से २३० मील दूर यमुना-तट पर स्थित थी। यह व्यापार की बहुत बड़ी मण्डी थी।

(६) मधुपुरी, यमुना-तीर पर शूरसेनों की राजधानी थी। कई लोगों का मत है कि वर्त्तमान मथुरा वही स्थान है जहां मथुरा या मधुपुरी थी।

(७) मिथिला, यह विदेह लोगों की राजधानी थी। यह वर्त्तमान तिर्हुत के जिले में थी। जनक यहीं राज्य करते थे।

(८) राजगृह, मगध की प्राचीन राजधानी—वर्त्तमान राजगीर।

(९) रोरुक या रोरुआ—यह सौवीर देश की राजधानी थी। सौवीर देश वर्तमान मुलतान से दक्षिण की तरफ सतलुज, जेहलम तथा चनाव के संगमों के मध्यवर्ती प्रदेश का नाम था। रोरुक उस समय व्यापार की बड़ी भारी मण्डी थी।

(१०) सागल या साकल—वर्तमान स्यालकोट-इसके राजा ने सिकन्दर का बड़ी वीरता से सामना किया था।

(११) साकेत, जिसे उन्नाव जिले के अन्तर्गत सई नदी के तट पर सुजानकोट के स्थान पर पहचाना गया है। प्राचीन समय में यह बड़ा भारी नगर था। उस समय के भारत के बड़े बड़े छः नगरों में एक गिना जाता था।

(१२) श्रावस्ती, यह बुद्ध-काल के छः प्रसिद्ध नगरों में से एक थी। यह उत्तर कोशल की राजधानी थी।

(१३) उज्जैन, यह मालवाका प्रसिद्ध नगर है।

(१४) वैशाली, जिसका घेरा १२ मील का लिखा है, लिच्छवि लोगों की राजधानी थी।

उस समय के गांव

ग्रामों का वर्णन करते हुए प्रोफेसर रिस डेविड्ज़ लिखते हैं कि प्रायः सभी ग्राम एक ही नमूने पर बनाये जाते थे। सारी बस्ती एक जगह इकट्ठी की जाती थी और उसको गलियों म बांटा जाता था। गांव के समीप वृक्षों का एक झुंड रखा जाता था। उनकी छाया के नीचे गांव की पंचायतें हुआ करती थीं। बस्ती के इर्द गिर्द कृषि की भूमि होती थी। गोचरभूमियां शामलात रखी जाती थीं। इसके साथ ही जंगल का एक टुकड़ा भी छोड़ा जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को लकड़ी लेने का अधिकार था। प्रत्येक के पशु अलग अलग थे, परन्तु गोचर-भूमियां पृथक पृथक न थीं। फसल के कट जाने पर पशु सब जगह चरते फिरते थे परन्तु फसल खड़ी होने पर वे केवल गोचर-भूमि में चरते थे। जिस भूमि में कृषि होती थी वह उतने भागों में विभक्त की जाती थी जितने घर गांव में बसे होते थे। प्रत्येक परिवार अपने भाग की भूमि में खेती करता था, और उसकी उपज लेता था। जल-सिंचन के लिये नालियां बनायी जाती थीं, और इस के लिये नियम नियत थे। सारी जोती हुई भूमि की एक बाड़ होती थी। अलग अलग खेतों की बाड़ें न थीं। सारी भूमि गांव की साझे की मिलकियत समझी जाती थी। पुरानी कथाओं में कोई ऐसा उदाहरण वर्णित नहीं जिससे प्रकट होता हो कि किसी अकेले हिस्सेदार ने अपनी जोती हुई भूमि का भाग किसी परदेसी के हाथ बेच दिया। कम से कम गांव की पंचायत की स्वीकृति के बिना ऐसा करना असम्भव था। प्रोफेसर रिस डेविड्ज़ लिखते हैं कि पुस्तकों में केवल

तीन ऐसे उदाहरणों का उल्लेख है। इन में से एक भूमि को उसके स्वामी ने जङ्गल काटकर खेती के लिये तैयार किया था। किसी अकेले हिस्सेदार को अपनी भूमि वसीयत करने का भी अधिकार न था। इन सब बातों का निर्णय रिवाज के अनुसार होता था। इन निर्णयों में परिवार की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता था। भूमि की शामलात में यागो चर-भूमियों में किसी व्यक्ति को खरीदने या बेचने का अधिकार न था। यह बताया गया है कि राजा भूमि का स्वामी नहीं था। उसका अधिकार केवल कर लेने का था।

गांव की आर्थिक अवस्था बहुत सीधी सादी बतायी गयी है। गांव में कोई व्यक्ति उन अर्थों में धनाढ्य न हो सकता था जिन अर्थों में धनाढ्य शब्द आजकल प्रयुक्त होता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी आवश्यकताओं के अनुसार पर्याप्त सामग्री थी, अतएव वह सन्तोष और स्वतन्त्रता से रहता था। उस काल में बड़े बड़े जागीरदार न थे, और न कङ्गाल*। गांव में प्रायः अपराध का लेशमात्र न था। गांव से बाहर जो डाके आदि की दुर्घटना हो उसको रोकना राज्य का कर्त्तव्य था।

वेतन लेकर श्रम करना बहुत बुरा समझा जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार और अपने गांव का अभिमान था। वे लोग दूसरों की मजदूरी करना बहुत ही अपमान-

* "Neither landlords nor paupers" बुद्धिस्ट्इंडिया, पृष्ठ ४६।

जनक समझते थे * और स्वतन्त्र पेशों को पसन्द करते थे। प्रोफेसर रिस डेविड्ज़ की सम्मति में उस समय सत्तर अस्सी प्रतिशतक के लगभग लोग स्वतंत्र और समृद्धिशाली थे।

जातिभेद

उस समय तक भी ब्राह्मणादि वर्ण-विभाग उस रूप में न आया था जैसा वह कुछ काल के पश्चात आगया। ऐसे बहुत से उदाहरणों का उल्लेख प्रोफेसर रिस डेविड्ज़ ने किया है जिन में एक वर्ण में उत्पन्न मनुष्य दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाते थे। लोग आपस में एक दूसरे के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्वतन्त्रतापूर्वक करते थे। हां, चण्डालों का छुआ हुआ कोई न खाता था, और कतिपय व्यवसायों को कम पसन्द किया जाता था, जैसे कि मृत शवों को उठाने वाले, या चमड़े का व्यवहार करने वाले या शिकारी इत्यादि।

नगर

नगरों का उल्लेख करते हुए उक्त प्रोफेसर महोदय कहते हैं कि उस समय नगरों के बड़े ऊंचे ऊंचे प्राचीर बनाये जाते थे। 'हैवल'ने अपने इतिहास में नगरों और गांवों के मानचित्रों का उल्लेख शिल्प-शास्त्रों की पुस्तकों के अनुसार विस्तारपूर्वक किया है।[१]

* इसका तात्पर्य यह है कि 'Working for wages' अर्थात वेतन लेकर किसी के लिये मजदूरी करना निन्दित गिना जाता था। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रम और मेहनत को निन्दनीय समझा जाता था।

[१] देखिये, हैवल की "आर्यन रूल इन इंडिया" और "आइडियल्स आफ इंडियन आर्ट"।

मकानों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वे चूने और ईंट-पत्थर के बनाये जाते थे। लकड़ी का भी प्रचुरता से उपयोग होता था। मकानों को बहुत सजाया जाता था। कई मकान सात मंजिले बताये गये हैं। मकानों में गरम स्नानागारों का भी उल्लेख मिलता है। व प्रायः उसी नमूने के थे जिसके कि आजकल तुर्की स्नानागार बनाये जाते हैं।

आर्थिक अवस्थाएं

उस समय की कहानियों, ऐतिहों और पुस्तकों से प्रोफेसर रिस डेविड्ज़ की धर्मपत्नी ने स समय के व्यवसायियों की एक सूची तैयार की है। इस सूची में बढ़ई, लोहार, पत्थर छीलनेवाले, जुलाहे, चमड़े की वस्तुएं बनानेवाले, रंगरेज़, सुनार, धीवर, कसाई, व्याध, हलवाई, मालिश करनेवाले, फूल बेचनेवाले, मल्लाह, टोकरियां बनानेवाले और चित्रकार मिले हुए हैं। उनकी कारीगरीके कुछ नमूने भी उनकी पुस्तक के छठे अध्याय में दिये गये हैं। इन व्यवसायियोंके अतिरिक्त किसानों, शिल्पियों दूकानदारों और व्यापारियोंका भी उल्लेख है। कई आभूषणों के सुन्दर नमूने भी दिये हैं।

व्यवसायियों की पंचायतें

ये व्यवसायी प्रायः "श्रेणियों" या "सेनियों" में संगठित होते थे। ये श्रेणियां बहुत कुछ यूरोपियन गिल्ड्स के ढंग की होती थीं। राज्यकर्मचारियों के साथ व्यवसायियों का सम्बन्ध अपने प्रमुख या प्रधान के द्वारा होता था। इन श्रेणियों के मुखियों का बड़ा आदर था, और कई बार ये मन्त्री तक की पदवी रखते थे।

कि भारत में गुलामी की प्रथा न थी* ।

लेखन कला

रिस डेविड्स ने लिखा है कि इसी काल में लेखनकला का हमें प्रथम उल्लेख मिलता है। और भी योरोपियन ऐतिहासिकों का यह विश्वास रहा है कि भारतवर्ष में लेखनकला मेसोपोटामिया और फिनिशिया से छठी सातवीं सदी ईसा पूर्व के लगभग आयी। परंतु श्रीयुत गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी पुस्तक "प्राचीन लेखमाला" में इस बात को प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि लेखनकला भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थी। संस्कृत के पाणिनीय जैसे व्याकरण का निर्माण, तथा अत्यन्त प्राचीन वैदिक काल से गायत्री अनुष्टुप आदि छन्दों (जिन में अक्षर, मात्रा आदि की गणनाओं की आवश्यकता रहती है) का प्रयोग बिना लिपि की सहायता के कभी नहीं हो सकता। चित्र लिपि (पिक्टोग्राफ) के प्रयोग के उदाहरण मोहन-जो-दारो में भी उपलब्ध हुए हैं।

* यह स्मरण रखना चाहिये कि कौटिल्य अर्थशास्त्र भी मेगस्थनीज़ की साक्षी का समर्थन करता है। उस से मालूम होता है कि उस समय के शास्त्रकारों के कानून के अनुसार 'अनार्य' लोगों में गुलामी की प्रथा थी परन्तु "आर्य" को गुलाम न बनाया जा सकता था। (अर्थ० ३, १३, १४) मेगस्थनीज़ ने भी यही लिखा है कि 'किसी हिन्दुस्तानी को दास नहीं बनाया जाता' (*No Indian slave existed*) गौतम के धर्म सूत्र में भी मनुष्यों के क्रय विक्रय का सर्वथा निषेध है।

छठी सदी ईसा पूर्व में भी लेखनकला का खूब प्रयोग था। सरकारी घोषणाओं, सूचनाओं और पत्र व्यवहारादि में भी इसका खूब प्रयोग होता था। स्त्रियां और साधारण लोग भी लिखना जानते थे। यहां तक कि बच्चों के खेलों में एक ऐसे खेल का उल्लेख है जिस में खेल खेल में लिखना सीखा जाता था। इससे भी यही परिणाम निकलता है कि लेखन कला उस समय से शताब्दियों पहले प्रचलित हो चुकी थी।

छान्दोग्योपनिषद् में अक्षर, मात्रा और वर्ण का उल्लेख है। पाणिनी ने 'यवनानी' लिपि प्रयोग सिद्ध किया है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने दो लेखों का जिक्र किया है। एक अजमेर के पास से तथा दूसरा नेपाल की तराई 'पिप्रावा' से मिले हैं। ये महावीर के निर्वाण संवत् ८४ के अर्थात ४४३ ई० पूर्व के हैं। इससे ४४३ ई० पू० में लेखन कला का प्रचार सिद्ध होता है। यूनानी नियार्कस ने भी लिखा है कि भारत में लोग रुई या रुई के कपड़े के चीथड़े कूट कूट कर लिखने का कागज़ तैयार करते हैं।

ऋग्वेद में ऋषि नाभानेदिष्ट के "अष्टकर्णी" गौएं दान देने का ज़िक है। 'अष्टकर्णी' गौएं उन्हें कहते थे जिनके कानों पर आठ का अंक लिखा होता था।

बुलर और राथ की सम्मति में वैदिक समय में लिखित पुस्तकें विद्यमान थीं।

—:o:—

ग्यारहवां अध्याय

धार्मिक क्रान्ति

भारतीय इतिहास के उस काल में दो महापुरुष उत्पन्न हुए। उनमें से एक तो महात्मा शाक्य मुनि गौतम बुद्ध थे, और दूसरे जैनों के प्रसिद्ध तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान महावीर थे। ये दोनों महापुरुष राजा बिंबिसारके जीवन-कालमें उत्पन्न हुए। कई ऐतिहासिक इस बात को प्रमाणित मानते हैं कि महात्मा महावीर राजा बिंबिसारके सम्बन्धी थे। बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु ने दोनों महापुरुषोंके दर्शन किये। इन दोनों महापुरुषों ने उस समय एक धार्मिक क्रान्ति को जन्म दिया और जनता में धार्मिक और सामाजिक नयी जागृति उत्पन्न की।

(१)

महात्मा गौतमबुद्ध

सूत्रों के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय सूत्रोंका निर्माण हुआ उस समय विद्वानों में एक विचित्र झगड़ा चल रहा था। वर्ण-व्यवस्था और जाति-पांतिके बढ़ते हुए भेदभाव ने भारी उपद्रव उत्पन्न कर रखा था।

दूसरे—ब्राह्मणों ने धर्म्म को अनुष्ठानों के ऐसे पेचीले जाल में जकड़ रखा था कि लोगों को सन्देह होता था कि इस

चम्पा में प्राप्त बुद्ध की मूर्ति

आयु में ही उनके मन पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह आयु के साथ साथ अधिकाधिक होता गया। उन्होंने सोचा कि मुझे कैसे विश्वास हो कि जिस जगत में इतना पाप और बुराई फैली हुई है वह किसी ऐसी शक्तिका बनाया हुआ है जो पुण्य-मय और सर्वज्ञ बतायी जाती है। प्रचलित धार्मिक अनुष्ठानों और अन्य प्रथाओं ने भी उनके हृदय पर चोट लगायी। विवाह के कुछ काल पीछे उनके यहां एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस घटना ने मानो उन्हें निद्रितावस्था से जगा दिया। शाक्यमुनि ने सोचा कि दिन पर दिन नये सम्बन्ध बढ़ते जाते हैं और मैं संसार के प्रेम और ममता के जाल में जकड़ा जा रहा हूं। इससे भय है कि मैं भी कहीं लोगों की भांति पाप में न फंस जाऊं।

शाक्य मुनिका घरसे निकलना और बुद्ध हो जाना

यह सोचकर उन्होंने जङ्गल में चले जाने की ठान ली। सारे राज-पाट, धन-दौलत, सुख-सम्पत्ति और ऐश्वर्य को एकाएक छोड़कर शाक्यमुनि घर से निकल पड़े। जङ्गलों और पहाड़ों में जाकर ज्ञानोपार्जन करने लगे। भारतके दर्शन शास्त्र में जो कुछ सार था उसका उन्होंने अध्ययन किया। परन्तु शान्ति न हुई। सोचा कि कदाचित तप से शान्ति मिले। इसलिये उन्होंने दर्शन और तत्त्वज्ञान को छोड़कर गया के समीप उरुविल्व के वनों में छः वर्ष तक निरन्तर घोर तपस्या की। उसकी तपस्या की कहानियां सुनकर लोगों के दल के दल उनके गिर्द एकत्र होने लगे। परन्तु उन को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। यहां तक कि एक दिन बुद्ध-देव अत्यन्त व्यथित होकर गिर पड़े। कुछ काल तक उनके

शिष्यों ने यही समझा कि गुरुदेव की आत्मा उनके पार्थिव शरीर को छोड़ गयी है। परन्तु उनका प्राणान्त नहीं हुआ। वे इस परिणाम पर पहुंचे कि इस प्रकार शरीर को कष्ट देने से लाभ नहीं हो सकता।

जब तपस्या से भी शान्ति न हुई तो वह भी छोड़ दी। उनके इस कर्म से उनके साथियों में बहुत अश्रद्धा उत्पन्न हो गयी, और वे उनको छोड़कर काशी चले गये। कुछ काल बुद्धदेव एकाकी वनों में विचरते और चिन्तन में मग्न रहे। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुंचे कि विश्व-प्रेम और पवित्र जीवन से ही मनुष्य को शान्ति मिल सकती है। उन्होंने समझा कि धर्म्म की वास्तविक चाबी अब मुझे मिल गयी। मानों उन्हें आकाशवाणी हुई कि जो सचाई तुम्हें मिली है उसका प्रचार करना—उसे दूसरों तक पहुंचाना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

बुद्ध का प्रचार। शाक्यमुनि इस हर्ष में मग्न काशी पहुंचे। यहां उन्होंने अपने धर्म्म का उपदेश करना आरम्भ किया। बुद्ध के तप छोड़ने पर जो पांच शिष्य अश्रद्धा के कारण उनसे अलग हो गये थे वही सबसे पहिले उनके धर्म्म में सम्मिलित हुए। उनमें से एक का नाम यश था। वह एक धनाढ्य मनुष्य का पुत्र था और भोग-विलास के जीवन से ऊबकर बुद्ध की शरण में आया था।

पांच मास में ६० पुरुषों ने बुद्ध धर्म्म को ग्रहण किया। इन साठों को उसने आज्ञा दी कि जिस सचाई को मैंने इतने घोर परिश्रम से प्राप्त किया है उसको फैलाने के लिये भिन्न भिन्न स्थानों को अलग अलग होकर चले जाओ।

बुद्ध ने अपने जीवन में अनेक राजाओं महाराजाओं, सेठ-साहूकारों और सन्यासियों—सारांश यह कि सब प्रकार, सब स्थिति और सब सम्प्रदायों के लोगों—को अपने धर्म्म में सम्मिलित किया। समस्त मगध देश और उसके आस पास का प्रान्त उनका अनुयायी हो गया। उनके पिता ने भी उनके धर्म्म की दीक्षा ली। उनका पुत्र भी उनका चेला बना। उनकी माता और धर्म्मपत्नी भी उनके सम्प्रदाय में मिल गयीं। अस्सी वर्ष की आयु तक इसी प्रकार अपने धर्म्म का प्रचार करने के पश्चात इस महान आत्मा ने अपनी मानवलीला समाप्त की। (५४४ या ५४३ ई० पू०)

बुद्ध की शिक्षा महात्मा बुद्ध ने निर्वाण सिद्धान्त की शिक्षा दी। निरन्तर परिश्रम, त्याग, और पवित्र जीवन द्वारा पुनर्जन्म और सांसारिक विषय-भोग की इच्छा को नष्ट कर डालने का नाम निर्वाण है। महात्मा बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, निर्वाण से जीवात्मा बार बार के जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है। निर्वाण के पश्चात आत्मा की क्या गति होगी, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका महात्मा बुद्ध ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मैं नहीं जानता, निर्वाण के पीछे आत्मा की क्या गति होगी। महात्मा बुद्ध का विश्वास था कि जब तक निर्वाण प्राप्त नहीं होता मनुष्य आवागमन में बंधा रहता है। निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात प्रत्येक व्यक्ति "बुद्ध" हो जाता है और उसकी पदवी सबसे उच्च हो जाती है।

ऊंच नीच का भेद

उस समय तक यद्यपि जाति बन्धन तथा वर्ण भेद ऐसा दृढ़ न हुआ था परन्तु फिर भी थोड़ा बहुत ऊंच नीच का भाव लोगों में पैदा हो गया था। कुछ पेशों को नीचा समझा जाने लगा था। बुद्धदेव इस ऊंच नीच के भेद को स्वीकार न करते थे। यद्यपि थोड़े समय के पश्चात बौद्ध लोगों में भी भिन्न भिन्न दल हो गये, तथापि यह बात स्पष्ट है कि यह दलबन्दी उनकी शिक्षा के विरुद्ध थी। वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड की पद्धति का भी बुद्ध ने परित्याग कर दिया, क्योंकि उनकी सम्मति में वे न केवल व्यर्थ ही थे वरन स्पष्ट रूप से हानिकारक थे। बुद्ध को अनुष्ठानों और बलिदान से अतीव घृणा थी। अतएव उन्होंने इस विषय में सारी पुरातन रीति को बदल कर एक प्रकार की समता का धर्म्म फैलाया। उनके जीवन में और उनके जीवन के पश्चात बहुत कालतक उनके धर्म्म की नींव उनके शुद्ध, पवित्र और सच्चे जीवन पर थी। उनके मरते ही उनके धर्म्म में वैसी ही बुराइयां घुसने लगीं जिन्हें उखाड़ने के लिये उन्होंने इस धर्म की नींव रखी थी। परन्तु इस बात को भूल न जाना चाहिये कि बुद्ध ने किसी नवीन धर्म्म के प्रवर्त्तन की प्रतिज्ञा नहीं की। वह यही कहते रहे कि मैं प्राचीन आर्य्य-मर्यादा की शिक्षा देता हूं। उसने बहुत से लोगों को भिक्षु बनाया, अर्थात उनको यह प्रेरणा की कि वह साधारण गृहस्थ का जीवन छोड़कर साधु हो जांय, और अपने जीवन को साधनों में डालकर धर्म्म-प्रचार करें। आर्य्यों के इतिहास में यह पहला उद्योग था कि गृहस्थों को इस प्रकार नियम-

पूर्वक संसार-त्यागी बनाकर उनका एक पृथक विभाग बनाया गया। महात्मा बुद्ध से पूर्व ऐसे ऋषि, महर्षि, ब्रह्मचारी और कदाचित संन्यासी भी थे जो बस्ती से अलग वनों में रहते थे, वहीं पढ़ते थे, शिक्षा देते थे, तपस्या करते थे, विचार करते थे और योग करते, परन्तु उनके लिये अविवाहित रहना आवश्यक न था। उनमें से अनेक गृहस्थ होते थे।

उन्होंने भिक्षुओं के लिये विशेष मर्यादा बनायी, परन्तु साधारण लोगों के लिये केवल साधारण शिक्षा ही दी। उन्होंने उस समय की प्रचलित मर्यादा को सर्वथा छुड़ा देने का यत्न नहीं किया, वरन वह यही कहते रहे कि जो मार्ग मैं बतलाता हूं, और जो प्रकाश मैं लाया हूं वह कोई नया नहीं है।

महात्मा बुद्ध अपने अनुयायियों को मन वचन और कर्म की पवित्रता की शिक्षा देते थे। उनके धर्म्म में वाणी और कर्म की सचाई पर बहुत बल दिया जाता था। अहिंसा और बड़ों के प्रति श्रद्धा भी उनकी शिक्षा का प्रधान अङ्ग थी। चोरी न करना, किसी को न मारना, व्यभिचार न करना, झूठ न बोलना; परनिन्दा न करना, लोभ न करना, घृणा न करना, और अविद्या से बचना, ये उनकी शिक्षा के मुख्य मुख्य सिद्धान्त थे। संसार में कौनसा धर्म्म है जो यही शिक्षा नहीं देता? अतएव बुद्ध-धर्म्म का विशेष उद्देश्य यह था कि ये सचाइयां जो कर्मकाण्ड के भार के नीचे दब गयी थीं, और जिनको सिद्धान्तों के विवाद ने मन्द कर दिया था, पुनः जनता के जीवनों में स्थान पावें। लोग केवल विश्वास से ही धर्मात्मा न हों वरन उनका जीवन धर्म्ममय हो। उन्होंने लोगों

को आठ प्रकार का सच्चा मार्ग बताया—अर्थात सत्य विश्वास, सत्य विचार, सत्य वाक्य, सत्य कर्म्म, सत्य आजीविका (शुद्ध अन्न), सत्य पुरुषार्थ, सत्य स्मृति और सत्य ध्यान। उनकी समझ में यह मार्ग मध्यवर्ती मार्ग था। यह एक ओर इन्द्रियों की दासता से बचाता था और दूसरी ओर संसार-त्यागी होने से रक्षा करता था। यह शिक्षा साधारण जनता के लिये थी, परन्तु जीवन का पूर्ण लाभ भिक्षु बनने से ही प्राप्त हो सकता था। भिक्षुओं के दल को 'संघ' कहते थे। भिक्षुओं के संघ को लगभग वे सब अधिकार प्राप्त थे जो रोमन कैथोलिक धर्म्म में पोप को और सिक्खों के धर्म्म में संगत को प्राप्त हैं। महात्मा बुद्ध के धर्म्म में स्त्रियां भी भिक्षुणी बन सकती थीं, परन्तु उनकी पदवी बहुत नीची मानी गयी है।

बुद्धदेव ने ईश्वर और आत्मा के विषयमें कोई विशेष शिक्षा नहीं दी। उन्होंने न तो परमात्मा के अस्तित्व से इनकार किया और न उसका स्वीकार। उनकी सम्मति में इस प्रकार के विवाद व्यर्थ हैं। मनुष्य के जीवन पर उनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। बुद्ध अपने जीवन में पवित्रता के देवता थे और पुण्य कर्म्मों पर जोर देते थे। परन्तु खेद का विषय है कि उनके पीछे उनके अनुयायियों ने उनके धर्म्म को उन्हीं व्यर्थ बातों से भर दिया जो उनसे पहले प्रचलित थीं। महात्मा बुद्ध आर्य्यों के पहले सुधारक थे जिन्होंने संसार में अपने धर्म का सिक्का ऐसा बैठाया कि आज मनुष्य-समाज के इतिहास में उनकी कोटि का दूसरा मनुष्य नहीं माना जाता। ईसाई लोग ईसा-मसीह को और मुसलमान मुहम्मद साहब को संसार का सबसे बड़ा ईश्वरीय दूत मानते हैं, परन्तु शेष सारा

राजपाट छोड़ दिया। घर से निकल कर बहुत स्थानों पर भ्रमण करते रहे। कठोर तपस्या करके उन्होंने तीर्थंकर की पदवी, और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

हमने जैसा ऊपर लिखा है कि महात्मा महावीर जैनधर्म के सुधारक और प्रचारक मात्र थे। उन से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले श्री पारसनाथ हुए। प्रोफ़ेसर जैकोबी की सम्मति में श्री पारसनाथ ८वीं सदी ई० पू० में हुए। श्री पारसनाथ ने अपने शिष्यों के लिये चार प्रतिज्ञाएं नियत की थीं।

(१) जीव हत्या न करना। (२) चोरी न करना।
(३) सत्य बोलना। (४) कोई जायदाद न रखना।

कहा जाता है कि महात्मा महावीर ने इन चार प्रतिज्ञाओं के साथ एक पांचवीं प्रतिज्ञा और बढ़ायी, अर्थात स्त्री के साथ संभोग न करना और पूर्ण ब्रह्मचर्य रखना।

श्री पारसनाथ जी तथा श्री महावीर जी की शिक्षाओं में एक और भेद भी बतलाया जाता है। श्री पारसनाथ जी अपने शिष्यों को कपड़ा पहिननेकी आज्ञा देते थे, परन्तु श्री महावीर जी ने उन्हें बिलकुल नग्न रहने की शिक्षा दी। हमारी राय में यह भेद केवल ऊपरी भेद है और जैनधर्म की मूल शिक्षाओं में इस से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

परन्तु जैन लोग श्री पारसनाथ जी को भी धर्म्म का आदि संस्थापक नहीं मानते। उनके कथनानुसार उनसे पहले बाईस और तीर्थंकर हुए। प्रथम तीर्थंकर इस युग के आरम्भ में श्री महात्मा ऋषभदेव हुए। जैनग्रन्थों में महात्मा ऋषभदेव की आयु अरबों साल लिखी है। बौद्ध भी अपनी पुस्तकों में यही दावा करते हैं कि महात्मा बुद्ध से पहले और बहुत से बुद्ध

हुए और उन्हों ने भी बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा दी। अगर बौद्ध लोगों का यह दावा ठीक है तो कोई कारण नहीं मालूम होता कि जैनियों के दावे को क्यों गलत कहा जाय । हमारी अपनी राय तो यह है कि दुनिया के सभी धर्म सनातन और सभी नवीन हैं। बात यह है कि सभी प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त प्राचीन पुस्तकों में मिलते हैं, परन्तु उन सिद्धान्तों का एक क्रियात्मक स्वरूप बनाकर उन्हें एक धर्म का रूप देदेना विशेष समयों में विशेष प्रकार की महान व्यक्तियों का काम होता है; और इन्हीं अर्थों में यह कहा जाता है कि अमुक धर्म अमुक काल में आरम्भ हुआ है। हिन्दूधर्म में भी प्राचीन काल से लेकर अब तक समय समय पर जो परिवर्तन होते रहे हैं उन्होंने उसे मतमतान्तरों और सम्प्रदायों का एक अथाह समुद्र बना दिया है।

जैनियों का अनीश्वरवाद

जैनियों का सिद्धान्त है कि हर एक वस्तु में जीवात्मा है। यहां तक कि जो पदार्थ जड़ मालूम होते हैं उन सबमें भी जीव है। परन्तु आमतौर पर लोगों का ख्याल है कि जैनी परमात्मा की सत्ता को नहीं मानते और वे अनीश्वरवादी हैं। परन्तु जैनियों का कथन है कि हम ईश्वर को केवल कर्ता और कर्मों का फल-दाता नहीं मानते। परन्तु ईश्वर की सत्ता से इनकार नहीं करते। याद रखना चाहिये कि हिन्दू दर्शनकार कपिल भी अनीश्वरवादी कहे जाते हैं; परन्तु कपिल भी ईश्वर की सत्ता से इनकार नहीं करते, बल्कि वह उसे साबित करने का प्रयत्न नहीं करते।

अहिंसा का सिद्धान्त

जैनियोंका सबसे बड़ा सिद्धान्त 'अहिंसा' है, और उन्होंने अहिंसा को इतनी उच्च पदवी दे दी है, कि बहुत लोग उसे अक्रियात्मक समझते हैं * । यद्यपि इस में सन्देह नहीं कि जैनी भी और लोगों की तरह आवश्यकता के समय युद्ध लड़ते रहे हैं, और अपनी रक्षा करने के लिये शस्त्र उठाने को पाप नहीं समझते। अहिंसा को जो दर्जा जैनियों ने अपने सिद्धान्तों में दिया है संसार में उसका और कहीं उदाहरण नहीं मिलता। इसी प्रकार जैनी साधुओं ने त्याग और तपस्या के जो उच्च आदर्श उपस्थित किये हैं वे भी संसार में अद्वितीय हैं।

बौद्ध और जैन धर्मों का राजनीतिक प्रभाव

हिन्दुस्तान के इतिहास में हम देखते हैं कि बौद्धों तथा जैनियों ने सदियों तक यहां के भिन्न भिन्न प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये और उनके समय में भारतवर्ष बहुत समृद्ध और शक्तिशाली रहा। परन्तु इस में भी सन्देह नहीं

---

* "Budha always warned his disciples against hurting or causing pain to any living being; but Mahavira fell into exaggerations even here, and he seems in reality often to care much more for the security of animals and plants than for that of human beings."

अर्थात, बुद्ध हमेशा अपने शिष्यों को किसी भी जीवित प्राणी को पीड़ा पहुंचाने से रोकते थे। परन्तु महावीर इस बात में भी चरम सीमा पर चले गये, और वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है मानों उन्हें मानव जीवन की रक्षा की अपेक्षा पशुओं और वृक्षों के जीवन की रक्षा का ज्यादा फिक्र था।" कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' पृ० १६२।

कि राजनीतिक संघर्षण के लिये जिस प्रकार की दृढ़ता और वीर-भाव की आवश्यकता है उसे इन धर्मों की दार्शनिक शिक्षा से पुष्टि नहीं मिलती। इसी लिये बहुत से ऐतिहासिकों की यह सम्मति है कि बौद्ध तथा जैन धर्म, तान्त्रिक धर्म तथा वेदान्त धर्म की शिक्षाओं का भारतीयों के ऊपर कुछ ऐसा प्रभाव हुआ कि उसने उनकी मनोवृत्ति को बहुत कमज़ोर कर दिया और यह भारत के राजनीतिक पतन का एक कारण हुआ। कम से कम यह मानने में तो किसी को भी इनकार न होगा कि इन धर्मों का पीछे से जो विकृत रूप यहां पर फैला वह इन धर्मों के मूलभूत आदर्शों से बहुत भिन्न था और उसने भारत को अवश्य हानि पहुंचायी। इस सबंध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जीवन के अन्य आदर्शों की उपेक्षा करके किसी एक ही आदर्श को अनावश्यक रूप से महत्व दे देने से प्रायः ऐसा ही परिणाम होता है कि उस धर्म का स्वरूप भी शीघ्र ही बिगड़ जाता है।

—:o:—

बारहवां अध्याय

मगध साम्राज्य का उद्भव

महात्मा बुद्ध के समय या उनसे कुछ पहले भारत के सोलह बड़े राज्यों का उल्लेख हम कर चुके हैं। मगध राज्य उनमें एक शक्तिशाली राज्य था। महात्मा बुद्ध के समय से ही मगध की शक्ति धीरे धीरे बढ़नी प्रारम्भ हुई।

बिम्बिसार (५८२ ई० पू०)

महाभारत के अनुसार मगध राज्य की स्थापना राजा बृहद्रथ ने की थी। उसका पुत्र जरासंध बड़ा शक्तिशाली था। पुराणों में जरासंध के पुत्र सहदेव के पश्चात राजाओं की एक लम्बी सूची दी गयी है। पुराणों की वंशावली के अनुसार ईसा से लगभग ६४२ वर्ष पूर्व शिशुनाग ने अपना वंश चलाया, जिसकी पांचवीं पीढ़ी में बिम्बिसार था*। बिम्बिसार महात्मा बुद्ध का समकालीन था। बिम्बिसार ने कोशल और लिच्छवि

* श्रीयुत रायचौधरी के अनुसार शिशुनाग बिम्बिसार से पहिले नहीं हुआ किन्तु बिम्बिसार के बाद चौथी पीढ़ी में हुआ। उसने नयी शिशुनाग वंश की नींव रखी। देखो "पोलिटिकल हिस्टरी" पृ० ८८ तथा १११।

(वैशाली) की राजकन्याओं से विवाह किया। इससे उसका राजनीतिक प्रभुत्व भी बढ़ गया। उसने अंग देश को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इसने संभवतः अठाईस साल राज्य किया। कहा जाता है कि उसके बाद इसने अपने जीते जी राज्य अपने पुत्र अजातशत्रु को दे दिया। यह भी कहा जाता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता को मारकर राज्य पर अधिकार कर लिया।

अजातशत्रु
५५४ ई० पू०

अजातशत्रु के समय मगध की शक्ति और भी बढ़ गयी। इस ने कोशल, काशी और वैशाली को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। वैशाली वज्जी संघ का मुख्य केन्द्र थी। अजातशत्रु तथा इन प्रजातन्त्र राज्यों के परस्पर संघर्ष के सम्बन्ध में कई वृत्तान्त बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं। यह भी मालूम होता है कि महात्मा बुद्ध इन प्रजातन्त्र राज्यों से सहानुभूति रखते थे। मगध के राजनीतिज्ञ लगातार इन संघों में फूट डालने का प्रयत्न किया करते थे*। इन युद्धों के वर्णन में युद्ध के दो प्रकार के यन्त्रों का भी उल्लेख है। एक का नाम "महाशिला-कण्टक" था जिसके द्वारा बड़े बड़े पत्थर बड़ी दूर से शत्रु सेना पर फेंके जाते थे। दूसरे का नाम "रथ मुसल" था। यह एक प्रकार का रथ था जिसके दोनों ओर भारी भारी मूसल लगे

---

* कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है कि प्रजातन्त्र राज्यों को सब से बड़ा भय यही होता है कि शत्रु राष्ट्र जनता में कई तरह की बातें फैला कर राष्ट्र में बड़ी जल्दी फूट पैदा कर देते हैं।

होते थे। जब रथ चलता था तो ये मूसल भी ज़ोर से घूमते थे, और आस पास शत्रुओं पर प्रहार करते जाते थे। इन्हीं लिच्छवी लोगों से मुकाबला करने के लिये अजातशत्रु ने, सोन नदी के उत्तरीय किनारे पर पाटलि दुर्ग की स्थापना की जो पीछे पाटलिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी

अजातशत्रु के बाद हमें इस वंश के तीन चार राजाओं के नाम मिलते हैं। इन उत्तराधिकारियों तथा इनकी तिथियों के संबन्ध में बहुत कुछ विवाद और मतभेद है। बौद्ध ग्रन्थों तथा पुराणों की वंशावलियों में भी परस्पर मतभेद है।

नंदवंश

इन राजाओं के बाद हमें नंदवंश के राजाओं का वृत्तान्त मिलता है। नंदवंश के प्रथम राजा का नाम महापद्म था। इस ने शिशुनाग वंश को हटा कर अपना राज्य स्थापित किया। इसने अपने राज्य को बहुत बढ़ाया। सम्भवतः कलिंग, अवन्ति, शूरसेन, वत्स, अश्मक या अस्सक सब राज्य इस समय मगध राज्य में सम्मिलित हो गये थे*। यूनानी लेखकों ने भी इस बात की पुष्टि की है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय "व्यास नदी के पार अत्यन्त शक्तिशाली लोग रहते थे, जिन की राजधानी पाटलिपुत्र थी"। इनके पास सेना तथा सम्पत्ति भी बहुत थी। यूनानी लेखकों के अनुसार उन की सेना में दो लाख पैदल सिपाही, बीस हज़ार घुड़ सवार तीन हज़ार हाथी और दो हज़ार रथ थे।

---

* देखो, राय चौधरी की "पोलिटिकल हिस्ट्री, पृष्ठ ११८

कहा जाता है कि नंदवंश के राजा नीच कुल के थे, और बड़े अत्याचारी थे। ब्राह्मणों के ग्रन्थों में इन्हें बहुत कुछ घृणा की दृष्टि से देखा गया है।

नंदवंश के अन्तिम राजा को चाणक्य नामी ब्राह्मण की सहायता से मार कर चन्द्रगुप्त नामी राजपुत्र ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। यही चन्द्रगुप्त, मौर्य वंश का संस्थापक भारत का प्रसिद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त था।

—:o:—

तेरहवां अध्याय

भारत के उत्तर-पश्चिमीय राष्ट्रों पर ईरानियों का प्रभुत्व

जिस समय पूर्वीय भारत में मगध के राजा आस पास के राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य को बढ़ा रहे थे उत्तर पश्चिमीय भारत में कई छोटे स्वतंत्र राष्ट्र अपनी पृथक पृथक सत्ता बनाये हुए थे। यहां पर उन्हें एकत्र करने वाली कोई शक्ति विद्यमान न थी। इन राष्ट्रों में कुछ जनतन्त्र थे और कुछ एकतन्त्र। इन सीमावर्ती राष्ट्रों में से कुछ राष्ट्रों पर पहले ईरानियों ने और उनके बाद यूनानियों ने अपना आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्न किये।

ईरानियों का प्रभुत्व

ईरान के साथ प्राचीन काल से भारत का संबन्ध बना रहा। ईरानी भी उसी आर्य नसल के थे जिसके वैदिक काल के आर्य। जिस समय महात्मा बुद्ध भारत में अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे संभवतः लगभग उसी समय ईरान के धर्म प्रवर्तक जर्दुस्त ईरान में अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। इसके बाद ईरान के राजाओं की शक्ति बढ़नी प्रारम्भ हुई।

साइरस (५५८-५२९ ई. पू.) और दारा (५२२-४८६ ई. पू.) नामी राजाओं के शासनकाल में ईरान का साम्राज्य सिन्ध नदी के पश्चिमी किनारों से लेकर भूमध्य सागर तक फैल गया। मिश्र भी उसके साम्राज्य में मिल गया।

अध्यापक जैक्सन महोदय ने 'कैम्ब्रिज हिस्टरी श्राफ इण्डिया' में यह राय ज़ाहिर की है कि कुछ काल तक ईरान का शासन हिन्दुकुश पर्वत से लेकर सिंध नदी तक रहा और उसके बाद वह व्यास नदी तक भी फैल गया। हमारी राय में प्रमाणों से यहां तक तो सिद्ध होता है कि हिन्दुकुश पर्वत से लेकर सिन्धु नदी तक जो इलाका पहिले भारतीय राज्य में था वह कुछ काल तक ईरानी शासन के अधीन रहा। अध्यापक एडवर्ड मेयर महोदय ने यह सम्मति प्रकट की है, जो बिलकुल ठीक प्रतीत होती है कि बहुत देर तक भारत के उत्तर-पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वत भारत तथा ईरान की सीमा समझा जाता था। काबुल, कन्धार व बिलोचिस्तान भी भारत में ही सम्मिलित थे। इनके निवासियों को भी हिन्दू कहा जाता था। यूनानी व रोमन ऐतिहासिकों ने इन प्रदेशों के लोगों को हिन्दू नाम से लिखा है; और हिन्दुओं के अपने लेखों से भी ऐसा ही पाया जाता है। उक्त अध्यापक महोदय ने यह भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि काबुल तथा कन्धार के निवासी हिन्दुस्तानी नसल के थे। "वेंजिडाड" में जो ज़िन्दावस्था का एक हिस्सा है यह ज़िक्र आया है कि अहरमुज़ ने सोलह देश उत्पन्न किये जिनमें "हस हिन्दू" भी शामिल था। 'सिंधु' सिंध नदी का नाम है और यही बदल कर 'हिन्दू' होगया है वेदों में 'सप्त सिंधु' शब्द

आता है, परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि उपर्युक्त "हप्त हिन्दू" का अभिप्राय वेदों के "सप्त सिंधु" से है। एक विद्वान 'डार्मेस्टेटर' जिसने ज़िन्दावस्था का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है यह राय ज़ाहिर करता है कि अहरमुज़ के मातहत जो सोलह प्रदेश थे उन से अभिप्राय उन्हीं प्रदेशों से है जहां ज़रदुश्त का धर्म फैला हुआ था। उस से राजनीतिक राज्य की कल्पना करना ठीक नहीं *। इस लिए वेंजिडाड के प्रमाण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ईरानियों का राज्य व्यास नदी तक फैला हुआ था। डार्मेस्टेटर ने यह भी लिखा है कि अफ़गानिस्तान तथा बिलोचिस्तान में उस समय हिन्दू सभ्यता थी न कि ईरानी †।

इसी प्रकार और भी जो प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं उनसे इतना ही पता लगता है कि इस काल में कुछ समय तक हिन्दुकुश और सिंध नदी के मध्यवर्ती प्रदेश का ईरानियों के साम्राज्य से सम्बन्ध था। परन्तु ईसा की छठी सदी पूर्व वहां ईरानियों के शासन के प्रमाण नहीं मिलते। जिस समय सिकन्दर ने आक्रमण किया उस समय अफ़गानिस्तान व बिलोचिस्तान के प्रदेश ईरान से बिलकुल स्वतन्त्र थे। ये प्रदेश आगे भी हिन्दुस्तान का ही भाग समझे जाते रहे। आगे चल कर भी हम देखते हैं कि सम्राट चन्द्रगुप्त और यूनानी सम्राट सैल्यूकस में जो संधि हुई उसमें सिंध बिलोचिस्तान तथा अफ़ग़ानिस्तान के प्रदेश भारतवर्ष के ही अंग समझे गये।

* देखो "कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया" पृ० ३२४, फुटनोट।
† वही, पृ० ३२७।

दारा के दो शिलालेख (५१५ ई. पू. तथा ५१८ ई. पू. के बीच के) प्राप्त हुए हैं, उनमें "हिन्दू" शब्द आता है। अध्यापक जेकसन महोदय के अनुसार इसका अभिप्राय पंजाब से है। परन्तु यह उनकी कल्पना मात्र है। सिंध के इस पार का इलाका कभी ईरान के अधीन नहीं हुआ। अगर कभी होगा भी तो वह सिर्फ ईरान को कर देता होगा शासन वहां ईरान का कभी नहीं हुआ। कुछ यूनानी लेखक भी हमारे इस कथन का समर्थन करते हैं।

परन्तु सिंध के उस पार के प्रदेश जिनमें काबुल कंधार तथा सिंध का वह भाग जो सिंधुनदी के पार था—शामिल हैं, कुछ देर ईरानियों के आधीन रहा और उन्हें कर देता रहा। ज़र्कसीज़ (४८६—४६४ ई. पू.) की तरफ से यूनानियों के साथ लड़ाइयों में भी जिन हिन्दुस्तानी सिपाहियों का उल्लेख है वे सम्भवतः इन्हीं प्रदेशों के थे। परन्तु सिकन्दर के आक्रमण के समय तक यह सब इलाका ईरान की अधीनता से निकल चुका था। इससे यह स्पष्ट है कि ईरानियों के इस प्रभुत्व का असर भारत पर कुछ नहीं हुआ और भारतवर्ष के इतिहास में इसे बहुत महत्व न देना चाहिये।

—:o:—

चौदहवां अध्याय

सिकन्दर के आक्रमण के समय पश्चिमोत्तर भारत के राष्ट्र

हम ऊपर लिख चुके हैं कि पश्चिमोत्तर भारत में इस समय कई छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय जो राष्ट्र थे उनका वर्णन यूनानी ऐतिहासिकों ने किया है। मुख्य छब्बीस राज्यों का वर्णन हमें मिलता है। ये छब्बीस राष्ट्र निम्न लिखित हैं:—

१—पहले राज्य का नाम आस्पेशिया लिखा है। यह राज्य काबुल नदी के उत्तरीय पर्वतों में अलगार और कुनार या चित्राल नदियों के मध्य में था। मजूमदार ने इसजाति का नाम 'अश्वक' लिखा है। नन्दलाल दे के अनुसार 'अश्वकान्' से ही अफगान निकला है*।

२—दूसरा राज्य गूरियन लोगों का था। यह राज्य गूरियस नदी (वर्तमान पंजकोरा नदी जो स्वात नदी में गिरती है) के किनारे पर था।

---

* इंडियन एंटीक्वेरी, मार्च, १९२२ नन्दलाल दे कृत भौगोलिक डिक्शनरी। 'कम्बोज' शब्द पर टिप्पणी।

३—तीसरा राज्य सम्भवतः मालकंड के दर्रे से उत्तर की तरफ स्वात और पंजकौरा नदियों के मध्य में स्थित था। यहां के लोगों का नाम 'असेकिस' लिखा है। सम्भवतः इनका भारतीय नाम अस्सक या अश्मक था। पाणिनी ने अश्मक लोगों का नाम लिखा है (४।१।१७३) मार्कण्डेय पुराण और बृहत्संहिता के अनुसार भी ये लोग उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में बसे हुए थे। सम्भवतः इसी जाति के लोग दक्षिण में गोदावरी के तट पर भी बसे हुए थे जिसका वर्णन हम बुद्ध काल के 'सोलह महाजनपदों' में कर चुके हैं। उत्तर पश्चिम के अस्सक लोगोंके विषय में लिखा है कि इनके पास बड़ी जबर्दस्त फौज थी, जिन में २० हज़ार सवार, ३० हज़ार प्यादे और तीस हाथी थे। इनकी राजधानी स्वात नदी के तट पर 'मसागा' थी।

४—चौथे राज्य का नाम "प्योकिलाश्रोटिस" लिखा है, इस का संस्कृत नाम पुष्करावती लिखा है। इनकी राजधानी पेशावर से सतरह मील उत्तर-पूर्व की तरफ़ चारसद नामी थी। जो स्वात और काबुल नदियों के संगम के कहीं समीप थी। इसकी पश्चिमीय और पूर्वीय सीमा क्रमशः स्वात और सिंध नदियां थीं, और दक्षिण में काबुल नदी। इस प्रदेश में आजकल युसुफजई जाति रहती है*।

* एरियन ने लिखा है कि काबुल नदी इन्हीं के राज्य में सिंध से मिलती है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय यहां का राजा हस्ती था। इसे सिकन्दर के एक सेनापति ने पराजय दी।

पांचवां राज्य 'निसा' का था यह राज्य सम्भवतः गूरियन लोगों के दक्षिण तथा पंजकोरा नदी के पश्चिम में 'कोहेनूर' पर्वत की दक्षिणी घाटियों में था। इन लोगों की शासनप्रणाली जनतन्त्र थी। उनकी सभा के तीन सौ सदस्य थे। एरियन ने लिखा है कि ये लोग हिन्दुस्तानी नसल के न थे, परन्तु यूनानी थे जो सिकन्दर से बहुत पहले यूनान से चलकर यहां आन बसे थे। मज्झिम निकाय नामी पाली ग्रन्थ में भी लिखा है कि गौतम बुद्ध के समय कम्बोज के पास एक "यवन राज्य" था। शायद यह निर्देश इसी प्रदेश की तरफ हो।

—छठा तक्षशिला का राज्य था। इसके विषय में स्ट्रैबो ने लिखा है कि "यह बहुत बड़ा नगर था और इसके कानून बहुत अच्छे थे। इर्द गिर्द के प्रदेश भी बहुत आबाद और उपजाऊ थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय यहां के राजा आम्भि ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार की। तक्षशिला उस समय भी विद्या का बड़ा केन्द्र था। मगध के महाराज बिम्बिसार के समय के प्रसिद्ध वैद्य जीवक ने यहीं सात साल शिक्षा प्राप्त की थी। कहा जाता है कि इस काल का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ विष्णुगुप्त चाणक्य भी इसी प्रदेश का रहने वाला था*। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में "आम्भीया:" नामी राज-

* 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' पृ० ४७० का फुटनोट।

विपाशा
मत्स्य
मधुरा
विदेह
मगध
बनारस
चेटी
नर्मदा
महा नदी
गोदावरी

२५—मौसिकिनोस के राज्य के समीप एक और राज्य था, जिसके राजा का नाम 'साम्बोस' (शम्भु ?) लिखा है। इसकी मौसिकिनोस के साथ शत्रुता थी। इसकी राजधानी, जिस का नाम 'सिंदिमन' लिखा है, संभवतः सिंधनदी के तट पर वर्तमान सेहवान के समीप थी।

२६—सिंध नदी के दहाने के पास एक और राज्य था, जिसकी राजधानी वर्तमान ब्राह्मनाबाद के समीप पत्तल थी। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि यहां की शासनप्रणाली स्पार्टा (यूनान का एक प्राचीन प्रसिद्ध नगर जहां जनतन्त्र शासन प्रणाली थी) जैसी थी।

ये छब्बीस राज्य एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। इनमें अधिक राज्यों में जनतन्त्र प्रणाली प्रचलित थी। परन्तु पूर्व में जिस प्रकार मगध साम्राज्य के अधीन छोटे छोटे राष्ट्रों की शक्तियां केन्द्रित हो रही थीं, पश्चिमी भारत में कोई ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र न था जो इन बिखरे हुए राष्ट्रों को इकट्ठा कर सके। सिकन्दर की सफलता का यह भी एक कारण था। सिकन्दर ने एक एक जाति को अलग अलग जीत लिया; परन्तु सतलुज से पार मगध की संगठित शक्ति का सामना करने का साहस उसके सैनिकों को नहीं हुआ। सिकन्दर के आक्रमण और उसके विजयों का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

पन्द्रहवां अध्याय

सिकन्दर का आक्रमण

जिस समय हिन्दू सभ्यता अपने उच्च शिखर पर थी, और उस में महात्मा बुद्ध ने एक प्रकार का युगान्तर उपस्थित कर दिया था, उसी समय में पूर्वीय यूरोप में भी एक सभ्यता अपनी उन्नत अवस्था में थी। यूरोपीय सभ्यता, यूरोपीय राजनीतिशास्त्र तथा यूरोपीय दर्शनशास्त्र का जन्म यूनान में ही हुआ। यह वही समय था जिस समय यूनान में अफ़लातून और अरस्तू जैसे विचारक अपने दर्शनशास्त्र लिख रहे थे।

दारा और ज़र्कसीज़ के समय ईरानियों ने यूनान के कई नगरों पर भी प्रभुत्व जमा लिया था। परन्तु ईसा से पूर्व चौथी शताब्दि में मकदूनिया के राजा फैलकूस या फ़िलिप्स ने यूनान के बहुत से नगरों को अपने राज्य में इकट्ठा कर लिया। उसने धीरे धीरे यूनान में अपनी शक्ति बढ़ा ली।

इस फैलकूस का लड़का महान सिकन्दर था। सिकन्दर को यूनान का नेपोलियन कहा जाता है। सिकन्दर के मन में विश्वविजय की महत्वाकांक्षा थी। वह साहसी और पराक्रमी भी था। उसने सबसे पहले ईरानियों का मुकाबला किया। ईरानियों को यूनान की सीमा से खदेड़ता हुआ वह ईरान की

राजधानी पर्सीपोलीस पर पहुंचा (३३० ई. पू.)। पर्सीपोलीस में उसने आग लगा दी, और उस सुन्दर नगर का बहुत सा भाग जलकर राख होगया।

यहां से आगे बढ़ता हुआ वह ३२९—२८ ई. पू. की सर्दियों में काबुल की घाटी में पहुंचा। उस समय भारत के उत्तरपश्चिम में जो भिन्न भिन्न जातियां राज्य करती थी उन का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। काबुल के पास 'निकिया' नामी स्थान से सिकन्दर ने अपनी सेना को दो भागों में बांट दिया। अपने दो सेनापतियों को कुछ सेना के साथ सीधा सिन्धु नदी की तरफ जाकर पुष्कलावति (प्योकिलाओटिस) पर अधिकार करने की आज्ञा दी। बहुत सम्भवतः वे खैबर के दर्रे के मार्ग से न जाकर काबुल नदी की घाटी में से होकर गये होंगे।

सिकन्दरस्वयं बाकी सेना लेकर काबुल नदी से उत्तर के पहाड़ी मार्ग से होकर चला। उसका उद्देश्य उत्तर की पहाड़ी जातियों को विजय करके अपने मार्ग को सुरक्षित बनाना था, जिससे उसका सम्बन्ध अपने देश के साथ बना रहे। उस मार्ग से अश्वक (आस्पेसियन) और गूरियन जातियों को विजय कर के वह बाजौर की घाटियों में से होता हुआ 'निसा' पहुंचा। यहां दस दिन तक ठहर कर पंजकौरा और स्वात नदियों की घाटियों में होकर 'मसागा' पहुंचा। यहां अस्सक लोग रहते थे। मसागा वालों ने बड़ी वीरता पूर्वक सिकन्दर का सामना किया, परन्तु अन्त में वे हार गये। लड़ाई में सिकन्दर को तीर का एक घाव लगा। इस लड़ाई में अस्सक लोगों की सहायता के लिये भारत के मैदानों से भी सात हज़ार के करीब

सिपाही आये थे। सिकन्दर ने इस शर्त पर कि वे सिकन्दर की सेना में प्रविष्ट हो जांय उन्हें प्राण दान दिया। पहले तो उन्हों ने इस बात को स्वीकार कर लिया। परन्तु पीछे उन्हें अपने भारतीय जातिभाइयों से लड़ना बड़ा अनुचित मालूम हुआ और उन्होंने यह सलाह की कि चुपचाप सिकन्दर की सेना को छोड़ कर चले जांय। परन्तु यह भेद किसी व्यक्ति ने सिकन्दर से कह दिया। सिकन्दर ने रात को उन्हें एक अलग पहाड़ी पर अपने शिविर से नौ मील दूर डेरा डालने की आज्ञा दी। जब रात को वे सो रहे थे उस समय उन पर सहसा धावा बोल दिया। होश में आकर उन्होंने भी वीरता से मुकाबला किया। उन्हों ने एक चक्र बनाया और उस चक्र में अपने स्त्री बच्चों को रख कर अतीव वीरता से लड़े। स्त्रियों ने भी इस युद्ध में योग दिया। सिकन्दर की सेना के सामने इनकी शक्ति अत्यन्त क्षीण थी। वे सब लोग युद्ध करते करते वहीं मारे गये। बहुत से प्राचीन और आधुनिक लेखक सिकन्दर के इस विश्वासघात और क्रूरता की घोर निन्दा करते हैं। परन्तु विंसेंटस्मिथ आदि एंग्लोइंडियन लेखक इस विश्वासघात, कपट और क्रूरता को नीति-संगत ठहराते हैं। इस से पहले भी एक अवसर पर जब सिकन्दर एक पहाड़ी में लड़ रहा था तो उसके कंधे पर एक तीर लग जाने के कारण यूनानियों ने सब कैदियों को मार डाला, और नगर का नगर भूतल के साथ मिला दिया। आज कल भी लड़ाइयों में यूरोपियन लोग क्रूरता पूर्वक प्राण संहार करते हैं, और देहात के देहात जला देते हैं।

यहां से बजिरा होता हुआ सिकन्दर पुष्करावती (वर्तमान चारसद्द) पहुंचा। इसे अपने अधीन करके वह सिंधु नदी की

और बढ़ा। उसने वर्तमान अटक से सोलह मील ऊपर उद्भांडपुर (वर्तमान ओहिंद या उंद) से सिंधु नदी को पार किया। (जनवरी ३२८ ई. पू.) यहीं पर उसे वे दोनों सेनापति भी मिले जिन्हें उसने काबुल की घाटी के रास्ते आगे भेजा था। इन्होंने सिंध नदी पर पुल पहले से तैय्यार कर छोड़ा था।

यहां उसे तक्षशिला के राजा आंभि के दूत मिले। इस राजा का अभिसार के राजा तथा राजा पुरु के साथ मनोमालिन्य था। इसने बहुत पहले से सिकन्दर के साथ संधि करली थी, और सहायता का वचन दिया था। जिस समय सिकन्दर काबुल के पास 'निकिया' में था उस समय आंभि का पिता उसे आगे जाकर मिला था। अवश्य ही काबुल से सिंध तक का दुर्गम रास्ता पार करने में सिकन्दर को तक्षशिला के राजा से बड़ी भारी सहायता मिली होगी। तक्षशिला भारत का द्वार था, और यह सिकन्दर के लिये दो भारतीय राजाओं की आपस की फूट और परस्पर द्वेष के कारण बड़ी आसानी से खुल गया। जब सिंध पार कर के सिकन्दर ने भारत की पवित्र भूमि पर पैर रखा उस समय तक्षशिला के दूत बहुत सी धनराशि सिकन्दर के पास भेंट लाये। सिकन्दर ने धूमधाम के साथ तक्षशिला में प्रवेश किया।

यूनानियों ने यहीं पर भारतीय साधु देखे; जिन्होंने बहुत बुलाने पर भी सिकन्दर के पास जाने से इनकार कर दिया, और कहा कि सिकन्दर सम्राट है तो क्या, उसे शिष्य-भाव से स्वयं आना चाहिये। जब यूनानी सेनापति 'ओनसीक्राइटस' जो कि प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक 'डायोजिनस' का शिष्य था,

इन के पास गया तो इन भारतीय दार्शनिकों ने पैथागोरस, सुकरात, डायोजिनस आदि यूनानी दार्शनिकों की प्रशंसा की, परन्तु कहा कि यूनानियों का ध्यान वस्त्रों के बनाव शृंगार की तरफ अधिक है। तक्षशिला के राजा की बहुत प्रार्थना पर एक भारतीय साधु ने सिकन्दर के साथ जाना स्वीकार कर लिया।

तक्षशिला-नरेश का उदाहरण देख कर अभिसार के राजा ने भी अधीनता स्वीकार करली। परन्तु जब राजा पुरु के पास इस के लिये दूत भेजा गया तो उसने अधीनता स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया। सिकन्दर मई ३२६ ई. पू. में जेहलम के किनारे पहुंचा। इस समय जेहलम नदी में बाढ़ आयी हुई थी। सिकन्दर चुपचाप ऊपर से जेहलम नदी को पार कर आया। राजा पुरु ने सिकन्दर का बड़ी वीरता से सामना किया, परन्तु अन्त में उसे हार हुई। इस युद्ध का यूनानी॰ लेखकों ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इसमें यूनानी सैनिकों के युद्ध-कौशल और वीरता की बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। ऐतिहासिक लोग इस युद्ध की आलोचना करते हुए इस हार का कारण यह बताते हैं कि भारतीय सेना अत्यन्त भारी शस्त्रों से सुसज्जित थी, जिससे वह सुगमता पूर्वक इधर उधर आ जा न सकती थी। भारतीयों का अधिकतर भरोसा हाथियों पर था, जिन्होंने उन्हें सदा धोखा दिया। राजा पुरु बड़ा बलिष्ट और लम्बे डील का मनुष्य था। वह नौ घाव खाकर पकड़ा गया। जब उससे पूछा गया कि उसके साथ कैसा बर्ताव किया जावे, उसने उत्तर दिया, "जैसा राजा लोग राजाओं के साथ करते हैं"। यह उत्तर प्राचीन हिन्दू आर्यों की सभ्यता और रीति

के अनुकूल था। हिन्दू आर्य किसी पराजित शत्रु का वध न करते थे, बल्कि उसे जीत कर उस का प्रदेश लौटा देते थे। सिकन्दर राजा पुरु की वीरता पर पहले ही मुग्ध था; उस ने राजा पुरु का राज्य उसे ही लौटा कर उसके साथ मित्रता स्थापित करली।

जुलाई ३२६ ई. पू. में उसने चनाव नदी को पार किया। यहां राजा पुरू के भतीजे ने भी उसकी अधीनता स्वीकार करली। अद्रिस्थ या अद्रुष्ठ जातियों के नगर पिम्परम को जीतकर वह सांगला नगर की ओर बढ़ा। यहां पर कैथियन या कथ जाति ने आसपास की और छोटी छोटी जातियों से मिलकर वीरतापूर्वक सिकन्दर का सामना किया। इन जातियों ने बुरी तरह सिकन्दर की सेना के दांत खट्टे किये। परन्तु अन्त में इन्हें भी हार हुई। सिकन्दर ने सांगला को बिलकुल उजाड़ दिया। यहां सिकन्दर व्यास नदी के उत्तर-पश्चिमी तट पर पहुंच गया था।

यहां से सिकन्दर ने व्यास पार करके आगे बढ़ने की इच्छा प्रकट की, परन्तु उसके सैनिक इन लम्बी और कठिन लड़ाइयों से घबरा चुके थे। सेना में विद्रोह का भाव बढ़ गया। सिकन्दर ने अपने भाषण द्वारा उन्हें उत्साहित करने का बहुत प्रयत्न किया; परन्तु जो भाषण पहिले सैनिकों में एक बिजली सी पैदा कर देता था, इस बार उस भाषण का सैनिकों पर कुछ भी असर न हुआ। अन्त में सिकन्दर को वापस जाने के लिये राजी होना पड़ा। सितम्बर, ३२६ ई. पू. में उसने वापस कूच करने की आज्ञा दे दी।

वह वापस फिर जेहलम नदी पर आया, और वहां से नदी के मार्ग से ही वापस हुआ। चलते हुए वह तक्षशिला के राजा

आम्भि और राजा पुरु को अपने साम्राज्य की रक्षा का भार सौंप गया, और उनमें मित्रता भी करा गया। वापस आते हुए उसे कई जातियों से कठोर सामना करना पड़ा। स्वभूति लोगों को जीतने के बाद उसे शिवि, अगलस, मालव, और क्षुद्रक जातियों से युद्ध करना पड़ा। ये जातियां मिलकर सिकन्दर का मुकाबला करना चाहती थीं। क्षुद्रक और मालव लोगों में यद्यपि किसी कारण वैमनस्य था, परन्तु इस समय बाहरी शत्रु के विरुद्ध मालव लोगों की सहायता करना क्षुद्रक लोगों ने अपना कर्तव्य समझा। परन्तु सिकन्दर ने उन दोनों जातियों के मिलने से पहले ही अचानक मालव लोगों पर आक्रमण कर दिया। मालव लोगों ने दो तीन वार वीरतापूर्वक मुकाबला किया, परन्तु उन्हें हारना पड़ा। इस युद्ध में सिकन्दर को ऐसा गहरा घाव लगा कि वह बहुत कठिनता से बच सका। यूनानी सैनिकों ने इसका बदला कैदियों और निरपराध नागरिकों से लिया। उन्हें बड़ी निर्दयता पूर्वक कतल किया गया। यहां तक कि स्त्री बूढ़ों और बच्चों को भी नहीं छोड़ा। इसके बाद अम्बष्ठ, क्षत्रिय आदि [illegible] जातियों को जीत कर सिकन्दर सिंध प्रदेश में पहुंचा। वहां [illegible] मोसिकनोस ने भी बड़ी धीरता से उसका सामना किया। परन्तु इन सब जातियों के साथ लड़ाई करते समय सिकन्दर को आम्भि और राजा पुरु की सहायता ने बहुत लाभ पहुंचाया। अगर भारतीय राजाओं की उसे पहले से सहायता न होती तो इसमें सन्देह है कि उसे इतनी सफलता मिलती या नहीं।

यहां से वह स्वयं मकरान के रास्ते पैदल गया, और अपनी सेना का एक भाग नियार्कस की अधीनता में समुद्रमार्ग से भेजा।

(२) सिकन्दर की भारत विजय
(पृ० १८६-२००)
सिकन्दर का मार्ग
नदियों का प्राचीन मार्ग
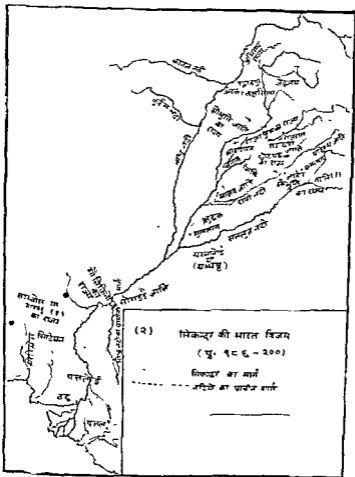
जाते हुए वह पंजाब में फिलिप्पोस को, तथा सिंध में एक और व्यक्ति को प्रतिनिधि नियत कर गया। फिलिप्पोस की सहायता के लिये राजा पुरु और आम्भि को नियुक्त कर गया। लौटते हुए मार्ग में सिकन्दर की सेना को बड़े कष्टों और आपत्तियों का सामना करना पड़ा। नियार्कस के समुद्री बेड़े का भी बहुत बुरा हाल हुआ। भूख, प्यास, गर्मी, और बीमारी से बहुत लोग मर गये।

सिकन्दर अभी किरमिनिया में ही था कि उसे पंजाब वालों के विद्रोह कर देने का समाचार मिला। उस का प्रतिनिधि फिलिप्पोस मार डाला गया था। परन्तु उस समय सिकन्दर कुछ न कर सकता था। उसकी सेना में अब इतनी शक्ति न रही थी। वापस होते हुए सेना का हाल शायद उस से भी बुरा हुआ, जो रूस की विजययात्रा से लौटते हुए नैपोलियन की सेना का हुआ था। जून, ३२३ ई. पू. में बैबीलोन मे सिकन्दर का देहान्त हो गया। भारत पर यूनानी प्रभुत्वका भी इसी के साथ अन्त हो गया।

३२१ ई. पू. में जब यूनानी राज्य की दुबारा बांट हुई तब मकदुनिया के सर्वोच्च अधिकारी एंटीपीटर ने भारतीय प्रान्तों की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया। सिकन्दर की भारतीय विजय-यात्रा मई, सन ३२७ ई. पू. में आरम्भ होकर मई सन ३२५ ई. पू. में, जब उसने सूसा में प्रवेश किया, समाप्त हुई। इस अवधि में से केवल उन्नीस मास सिकन्दर ने सिन्धु नदी के पूर्व में बिताये।

सभी इतिहास-लेखकों का इस बात पर एक मत है कि सिकन्दर के उस बड़े धावे का कोई स्थायी प्रभाव भारत की

राजनीतिक स्थिति या सभ्यता पर नहीं हुआ। यहां तक कि कुछ ऐतिहासिक उसके भारतीय आक्रमण की उपमा उन डाकुओं की लूट खसोट से देते हैं जो सीमाप्रदेश की जातियों की ओर से आये दिन होती रहती है। किसी भी प्राचीन भारतीय इतिहास लेखक ने, चाहे वह हिंदू हो, बौद्ध, या जैन, सिकन्दर या उसके आक्रमण का तनिक भी उल्लेख अपनी पुस्तक में नहीं किया। इसका कारण यही है कि सिकन्दर भारत के किनारे से ही लौट गया, और वास्तविक भारत में प्रवेश करने ही न पाया। उस समय के भारत की राजनीतिकशक्ति और धर्म का वास्तविक केन्द्र मगध बन रहा था, जहां प्रवेश करने का साहस सिकन्दर के सैनिकों को नहीं हुआ।

-※-※-※-

चौथा खण्ड

मौर्य वंश
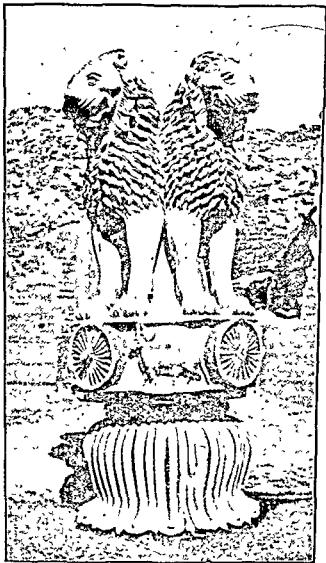
सारनाथ में प्राप्त अशोक-स्तम्भ का शीर्ष-भाग।

सोलहवां अध्याय

सम्राट चन्द्रगुप्त

अब भारत के राजनीतिक रङ्गमञ्च पर एक ऐसा प्रतिष्ठित नाम आता है जो संसार के सम्राटों की प्रथम श्रेणी में लिखने के योग्य है, जिसने अपनी वीरता, योग्यता और व्यवस्था से समस्त-उत्तरीय भारत को विजय करके एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। मगध साम्राज्य के निर्माणका जो कार्य महात्मा बुद्ध के समय में प्रारम्भ हुआ था, उसे चन्द्रगुप्त ने पूर्णता को पहुंचाया। चरित्र की दृष्टि से चन्द्रगुप्त राजा अशोक को नहीं पहुंचता। परन्तु योग्यता, व्यवस्था, वीरता और सैन्य-संचालन में चन्द्रगुप्त न केवल अपने समय में अद्वितीय था, वरन संसार के इतिहास में बहुत थोड़े ऐसे शासक हुए हैं जिनको उसके बराबर कहा जा सकता है।

पिता की ओर से चन्द्रगुप्त नन्द वंश का राजकुमार था, परन्तु उसकी माता संभवतः राजवंश से न थी। ह्वेवल लिखता है कि उसकी मां राजा के मोरों के रखवाले की बेटी थी। इस लिये वंश का नाम मौर्य हुआ। विंसेण्ट स्मिथ लिखता है कि उसकी माता, या दादी, या नानी का नाम मुरा था, इसी से वंश का नाम मौर्य हुआ।

नन्द वंश भी क्षत्रिय वंश न था। अन्तिम नन्द राजा एक नाई की सन्तान बताया जाता है। उस नाई ने तत्कालीन रानी से अनुचित सम्बन्ध उत्पन्न करके राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया था। अस्तु यह कथा वास्तवमें चाहे कुछ ही हो, पर यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन भारत के शासन में केवल क्षत्रियों और ब्राह्मणों की ही विशेषता न थी। कहते हैं अन्तिम नंद ने चन्द्रगुप्त के वध की आज्ञा दी थी, और चन्द्रगुप्तने भाग कर तक्षशिला राज्य में शरण ली थी। जब सिकन्दर तक्षशिला पहुंचा तब चन्द्रगुप्त वहीं था। कहा जाता है कि उसने सिकन्दर को मगध राज्य के विजय करने में सहायता देने का वचन दिया था*। परन्तु यह कथन स्पष्टतया असत्य मालूम होता

* एक यूनानी ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त के विषय में लिखता है कि "सिकन्दर चन्द्रगुप्त की निर्भयता और स्पष्टवादिता से इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने चन्द्रगुप्त के वध की आज्ञा दी। चन्द्रगुप्त ने भाग कर अपनी जान बचायी। जब वह थक कर सोया पड़ा था, उस समय एक बड़े भारी शेर ने आकर अपनी ज़बान से उसका पसीना चूस लिया और धीरे से उसे जगाकर चला गया। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने डाकुओं का एक गिरोह इकट्ठा किया, और राज्य के लिये प्रयत्न करने लगा। इसके कुछ समय बाद जब वह सिकन्दर के सेनापतियों से लड़ाई की तैय्यारी कर रहा था तो एक जंगली हाथी उस के पास आया और उसे उठा कर अपनी पीठ पर बिठा लिया। उसके बाद यह हाथी लड़ाई में हमेशा उसका पथ-प्रदर्शक रहा।"

सम्भव है कि इस कथन में इतनी बात सत्य हो कि चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला। परन्तु बाकी वर्णन से यह परिणाम निकलता है

है, क्योंकि सिकन्दर के तक्षशिला से चलकर व्यास तक पहुंचने के इतिहास में चन्द्रगुप्त का नाम कहीं नहीं आता। सिकन्दर जैसे बुद्धिमान, निपुण और विश्व-विजयी व्यक्ति के लिये चन्द्रगुप्त की सहायता गनीमत थी, और यदि चन्द्रगुप्त वास्तव में सहायता देने पर उद्यत होता तो सिकन्दर उसको अपने साथ लेता।

सिकन्दर जून सन् ३२३ ई. पू. में बेबीलोनियामें मरा। अपनी मृत्युसे पहले उसको अपने राजप्रतिनिधि फिलेप्स के वध का समाचार पहुंच चुका था। सिकन्दर ने फिलेप्स के स्थान में अपनी यूनानी सेना के सेनापति योडीमोस को नियत किया। योडीमोस सिन्धनदी की उपत्यका में सन् ३१७ ई. पू. तक रहा, और तत्पश्चात १२० हाथी (जो उसने संभवतः मित्र राजा पुरु का छल से वध करके प्राप्त किये थे) लेकर चल दिया। पञ्जाब के उत्तर पश्चिम में यूनानी प्रभुत्व का यह अन्तिम चिन्ह था; यद्यपि इस बातका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं कि सन् ३२३ ई. पू. से लेकर सन् ३१७ ई. पू. तक योडीमोसने किस प्रकार के अधिकारोंका पञ्जाबमें उपयोग किया।

कि यूनानी लेखक बहुतसी असम्भव किंवदन्तियों को भी सत्य मानकर लिख देते थे; अतएव उनके लेखों को पूरी तरह सत्य नहीं माना जा सकता। उनके लेखों में बहुत जांच पड़ताल की आवश्यकता है। प्लुटार्क ने भी चन्द्रगुप्त के नाम से एक ऐसी ही बात लिखी है जिस से मालूम होता है कि शायद चन्द्रगुप्त किसी समय सिकन्दर को मिला हो। परन्तु हमें इस बात में बहुत संदेह है।

मेगस्थनीज़ की साची

सन् ३०३ ई. पू. की सन्धिके पश्चात सैल्यूकसने अपना एक दूत, मेगस्थनीज़, चन्द्रगुप्तकी राजसभामें नियुक्त किया था। यह मनुष्य विद्याव्यसनी था। उसने उस समय के वृत्तान्तों को ऐसी स्पष्ट रीतिसे लिखा है कि उसका भ्रमण-वृत्तान्त तत्कालीन भारतकी सभ्यताका सर्वोत्तम निदर्शक गिना जाता है। प्रायः इतिहास-लेखक मेगस्थनीज़ के कथनों को विश्वास्य और सच्चा मानते हैं।

पाटलिपुत्र

मगध राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र ईसा से पूर्व पांचवीं शताब्दी में बनायी गयी। इस स्थान पर सोन नदी गङ्गा में मिलती थी। पाटलिपुत्र के स्थान पर अब पटना नगर बसा है, यद्यपि नदियों के हेर-फेर के कारण अब इन नदियों का संगम दानापुर की छावनी के निकट पटना से १२ मील ऊपर होता है। वास्तविक नगर ९ मील लम्बा और डेढ़ मील चौड़ा था। उसके गिर्द लकड़ी की एक अर्थात सुदृढ़ दीवार थी। इसमें ६४ द्वार थे। उन पर ५७० बुर्ज बने हुए थे। दीवार के गिर्द एक चौड़ी और गहरी खाई थी। यह सोन नदी के जल से भरी जाती थी। राजप्रासाद भी अधिकांश लकड़ी का बना था। यह अपनी सजा-वट और सज-धज में यूनान और [illegible] धामारनर के सर्वोत्तम राजभवनों से टक्कर लेता था। उ[illegible] सभी खम्भों पर सोने का गिलट किया हुआ था, [illegible] में सोने-चांदी के बेल-बूटे और चित्र बने हुए थे। [illegible]भी भवन एक विस्तृत उद्यान में खड़े थे, जिसमें नाना प्रकार के सरोवर थे, और नहरें चलती थीं। सोने के कुछ [illegible] और बर्तन छः छः फुट चौड़े थे।

तांबे के पात्रों पर रत्नों का जड़ाऊ काम था। सारांश यह कि सब वस्तुएं सोने चांदी से जगमगा रही थीं। राजा की सवारी सोने की पालकी में निकला करती थी। पालकी में मोतियों के गुच्छे लटकते थे। राजकीय परिच्छद बारीक मलमल का होता था। उसमें सोने और चांदी का बहुमूल्य काम किया होता था।

मेगस्थनीज़ ने राजकीय हाथियों और घोड़ों का भी वर्णन किया है। वह कहता है कि राजा प्रायः जन्तुओं की लड़ाई देखा करता था। गाड़ियों की दौड़ एक प्रसिद्ध खेल था। इस में घोड़े और बैल दोनों जोते जाते थे। घोड़ा मध्यमें और बैल उसके दोनों ओर। इन गाड़ियों की गाड़ीवान युवती लड़कियां होती थीं। जब राजा शिकार को जाते थे तो उनकी शरीर-रक्षिका स्त्रियां होती थीं। ये स्त्रियां भिन्न भिन्न देशों से खरीद कर लायी जाती थीं। विंसेंट स्मिथ की सम्मति में प्राचीन भारत के राजदरबारों में यह प्रथा आम थी। राजा का शरीर-रक्षक प्रायः सशस्त्र स्त्रियों का दल होता था।

सेना महापद्म नन्द की सेना में दो लाख पद-गामी, अस्सी सहस्र अश्वारोही, आठ सहस्र गाड़ियां और छः सहस्र हाथी थे। परन्तु चन्द्रगुप्त की सेना में छः लाख पैदल, तीस हज़ार सवार, नौ हज़ार हाथी और बहुत सी गाड़ियां थीं। प्रत्येक गाड़ी के साथ तीन और प्रत्येक हाथी के साथ चार सिपाही होते थे। इस सारी सेना को नकद वेतन मिलता था।

सैनिक-व्यवस्था चन्द्रगुप्त का सेना-विभाग अतीव पूर्ण था। छः समितियां (बोर्ड) थीं, और प्रत्येक समिति में पांच सदस्य थे। पहिली समिति का काम समुद्र-

सेना का प्रबन्ध था, दूसरी समिति का काम कमसरियट, भारबरदारी, तथा सेना के लिये लुहार, साईस, घसियारों आदि का प्रबन्ध था। तीसरी समिति पैदल पलटनों का प्रबन्ध करती थी। चौथी समिति का काम रिसालों अर्थात घुड़सवार पलटनों का प्रबन्ध करना था। पांचवीं समिति रथों का, तथा छठी हाथियों का प्रबन्ध करती थी।

पाटलिपुत्र नगरका प्रबन्ध

पाटलिपुत्र नगर का भीतरी प्रबन्ध तीस म्युनिसिपल कमिश्नरों के हाथ में था। उनकी छः समितियां या बोर्ड थे। पहिली समिति का काम कला-कौशल और उद्योगधंधे का निरीक्षण करना था। सब औद्योगिक झगड़ों का निपटारा यह समिति करती थी। यह कारीगरों के वेतन की दर नियत करती और उनसे पूरा काम लेती थी। शिल्प में मिलावट आदि नहीं करने देती थी। कारीगरों और शिल्पियों का स्थान बहुत ऊंचा था। जो मनुष्य किसी कारीगर या शिल्पी को ऐसी हानि पहुंचाता जिससे उसकी कारीगरी में फर्क आये, उसको घोर दण्ड दिया जाता था।

दूसरी समिति का काम था कि सब परदेशी व्यक्तियों की निगरानी रखे और उनकी सेवा और सम्मान करे। इस समिति के कर्मचारी समस्त परदेसी यात्रियों के सुख और सुभीते के उत्तरदाता थे। वे उनके दवा-दारू और चिकित्सा का भी प्रबन्ध करते थे। जो यात्री मर जाता था उसका बड़े सम्मान के साथ मृतक-संस्कार किया जाता था; और उसके माल को रक्षा में लेकर उसके उत्तराधिकारियों के पास पहुंचा दिया जाता था। इससे सिद्ध होता है कि मौर्यवंश के राजाओं के

शासन-काल में विदेशों के साथ भारतीयों के घनिष्ट सम्बन्ध थे, और प्रायः लोग विदेशों से इस देश में आते थे।

तीसरी समिति के अधीन जन्म और मरण का विभाग था। चन्द्रगुप्त जन्मों और मृत्युओं के ठीक ठीक ब्योरों पर बहुत बल देता था। उसके समय में मनुष्यगणना के रजिस्टर बहुत पूर्ण रहते थे। यूरोपियन इतिहास-लेखक इसका कारण यह बताते हैं कि चन्द्रगुप्त के समय में प्रति व्यक्ति के हिसाब से कर लिया जाता था। कदाचित यह भी कारण दुरुस्त हो। परन्तु यूरोपियन इतिहास-लेखकों को तो इस सत्य घटना से कि प्राचीन भारत का एक राजा जन्म और मरण के ठीक ठीक ब्योरे तैयार कराता था, इसलिये आश्चर्य होता है कि उनकी सम्मति में यह विभाग आधुनिक सभ्यता का आविष्कार है। परन्तु प्राचीन आर्य्य-सभ्यता और भी कई बातों में आधुनिक सभ्यता से अच्छी थी। इसलिये यह बात कोई आश्चर्य का हेतु नहीं होनी चाहिये।

चौथी समिति के अधीन वाणिज्य था। यह समिति माप और वज़न के सभी यन्त्रों पर अपनी छाप लगाती और सब सौदों का निरीक्षण करती थी। सब व्यापारी एक प्रकार का लायसेंस टैक्स देते थे।

पांचवीं समिति कारखानों का निरीक्षण करती थी। नये और पुराने माल को अलग अलग रखा जाता था। जो लोग नये और पुराने माल में मिलावट करें उन पर जुर्माना होता था। बहुत पुरानी वस्तुओं को बिना इजाज़त बेचना भी मना था। पहली समिति तो शहर के समस्त शिल्प आदि का निरीक्षण करती थी, परन्तु इस समिति का कार्य केवल कार-

खानों की पूरी देखभाल और पड़ताल करना था।

छठी समिति चुङ्गी की देखभाल करती थी। सब बेची हुई वस्तुओं पर कर लिया जाता था। इस कर से बचने का यत्न करने वाला मृत्यु-दण्ड का भागी होता था।

सामूहिक रूप से सारी समिति नगर के साधारण प्रबन्ध की जिम्मेदार थी। मण्डियों, मन्दिरों, बन्दरगाहों, सरकारी भवनों की स्वच्छता और निरीक्षण उनका विशेष कर्त्तव्य था। इस सारे प्रबन्ध की तुलना यदि आधुनिक काल की म्यूनिसिपल कमेटियों से की जाय तो प्राचीन प्रबन्ध कई बातों में अच्छा मालूम देगा।

यह तो थी नगरों के प्रबन्ध की पद्धति। इसी प्रकार प्रान्त भिन्न भिन्न गवर्नरों के अधीन थे, और उनमें भी ऐसा ही प्रबन्ध था। प्रान्तिक अधिकारियों के भी छः विभाग थे:—

(१) कृषि, वन और सिंचाई का विभाग। (२) माप और भूमियां आदि। (३) हिंसक जीवों को नष्ट करने का विभाग, इसमें शिकारियों को पारितोषक आदि दिये जाते थे। (४) राजस्व की प्राप्ति। (५) शिल्प। (६) भवन-निर्माण।

देश के धार्मिक, सामाजिक और साधारण वृत्तों के विषय यूनानी दूतों की सम्मति

मैगस्थनीज़ लिखता है कि साधारणतया देश उस समय वैभवसम्पन्न था। उपज की प्रचुरता थी। भूमि का अधिकांश जल से सींचा जाता था। अनाज और फलों की इतनी बहुतायत थी कि उस समय सर्वसाधारण का यह विचार था कि "आर्यावर्त में कभी अकाल नहीं हुआ। और भोजन प्राप्त करने में

कभी सामान्य तङ्गी नहीं हुई।" यूनानी दूत की दृष्टिमें अकाल न होने का एक कारण यह था कि हिन्दुओं में यह सामान्य प्रथा थी कि वे किसानों की रक्षा करना एक विशेष कर्त्तव्य समझते थे। यद्यपि युद्ध और लड़ाइयां अधिक होती थीं, परन्तु खेती की हानि कभी न होने पाती थी। जहां लड़ाई होती थी उसी के समीप कृषक खेती के लिये भूमि तैय्यार करते थे, और फसल काटते थे। उन्हें कोई कुछ न कहता था। यहां तक कि शत्रु के वृक्ष काटने का भी निषेध था*।

शिल्प और कला-कौशल में भी तत्कालीन भारतीय बड़े निपुण थे, विशेषतः सोने, चांदी और अन्य प्रकार के जवाहरात के आभूषण बनाने में। देश में सोने, चांदी, तांबे, लोहे, रांगे और अन्य प्रकार की धातों की खानें थीं। ये धातें न केवल नाना प्रकार के अलङ्कारों की चीजें बनाने के काम आती थीं, वरन इनसे शस्त्र और युद्ध की अन्य आवश्यक वस्तुएं भी तैयार की जाती थीं। एक स्थान पर मेगस्थनीज़ लिखता है कि "भारतीय यद्यपि सरलस्वभाव हैं, और सादगी को बहुत पसन्द करते हैं, परन्तु रत्नों, अलङ्कारों और परिच्छदों का उनको खास शौक है। परिच्छदों पर सुनहला और रुपहला काम कराते हैं। वे निहायत बारीक से बारीक मलमल पर फूलदार काम की हुई पोशाकें पहनते हैं। पोशाक में वे एक प्रकार का चोगा, चादर और पगड़ी पहना करते हैं। ऊपर छतरियां लगाते हैं, क्योंकि भारतीयों को सौन्दर्य का बहुत ध्यान है।"

* देखो कैम्ब्रिज हिस्ट्री पृ० ४१०।

ऐसा प्रतीत होता है कि मेगस्थनीज़ से पहले यूनानियों ने कभी गन्ने (जिससे शक्कर बनायी जाती है) का नाम न सुना था, और न कभी रूई देखी थी। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीय लोग मधु-मक्खियों की सहायता के बिना सरकण्डों के एक प्रकार के पौधे से शक्कर बनाते हैं, और पेड़ों से रूई पैदा करते हैं, जो भेड़ों की ऊन से भी अधिक कोमल होती है। यूनानियों को हिन्दुओं के स्वास्थ्य पर भी आश्चर्य होता था। उन्होंने लिखा है कि भारत में वैद्यों को सांप काटे की चिकित्सा के सिवा और कोई काम नहीं है, क्योंकि ये लोग अतीव नीरोग हैं, इन्हें रोग बहुत कम होता है और वे देर तक जीते हैं*। उनके स्वास्थ्य का यह कारण बताया गया है कि उनका भोजन सादा है, और वे मदिरापान नहीं करते।

मेगस्थनीज़ ने लोगों की रीति-नीति का वर्णन करते हुए उनकी भद्रता और सरलता की बड़ी प्रशंसा की है†।

नियार्कस लिखता है कि ईरान के सदृश भारत में राजाओं को प्रणाम करते समय भूमि-चुम्बन या पृथ्वी तक झुकने की प्रथा न थी। भारतीय लोग जन्तुओं को बहुत प्यार करते थे‡।

* "Since diseases were so rare among Indians."
देखो, 'कैम्ब्रिज हिस्टरी' पृ० ४०३।

"Singularly free from disease and long lived." वही पृ० ४०७।

† "A noble simplicity seemed to him the predominent characteristic." वही पृ० ४१२

‡ "The Indians do not think lightly of any animal, tame or wild."
'कैम्ब्रिज हिस्टरी' पृ० ४१०।

यूनानी इतिहास-लेखक यह भी लिखते हैं कि उस समय हिन्दू पर्वों के अवसरों पर बहुत धूम-धाम करते थे, समारोह-पूर्वक बड़े बड़े जुलूस निकालते थे, जिनमें सोने और चांदी के गहनों से सजे हुए विशालकाय हाथी सम्मिलित होते थे। चार चार घोड़ों और बहुत से बैलों की जोड़ियोंवाली गाड़ियां और बल्लमबरदार होते थे। जुलूस में अतीव बहुमूल्य सोने चांदी और जवाहरात के काम के बर्तन और प्याले आदि साथ जाते थे। उत्तमोत्तम मेज, कुरसियां और अन्य सजावट की सामग्री साथ होती थी। सुनहले तारों से कढ़ी हुई नफ़ीस पोशाकें, जङ्गली जन्तु, बैल, भैंस, चीते, पालतू सिंह, सुन्दर और सुरीले कण्ठवाले पक्षी भी साथ चलते थे।

मैगस्थनीज़ लिखता है कि "उस समय के हिन्दू सात श्रेणियों में विभक्त थे। पहली श्रेणी में दार्शनिक, दूसरी में मन्त्री या सलाहकार, तीसरी में सिपाही, चौथी में समाचार पहुंचानेवाले विभाग के अधिकारी, पांचवीं में कृषिकार, छठी में शिल्पी, और सातवीं में गडरिये।

दार्शनिकों और मन्त्रियों की श्रेणी से अभिप्राय ब्राह्मणों से है। दार्शनिक वे थे जो धार्मिक कृत्य कराते थे, और नौकरी न करते थे। मन्त्री वे थे जो राजा की नौकरी करते थे। फिर दार्शनिकों को भी दो दो भागों में विभक्त किया गया है। एक वे जो ३७ वर्षतक घोर परिश्रम से विद्योपार्जन करके गृहस्थ बनते थे। दूसरे वे जो विवाह नहीं करते थे, और सदा वनों में निवास करते थे।

मेगस्थनीज लिखता है* कि उस काल के हिन्दू प्रायः सत्यवादी और शुद्धाचारी थे, झूठ न बोलते थे और मदिरापान न करते थे। उनको एक दूसरे की सचाई और पुण्यशीलतापर यहां तक भरोसा और विश्वास था कि सभी प्रतिज्ञाएं मौखिक होती थीं, लिखने की आवश्यकता न होती थी। मुकदमेबाज भी न थे। लोग व्यवहार के दुरुस्त और मामले के साफ थे। वे आपस में एक दूसरे पर पूर्ण विश्वास रखते थे। देश में चोरी बहुत कम थी। घर-बार और माल-असबाब की रक्षा की कुछ आवश्यकता न थी। स्त्रियां बहुत पतिव्रता थीं। दासता का नाम निशान भी न था। पराक्रम और वीरता में समस्त एशियाई जातियों से बढ़कर थे। स्वातन्त्र्यप्रिय थे, और उस समय तक ईरानियों और मकदूनिया वालों के दो हलके से आक्रमणों के सिवा उनपर बाहर से कोई आक्रमण न हुआ था; और न उन्होंने कभी किसी के विरुद्ध कोई चढ़ाई की थी †।

वह यह भी लिखता है कि उस समय में भारत में नगरों की संख्या बहुत अधिक थी, यहां तक कि नकी गिनती करना कठिन था। मेगस्थनीज लिखता ै कि ितने समय तक वह चन्द्रगुप्तकी सेना में रहा, उ· = ए लाख मनुष्यों के समूह में कभी किसी एक दिन में १२ । रुपये से अधिक के मूल्य की चोरी नहीं हुई।

* मैकक्रिन्डल पृष्ठ ६७ से ७१।

† मैकक्रिन्डल पृष्ठ १०३।

चन्द्रगुप्त का फौजदारी कानून बहुत कठोर और पाशविक था। छोटे छोटे अपराधों के लिये हाथ-पैर काट दिये जाते थे, और मृत्युदंड दिया जाता था। कुछ अपराधों के लिये सिर मूंड दिया जाता था, जिसको लोग अतीव अपमानजनक समझते थे।

सिंचाई विभाग। चन्द्रगुप्त के समय में सिंचाई का एक नियमबद्ध विभाग था। नहरें बनी हुई थीं, और प्रत्येक व्यक्ति को बारी बारी से जल मिलता था। खेती की भूमि का पूरा और ठीक माप रखा जाता था।

उस समय सिंचाई के लिये राज्य की ओर से नहरों के अतिरिक्त बड़े बड़े तालाब भी बनवाये जाते थे। चन्द्रगुप्त के एक अधीनस्थ कर्म्मचारी पुष्पगुप्त ने (जिसको वैश्य जाति का लिखा है) एक छोटी नदी पर बांध लगाकर सिंचाई के लिये गिरिनार के समीप पानी का एक जलाशय तैयार कराया, और उसका नाम सुदर्शन सरोवर रखा था। इस सरोवर के एक ओर दुर्ग था और दूसरी ओर शिला-लेख के लिये एक बड़ी चट्टान। परन्तु नालियां पूर्ण न होने पायी थीं कि पुष्पगुप्त का देहान्त हो गया। फिर उस अपूर्ण सरोवर को सम्राट अशोक के समय में राज प्रतिनिधि तुशास्प ने पूरा किया। यह बांध चारसौ वर्ष तक बना रहा, और सन् १५० ई. में एक भारी तूफान में टूट गया। फिर इस बांध को शक जाति के शासक रुद्रदमन ने बनवाया। सन् ४५२ ई. में उसकी फिर मरम्मत हुई, परन्तु उसके बाद वह कब टूट गया इसका पता नहीं।

चन्द्रगुप्त के समय में सड़कों का प्रबन्ध भी बहुत उत्तम था और उनकी सदा मरम्मत होती रहती थी। प्रत्येक आध कोस के अन्तरपर एक पत्थर लगा हुआ था, जिसपर दूरी लिखी

सत्रहवां अध्याय

—:o:—

कौटिल्यका अर्थशास्त्र

सम्राट् चन्द्रगुप्तके राजत्वकालकी बड़ी बड़ी घटनाओंका उल्लेख हमने पिछले परिच्छेद में कर दिया है। ये घटनाएं इतिहास-लेखकोंने अधिकतर मेगस्थनीज़के लेखों से ली हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि मेगस्थनीज़की मूल पुस्तक नष्ट हो चुकी है। उसके कुछ भाग दूसरे यूनानी और रोमन लेखकोंके लेखोंमें उद्धृत किये हुए विद्यमान हैं। उन्हींका संग्रह करके वे वृत्तान्त स्थिर किये गये हैं जो चन्द्रगुप्तके विषयमें इस समय ज्ञात हैं। परन्तु जैसा हम पिछले अध्याय में लिख आये हैं, चन्द्रगुप्तके समयका एक [illegible] प्रबल लेख विद्यमान है। इतिहास वेत्ताओं और विद्वानों [illegible]सका पता पिछले कुछ वर्षों में ही लगा है। इसका [illegible] कौटिल्यका अर्थशास्त्र है। कौटिल्य भी चाणक्यका ही नाम है। उसे विष्णुगुप्त भी कहते हैं। इस पुस्तक में वर्णित विषयोंसे तत्कालीन अवस्थाका ऐसा चित्र मिलता है कि उसने प्राचीन आर्य्य लोगों की राजनीतिक व्यवस्था और क्रियात्मक बुद्धि के संबन्ध में आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों के विचारों में एक भारी क्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

चन्द्रगुप्त के समय की राज्य व्यवस्था पर अब तक यूनानी लेखकों के लेखों को ही अधिक प्रामाणिक माना जाता था, क्योंकि इसके लिये और कोई सामग्री उपलब्ध न थी, परन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र की उपलब्धि से अब यही पुस्तक इस विषय पर सब से अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। इतना ही नहीं, हिन्दू राजनीति-शास्त्र पर भी यह एक अद्वितीय प्राचीन ग्रन्थ है। यद्यपि कुछ ऐतिहासिक कौटिल्य अर्थशास्त्र के मौर्य काल में चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री चाणक्य द्वारा लिखे जाने के संबन्ध में सन्देह करते हैं, और इसे उसके कुछ सदियों बाद का लिखा हुआ मानते हैं, परन्तु अब ऐतिहासिकों के बहुमत ने इस बात को प्रायः स्वीकृत कर लिया है कि यह ग्रन्थ मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रधानमन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य का ही लिखा हुआ है, और इसमें वर्णित राज्य-व्यवस्था के आधार पर चन्द्रगुप्त की राज्यव्यवस्था का अनुमान लगाने का प्रयत्न करना कुछ अनुचित नहीं। फिर भी भिन्न भिन्न यूरोपियन लेखकों ने भिन्न भिन्न रीति से इस सामग्री का उपयोग किया है, और अपनी अपनी रुचि के अनुसार उससे परिणाम निकाले हैं। उदाहरणार्थ, जो परिणाम हेवल ने निकाले हैं वे कई महत्त्वपूर्ण विषयों में विंसेंटस्मिथ के परिणामों से भिन्न हैं। विंसेंटस्मिथ यद्यपि चन्द्रगुप्त और उसके मन्त्री चाणक्य की योग्यता और उनके महत्त्व को स्वीकार करता है, और यह भी मानता है कि चन्द्रगुप्त का राज्य-प्रबन्ध ऐसा पूर्ण था कि उसकी उपमा प्राचीन संसार के किसी दूसरे देश में नहीं पायी जाती, यहां तक कि वह इसको यूनानियों के प्रबन्ध से और अकबर के प्रबन्ध से भी अधिक पूर्ण पाता है, परन्तु कुछ अंगों में वह

चन्द्रगुप्त और हिन्दुओं के तत्कालीन राजनीतिक शील के विरुद्ध, पक्षपात से, अनुचित टिप्पणी भी करता है। बात वास्तव में यह है कि दो एक बातों को छोड़कर चन्द्रगुप्त के समय का राजनीतिक शील और राजनीतिक पद्धति वर्तमानकाल से किसी बात में कम न थी, बल्कि कुछ अङ्गों में इस से उत्तम और अधिक पूर्ण थी।

कौटिल्य चन्द्रगुप्त का प्रधानमन्त्री था। उसने अर्थशास्त्र में अपने समय की शासनव्यवस्था, शासन-नीति आदि का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इस में कोई सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त कालीन भारत की दशा जानने के लिये अत्यन्त प्रामाणिक है, क्योंकि यह एक ऐसे आदमी द्वारा लिखा गया है जो उस समय भारतीय साम्राज्य का कर्णधार था। पर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि अर्थशास्त्र में ऐसे भागों की भी कमी नहीं है, जो केवल सिद्धान्त सम्बन्धी हैं, जो उसके अपने विचार हैं। अतः इस ग्रन्थ का सावधानता से प्रयोग करना चाहिये।

कौटिल्य और मेकावली की तुलना

विंसेंट स्मिथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र की इटली के प्रसिद्ध राजनीतिक [illegible] मेकावली की जगत्प्रसिद्ध पुस्तक, "प्रिंस", के सा[illegible] तुलना करता है। यह 'प्रिंस' शासननीति पर एक प्रसिद्ध पुस्तक है। यद्यपि बहुत से यूरोपीय राजनीतिक तत्ववेत्ता मेकावली के राजनीतिक शीलकी हंसी उड़ाते हैं, और उसको बहुत तुच्छ समझते हैं, परन्तु यूरोप का क्रियात्मक राजनीतिक शील किसी बात में भी मेकावली की शिक्षा से उच्चतर नहीं है। विंसेंट स्मिथ कौटिल्य की इस बात की हंसी उड़ाता है कि राजाओं का

शील प्रजा के शील से भिन्न होना चाहिये; जो बातें प्रजाके लिये, अर्थात किसी समाज के अकेले सदस्यों के लिये अनुचित हैं, और अपराध की सीमातक पहुंचती हैं वे राजाओं के लिये उचित *और शासन के लिये प्रशंसनीय होती हैं । साधारण* प्रजा के लिये किसी दूसरे के माल की चोरी करना अथवा छल, कपट या डाके से किसी की सम्पत्ति पर अधिकार करना अति कुत्सित कर्म है, परन्तु राज्य के लिये ये सब चीजें उचित हैं। जहां एक व्यक्ति के लिये प्रतिज्ञा का भङ्ग करना बहुत बुरा और जघन्य समझा जाता है वहां राज्यों के लिए यह उचित और आवश्यक ठहराया गया है । राज्य के लिये हर प्रकार का धोखा, छल, घूस देना, और घूस लेना उचित समझा जाता है । शत्रु के मित्रों को बहकाना, उनको घूस देकर अपनी ओर कर लेना, उसकी प्रजा में विद्रोह फैला देना, उसके अफसरों को राजद्रोही बना देना, यह सब कुछ राज्यों के लिये उचित हैं । यूरोप के गत तीन सौ वर्ष के इतिहास में कोई ऐसी जाति नहीं जिसने यह सब न किया हो । गत महायुद्ध में जर्मनी ने रूस और इंग्लैण्ड की प्रजा में विद्रोह फैलाने में कोई कसर नहीं उठा रखी, और इंग्लैण्ड तथा फ्रांसने जर्मनी, आस्ट्रिया और रूम की भिन्न भिन्न बस्तियों के साथ वैसा ही किया । छल और कपट का कोई भी साधन दोनों पक्षों ने शेष नहीं रखा । विंसेंट स्मिथ का कौटिल्य की शिक्षा पर हंसी उड़ाना इसी लोकोक्ति को चरितार्थ करता है कि जहां मनुष्य अपनी आंख का शहतीर नहीं देख सकता, वहां उसको दूसरों की आंख का तिल भी पहाड़ देख पड़ता है । यूरोपीय शक्तियों ने कौन

सा काम नहीं किया जिसको कौटिल्य की शिक्षामें विंसेंट स्मिथ आपत्तिजनक समझता है।

भेदिया अर्थात सी. आई. डी. विभाग

कौटिल्य की शिक्षामें एक और बात भी है जिसपर विंसेंट स्मिथ बार बार बड़ी घृणा से टिप्पणी करता है। वह उसका भेदिया विभाग है। कौटिल्यने गुप्तचरों पर बहुत बल दिया है। परन्तु उस समय के सामान्य शील और सत्यप्रियता के स्वभावों को देखते हुए और इस बात को ध्यानमें रखते हुए कि गुप्तचरों के दिये हुए समाचारों की जांच पड़ताल के लिये पांच पांच भिन्न भिन्न विभाग नियत थे, यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त का सी. आई. डी. (गुप्तचर) विभाग ऐसा भूठा न था जैसा आजकल ब्रिटिश भारतमें भारतीय सरकारका सी. आई. डी. विभाग समझा जाता है। बर्तानिया द्वीप-समूह की शासन-प्रणाली भी गुप्तचर विभाग से शून्य नहीं है। यद्यपि वहां की पुलीसकी भद्रता और सत्यपरायणता स्वीकार की जा सकती है, परन्तु गुप्तचर विभाग की सूचनायें सदा सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जैसा सर्वाङ्गपूर्ण गुप्तचर विभाग जर्मनी ने स्थापित किया था, वैसा शायद आज तक संसार में किसी दूसरे राज्यने नहीं किया। परन्तु चन्द्रगुप्तका गुप्तचर-विभाग ब्रिटिश-भारतके गुप्तचर विभाग या पुलिससे किसी अंग में अधिक बुरा और आपत्तिजनक न था। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्तने कोई विभाग ऐसा नहीं छोड़ा जिसमें गुप्तचर न हों। दुर्भाग्यसे वर्तमान ब्रिटिश

सरकारने भी भारत में जीवनका कोई विभाग ऐसा नहीं छोड़ा जिसमें उसने गुप्तचर न छोड़ रखे हों। यह विश्वास करना ज़रा कठिन है कि चन्द्रगुप्त के समय में अध्यापकों और विद्यार्थियोंसे भी गुप्तचरों का काम लिया जाता था, अथवा लड़काको माता पिता पर और माता-पिताको लड़कों पर जासूसी करने की प्रेरणा या आज्ञा दी जाती थी। वास्तवमें थोड़ा बहुत गुप्तचर विभाग तो प्रत्येक शासन-प्रणालीके लिये अनिवार्य है, परन्तु प्रजातन्त्र राज्य में उसके दोष और त्रुटियां ऐसी स्पष्ट दिखाई नहीं देतीं जैसी कि निरङ्कुश एकतन्त्र शासनमें।

चन्द्रगुप्तका फौजदारी कानून

चन्द्रगुप्त के राज्यप्रबन्धपर जो तीसरी आपत्ति की जाती है वह यह है कि इसका फौजदारी कानून अतीव नृशंस था। यह आपत्ति सर्वथा उचित है। आधुनिक कालने इस विषय में बहुत कुछ सुधार किया है, और यूरोप और अमरीका में दण्डका वह आदर्श नहीं रहा जो प्राचीन योरप और प्राचीन भारतमें था। अभी दो तीन सौ वर्ष नहीं हुए कि यूरोपीय देशों के फौजदारी कानून लगभग चन्द्रगुप्तके फौजदारी कानून के समान ही नहीं, वरन उससे भी अधिक कठोर और नृशंस थे। अभी बहुत समय नहीं बीता कि इंगलैण्ड में जादूगरी का दण्ड मृत्यु थी। यूरोपीय देशों में अपराधियों को जीता जला देने के भी उदाहरण मिलते थे। मृत्यु-दण्ड अब बहुत थोड़े अपराधों में दिया जाता है; परन्तु नेपोलियन के समय से पहले बहुत से अपराधों के लिये मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। इस सम्बन्ध में स्पेन में जो दण्ड रोमन कैथोलिक पादरियों ने अपने विरोधियों को दिये

वे भी स्मरण रहने चाहिये। फिर भी कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र पर यह दोष आरोपित नहीं किया जा सकता कि उसने ब्राह्मणों के साथ बहुत अधिक रिआयत की। ब्राह्मण को पानी में डबोकर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। दूसरे अपराधियों को आग में जला दिया जाता था। कुछ अपराधों के लिये ब्राह्मण को भी खानें खोदने भेज दिया जाता था। यही वर्ताव आधुनिक समय में कई यूरोपीय राज्य राजनीतिक अपराधियों के साथ करते रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य अपराधों की तहकीकात के लिये नाना प्रकार के कष्ट देने को भी उचित समझता था। यह रीति भी यूरोप के राज्यों में आधुनिक काल से कुछ समय पहले तक प्रचलित थी, और दुर्भाग्य से भारत में अब भी प्रचलित है।

अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त, राजसत्ता का स्वरूप

अब कौटिल्य के अर्थशास्त्र के मोटे मोटे सिद्धान्त उस क्रम में लिखे जाते हैं जिस में कि उनको यूरोपियन इतिहास-लेखकों ने वर्णन किया है।

सब से पहले यह स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि राजा देखने में निरङ्कुश था, परन्तु उसके अधिकारों पर ऐसे बन्धन लगाये हुए थे जिन से उसकी निरङ्कुशता दूर हो जाती थी। राज्याभिषेक के समय राजा को यह शपथ लेनी पड़ती थी कि प्रजा-रक्षण* उसका परम धर्म्म होगा, और यह रक्षा यह धर्म

* डाक्टर बनर्जी ने यह सम्मति प्रकट की है कि चन्द्रगुप्त का शासन एक प्रकार की मर्यादित या विधिसंगत राजसत्ता (Limited or Constitutional Monarchy) थी।

के नियम के अनुसार करेगा। राजा का यह धर्म था कि वह सदा प्रजा की शिकायतों को सुनने के लिये तैयार रहे। इसके अतिरिक्त प्रिवी कौंसिल या कौंसिल आव स्टेट (मन्त्रिपरिषद्) का यह काम था कि वह राजा को निरंकुशता से रोके। इस प्रिवी कौंसिल में साधारणतया बारह या सोलह सदस्य होते थे, परन्तु कौटिल्य ने इनकी संख्या नियत नहीं की। उस कौंसिल के प्रत्येक सदस्य के अधीन एक एक विभाग होता था। यह कौंसिल आजकल के यूरोपीय देशों के केबीनट (मंत्रिमण्डल) के समान थी। वह सब अंगों में साम्राज्य के शासन की जिम्मेदार थी, और सर्व अधीनस्थ प्रान्तों के शासक नियुक्त करती थी। मैगस्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त के मंत्रियों की सच्चरित्रता और बुद्धिमत्ता की बड़ी प्रशंसा की है।

राजाके कर्त्तव्य और समय—विभाग

कौटिल्य ने राजा के कर्त्तव्योंका वर्णन करते हुए चौबीस घंटों को सोलह भागों में बांटा है। इनमें से पहले भाग में राजा का यह काम था कि वह अपने राज्य की आर्थिक अवस्था और राष्ट्रीय रक्षा के विषयों पर विचार करे। दूसरे भाग में राजा अपनी प्रजा के आवेदन सुनता और अभियोगों का निर्णय करता था। तीसरा भाग स्नान-ध्यान और खान-पान का था। चौथे भाग में वह भेंटें लेता और कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। पांचवां भाग कौंसिल से मन्त्रणा करने और पुलीस विभाग की रिपोर्टें सुनने के लिये नियत था। छठे में राजा विश्राम और चिन्तन करता था। सातवें और आठवें में सैनिक विषयों में योग देता था। इस प्रकार दिन व्यतीत होता था।

रात के पहले भाग में वह फिर अपने गुप्तचर विभाग के

अधिकारियों की रिपोर्टें सुनता था। दूसरे भाग में वह स्नान, संध्या करके खाना खाता था। फिर तीसरे, चौथे और पांचवें भाग में सोता था, छठे भाग में उठकर फिर चिन्तन करता था। सातवें भाग में सरकारी कागजों को पढ़ता और अपने गुप्त कर्मचारियों के नाम आज्ञाएं निकालता था। इसके पश्चात आठवें भाग में प्रातः काल उठकर विशेष राजसभा (दीवान खास) में जाता था। वहां वह अपने गुरु, राजसभा के ब्राह्मण, कौंसिल के सदस्यों और राजकुमारों से मिलता था। फिर कुछ धार्मिक अनुष्ठान करता था।

यह विश्वास करना कठिन है कि प्रत्येक हिन्दू नृपति इन आज्ञाओं का पूर्णरूप से पालन करता था। परन्तु शास्त्रकारोंने उनके लिये यह आदर्श नियत किया था; और ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त दिन में बिलकुल न सोता था और रात दिन राज्य के काम काज में मग्न रहता था। अन्यथा चौबीस वर्षके अल्पकालमें इतने देशों को जीतना और राज्यकी अवस्था ऐसे दृढ़ आधार पर रख देना उसके लिये असम्भव था।

अर्थशास्त्रकार यह भी लिखता है कि पुलिस-विभाग का यह भी कर्त्तव्य था कि वह राजाको लोकमतकी सूचना और भिन्न भिन्न विभागों की कार्यवाही का समाचार देता रहे। राजाको अपने विषयमें टीका-टिप्पणी सुननेका अवसर भी इन रिपोर्टोंमें मिलता था, क्योंकि उस काल में नियमपूर्वक समाचार-पत्र न थे।

विभागों और सरकारी कर्मचारियों के वेतन

अर्थ-शास्त्र में अठारह सरकारी विभागों का वर्णन है; और बड़े बड़े कर्मचारियों की लम्बी लम्बी सूचियां दी गयी हैं। इनमें अन्तःपुरका

अध्यक्ष (चेम्बरलेन), कलेक्टर जनरल, अकौंटेण्ट जनरल, कृषि का अध्यक्ष और कारखानों का अध्यक्ष इत्यादि सब थे। इन कर्म्मचारियों के वेतन भी इस पुस्तक में लिखे हुए हैं। विंसेंट स्मिथ के कथनानुसार, बड़े से बड़ा वेतन जो युवराज और अन्य मन्त्रियों को दिया जाता था, छत्तीस सहस्र रुपया वार्षिक से अधिक न था। (उस समय की मुद्रा में यह वेतन चांदी के अड़तालीस सहस्र पण था, और विंसेंट स्मिथ की सम्मति में एक पण एक शिलिङ्ग अर्थात बारह आने के बराबर समझना चाहिये)। परन्तु वेतनों के अधिक या थोड़ा होने का अनुमान आवश्यक पदार्थों के मूल्य पर होता है, और यह मालूम नहीं कि चन्द्रगुप्त के समय में जीवन के आवश्यक पदार्थों का मूल्य क्या क्या था।

राजस्व और कर विभाग। अर्थ-शास्त्र में राजस्व विभाग के प्रबन्ध पर बहुत बल दिया गया है। उसमें राजस्व और करों के वसूल करने और खर्चों का सविस्तर वर्णन है।

हैवल की सम्मति में राजस्व आय का १६ वां भाग था। इसके अतिरिक्त खानों का किराया वसूल होता था। पशुओं, मोतियों और नमक पर भी कर था। सरकारी जहाज़ों का किराया, सौदागरी पर चुङ्गी का महसूल, मदिरा और द्यूतगृहों पर टैक्स तथा मुद्रा, (पासपोर्ट) की फीस ये सब भी सरकारी आय के साधन थे।

कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि राजा आवश्यकता के समय धनाढ्य लोगों पर विशेष कर भी लगाता था। उपाधि आदि देने के लिये भी भारी भारी रकमें प्राप्त करता था। यह प्रथा

अधिकारियों की रिपोर्टें सुनता था। दूसरे भाग में वह स्नान, संध्या करके खाना खाता था। फिर तीसरे, चौथे और पांचवें भाग में सोता था, छठे भाग में उठकर फिर चिन्तन करता था। सातवें भाग में सरकारी कागजों को पढ़ता और अपने गुप्त कर्मचारियों के नाम आज्ञाएं निकालता था। इसके पश्चात आठवें भाग में प्रातः काल उठकर विशेष राजसभा (दीवान खास) में जाता था। वहां वह अपने गुरु, राजसभा के ब्राह्मण, कौंसिल के सदस्यों और राजकुमारों से मिलता था। फिर कुछ धार्मिक अनुष्ठान करता था।

यह विश्वास करना कठिन है कि प्रत्येक हिन्दू नृपति इन आज्ञाओं का पूर्णरूप से पालन करता था। परन्तु शास्त्रकारोंने उनके लिये यह आदर्श नियत किया था; और ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त दिन में बिलकुल न सोता था और रात दिन राज्य के काम काज में मग्न रहता था। अन्यथा चौबीस वर्षके अल्पकालमें इतने देशों को जीतना और राज्यकी अवस्था ऐसे दृढ़ आधार पर रख देना उसके लिये असम्भव था।

अर्थशास्त्रकार यह भी लिखता है कि पुलिस-विभाग का यह भी कर्त्तव्य था कि वह राजाको लोकमतकी सूचना और भिन्न भिन्न विभागों की कार्यवाही का समाचार देता रहे। राजाको अपने विषयमें टीका-टिप्पणी सुननेका अवसर भी इन रिपोर्टोंमें मिलता था, क्योंकि उस काल में नियमपूर्वक समाचार-पत्र न थे।

विभागों और सरकारी कर्मचारियों के वेतन

अर्थ-शास्त्र में अठारह सरकारी विभागों का वर्णन है; और बड़े बड़े कर्मचारियों की लम्बी लम्बी सूचियां दी गयी हैं। इनमें अन्तःपुरका

जल-सिंचाई

जैसा कि मेगस्थनीज़ ने लिखा है, चंद्रगुप्त की राज्यसंस्था जल की सिंचाई के साधन अपनी प्रजा के लिये उपस्थित करती थी।

जहाजोंका चलाना और नदियोंकी यात्रा

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में भारत में समुद्र और नदियों के द्वारा यात्रा करने की बहुत प्रथा थी। यहांतक कि इस यात्रा के लिये राजकीय पोत और नावें रखी जाती थीं। इनका विभाग सर्वथा अलग था। कौटिल्यने समुद्री जहाज़ों का भी उल्लेख किया है। ये पूर्वमें ब्रह्मा और चीन तक और पश्चिम की ओर अरब तथा ईरान के बन्दरगाहों में जाते थे। नदियों पर सरकारी पुल थे; और नदियों की यात्रा के सम्बन्ध में विशेष नियम थे। पुल लकड़ी, ईंट तथा पत्थर के बने होते थे। कई जगहों पर नावों के भी पुल बनाये जाते थे, अथवा अस्थायी रूप से हाथियों की पीठपर भी पुल बनाने की प्रथा थी।

पब्लिक वर्क्सका विभाग

इसी प्रकार साधारण सड़कों के विषयमें भी नियमपूर्वक व्यवस्था थी। नगरों में जो सड़कें गाड़ियों के लिये बनायी जाती थीं उनके लिये पत्थर या साधारण काठ का फर्श तैयार किया जाता था। बोझ ढोने और पैदल चलने के लिये अलग सड़कें थीं, और श्मशान-भूमिको जाने के लिये अलग। प्रत्येक सड़क की चौड़ाई नियमानुसार नियत की जाती थी। पैदल पथिकों की सड़क चार फुटतक, और दूसरी सड़कें बत्तीस फुटतक, राजकीय मार्ग और बड़े बड़े व्यापारिक पथ उनसे दुगुने चौड़े होते थे। प्रान्तों में बहुत सी सड़कें बनायी जाती थीं। ये राजधानी को बड़े बड़े

नगरों, बड़े बड़े गांवों, बड़ी बड़ी खानों, गोचरभूमियों, उद्यानों और वनों आदि से मिलाती थीं।

संभूय समुत्थान श्रेणियां

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के समयमें भी इकट्ठे मिलकर कारोबार करने की रीति प्रचलित थी। कौटिल्य ने सम्भूयसमुत्थान उन व्यापारिक संगठनों का नाम दिया है, जिन में बहुत से हिस्सेदार अपना अपना हिस्सा डाल कर सम्मिलितरूप से कारोबार करें। इनके अतिरिक्त कृषकों की श्रेणियां (Guilds) भी उस समय में विद्यमान थीं। अर्थशास्त्र में इनके नियमों का विस्तार से वर्णन है।

नागरिक प्रबन्ध

नगर के प्रबन्ध के विषयमें भी अर्थशास्त्रमें बहुत विस्तार के साथ आदेश लिखे हैं। नगर के मध्य में राजभवन होता था। इस प्रासाद के उत्तर में राजपरिवार का देवालय, उत्तर भाग में ब्राह्मण और उच्च कक्षा के शिल्पी, जैसे कि शस्त्र बनानेवाले लोहार और बहुमूल्य पत्थरों के कारीगर रहते थे। उत्तर-पश्चिम भागमें बाजार और अस्पताल थे। अस्पतालों में औषधियां सरकारी भण्डारों से दी जाती थीं। नगरका पूर्वीय भाग क्षत्रियों, वैश्यों और अन्य कारीगरों के लिये विशेषरूप से नियत था। पश्चिमी भाग शूद्रों के लिये होता था। इस भागमें रुई और ऊन के कातनेवाले, चटाई बनानेवाले, और चमड़े के कारीगर ही रहते थे। नगर के भिन्न भिन्न कोनों में व्यवसायी समाजों और सहकारी समाजों के प्रधान कार्यालय थे। नगरोंके नियमों में स्वच्छता पर, जल पहुंचाने पर, फल और पुष्पों के उद्यानों पर, और सरकारी

भवनों की रक्षापर विशेष ध्यान दिया जाता था। जो लोग जलाशय को या सार्वजनिक मार्गों को मैला करते थे, अथवा मृत जन्तुओं या शवों को पड़ा रहने देते थे उनको दण्ड दिया जाता था। कब्रें और श्मशान-भूमियां भी सरकारी थीं। पाटलिपुत्र में प्रत्येक दस घर के लिये एक कुवां था। नगर में छप्पर बनाने की आज्ञा न थी। बड़ी बड़ी सड़कों के रास्तोंपर और साधारण चौकों पर राजभवनों के सामने बड़े बड़े बर्तन पानी से भरे हुए रखे रहते थे; और प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह अपने घर में आग बुझाने के लिये सीढ़ियां, कुल्हाड़ियां, कुण्डे, रस्सियां, टोकरियां, और चमड़े के थैले रखे, और आग लग जानेकी दशा में पड़ोसियों को पूरी सहायता दे।

पशुओं की रक्षा

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में पशुओं के भोजन, गौओं के दोहने और दूध-मक्खन आदि की स्वच्छता के सम्बन्ध में नियम दिये गये हैं। उस में यह भी लिखा हुआ है कि सांड़ों और हाथियों को किस प्रकार पाला जाय। चरवाहों आदियों के वेतन की क्या व्यवस्था की जाय। इसी प्रकार राजकीय अश्वशालाओं का प्रबन्ध भी नियम पूर्वक था। पशुओं को निर्दयता से बचाने के नियम सविस्तर दिये गये हैं।

न्याय-प्रबन्ध

गांवों में न्याय की व्यवस्था गांव के नम्बरदार और स्थानीय पञ्चायतें करती थीं। ये छोटे छोटे अभियोगों का निर्णय करती थीं। इनके अतिरिक्त न्यायालय दो प्रकार के होते थे, दीवानी और

फौजदारी। प्रत्येक न्यायालय में छः जज होते थे। तीन ऐसे जो धर्म-शास्त्र और नीति-शास्त्र का पूरा पूरा ज्ञान रखते हों, और तीन ऐसे जो स्थानीय प्रथाओं और क्रियात्मक व्यवहारों में निपुण हों। अर्थशास्त्र में इन दीवानी और फौजदारी न्यायालयों की सूचियां लिखी हुई हैं। इन सब न्यायालयों की अन्तिम अपील राजा की प्रिवी कौंसल में होती थी।

दुर्भिक्षमें सहायता

यही बड़े न्यायालय दुर्भिक्ष में सहायता का प्रबन्ध करते थे। जो अन्न सरकारी भण्डारों में आता था उसका आधा भाग दुर्भिक्ष के दिनों के लिये सुरक्षित रखा जाता था, और अकाल पड़ने पर इस भण्डार में से अन्न बांटा जाता था। अगली फसल के लिये बीज भी यहीं से दिये जाते थे। लोगों की आजीविका के साधन उपस्थित करने के लिये बड़ी बड़ी इमारतें बनाना आरम्भ कर दिया जाता था। धनाढ्यों से चन्दा लेकर निर्धनों की सहायता की जाती थी, और जहां सम्भव होता था वहां दुर्भिक्ष पीड़ित जनता को नदियों झीलों और समुद्र के तट पर पहुंचा दिया जाता था, या ऐसे स्थानों पर भेज दिया जाता था जहां भोजन मिल सके।

अठारहवां अध्याय

महाराज बिन्दुसार और महाराज अशोक

चन्द्रगुप्त के पश्चात २९८ ई. पू. में उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा* ।

बिन्दुसार ने अपने शासन-काल में दक्खिन को अपने साम्राज्य में मिलाने के सिवा और कोई ऐसा काम नहीं किया जो विशेष महत्व रखता हो । परन्तु यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि दक्खिन को चन्द्रगुप्त ने अपनी मृत्यु से पहले विजय कर लिया था, या बिन्दुसार ने उसके देहान्त के पीछे किया । यह बात मानी हुई है कि दक्खिन, मैसूर की सीमा तक महाराज अशोक के राज्य में

---

* हेमचन्द्र और तारानाथ के कथनानुसार चाणक्य कुछ देर तक बिन्दुसार के समय में भी मन्त्री रूप से रहा । तारानाथ ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त के मरते ही सोलह राजाओं ने विद्रोह करने का प्रयत्न किया । उन्हें चाणक्य ने दबा दिया । देखो, जैकोबी 'परिशिष्ट पर्व' पृ० ६२ ।

मिला हुआ था, और यह बात भी मानी हुई है कि अशोकने अपने राजत्वकालमें केवल कलिङ्गको ही विजय किया। कलिङ्ग, पूर्वमें बङ्गालकी खाड़ी के तटपर एक प्रान्तका नाम था। यह गोदावरी और महानदी के बीच स्थित था। अतएव यह स्पष्ट है कि दक्खिनका अवशिष्ट भाग या तो चन्द्रगुप्तने जीतकर अपने राज्यमें मिलाया या बिन्दुसारने।

पश्चिमी राजाओंके दूत

बिन्दुसार के समय में पाश्चात्य राजाओं के अनेक दूत उसके दरबारमें आये। मेगस्थनीज़ के चले जानेके बाद सैल्यूकसके पुत्र ऐंगिटओकसने नया दूत-समूह भेजा। फिर मिस्र-नरेश टोल्मी-फीलेडलफसने भी 'डेओनीसिऊस' की अध्यक्षतामें एक दूत-समूह भेजा। इस से विदित होता है कि उस समय पाश्चात्य जगत के साथ भारतके सम्बन्ध बहुत विस्तृत थे। व्यापारके अनेक मार्ग खुले थे और आपसमें दूतों का अदल बदल होता था। बिन्दुसारके शासनकालकी एक ... प्रसिद्ध है कि उसने यूनान नरेश एंगिटओकस से ... कोटिका दार्शनिक मांगा और उसके बदले में अतीव मूल्य ...न वस्तुएं देने का वचन दिया। परन्तु ऐंगिटओकस ने हंसीमें यह उत्तर देकर टाल दिया कि मेरी जातिके तत्त्वज्ञानी बिकते नहीं।

युवराजके रूपमें अशोकका काम

अशोक अपने बापका ज्येष्ठ पुत्र न था, परन्तु बिन्दुसार ने उसको सबसे योग्य समझ कर युवराज बना दिया था। बिन्दुसार के जीवन काल में ही अशोकके सुप्रबन्ध और योग्यता का सिक्का जम चुका था। अशोक अपने पिता के समय में पहले

तक्षशिला का राजप्रतिनिधि रहा, और उसके बाद उज्जैन का। तक्षशिला के राज्यमें उस समय काश्मीर प्रान्त, नैपाल, हिन्दूकुश पर्वत तक सारा अफगानिस्तान, बलोचिस्तान और पंजाब मिले हुए थे। तक्षशिलाका विश्वविद्यालय आयुर्वेदकी शिक्षाके लिये विशेष रूप से जगतप्रसिद्ध था। भारत के धनी मानी लोगों के लड़के और विद्याप्रेमी लोग विद्याकी प्राप्ति के लिये तक्षशिला जाते थे।

भारतमें विद्या और कलाओं का दूसरा केन्द्र उज्जैन नगर था। यह दक्षिण पश्चिमी भारतका द्वार और बड़ा नगर गिना जाता था। उज्जैन भारत का ग्रीनविच था, क्यूंकि वहांका विश्वविद्यालय गणित और ज्योतिष के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध था। वहां प्राचीन आर्य्य स्थिर और गतिमान नक्षत्रों और लोकों का अवलोकन करते थे। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि उन दोनों प्रान्तों के प्रबन्ध में अशोकने इतनी योग्यताका परिचय दिया और ऐसा नाम पाया कि उसके पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्रको अलग करके अशोकवर्धनको अपना युवराज बनाया।

अशोकका राजतिलक

बिन्दुसारने पचीसवर्ष तक राज्य किया और वह सन् २७३ ईसा-पूर्वमें मर गया। परन्तु महाराज अशोकका तिलकोत्सव सन् २६९ ई. पू. तक नहीं हुआ। इन बीचके चार वर्षों के विषय में ऐतिहासिकों के अनुमान भिन्न भिन्न हैं। केवल लिखना है कि बहुत सम्भव है कि उसका यह समय परीक्षामें बीता हो, क्योंकि प्राचीन आर्य्यों का तिलकोत्सव उस समय तक नहीं

होता था जबतक कि प्रजा अपने नये राजाके गद्दीपर बैठने को प्रसन्नता से स्वीकार नहीं कर लेती थी।

श्रीयुत जायसवाल का कथन है कि अभिषेक के लिये पचीस साल की उमर की शर्त थी; अशोक की आयु इससे कम थी, इस लिये चारसाल तक अभिषेक नहीं हुआ।

'दिव्यावदान' और सीलोन की अनुश्रुति के अनुसार इस विलम्ब का कारण यह था कि अशोक के और भी भाई थे, और उसे राज्य के लिये और भाइयों से लड़ाइयां करनी पड़ीं। अन्त में अपने भाइयों को मार कर उसने राज्य प्राप्त किया। परन्तु विंसेन्ट स्मिथ इस कथा को बिलकुल निराधार समझते हैं। क्योंकि अशोक के एक लेख के अनुसार उसके राज्य के सत्रहवें या अठारहवें वर्ष उसके भाई जीवित थे। अशोक अपने परिवार का विशेष रूप से सम्मान और सेवा करता था। यह भी कहा जाता है कि उसके कई भाई बहनों ने बौद्धधर्म के प्रचार में भी भाग लिया।

अशोककी सैनिक-नीति, कलिङ्ग-विजय

अशोकने अपने राज्यकालमें केवल एकही लड़ाई की। उसने कलिङ्ग देशको जीतकर अपने राज्यमें मिला लिया। इस युद्ध में मगध और कलिङ्ग के जो राज्य उसने

अशोकके हृदयपर भारी चोट लगी; और उसने अपनी शेष सारी आयुको पश्चात्ताप तथा धर्मप्रचार में व्यतीत किया। उसने अपने कर्मचारियों के नाम जो आज्ञाएं प्रजा पर प्रेम और कोमलता से शासन करनेके सम्बन्ध में निकालीं वे भी उसके हार्दिक भावोंका प्रकाश करती हैं। कलिंग की विजय से अशोक की शासननीति का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।

अशोक के साम्राज्य की सीमाएं

कलिंग की विजय के बाद अशोक का राज्य उत्तर में हिमालय और हिन्दूकुश पर्वत तक पहुंचता था। सारा अफगानिस्तान बिलोचिस्तान और सिंध उस के अधीन था। स्वात और बाजौर के प्रदेश और काश्मीर तथा नैपाल भी उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे। काश्मीर में उसने नयी राजधानी बसायी, जिस का नाम 'श्रीनगर' रखा। नैपाल में भी उसने पुरानी राजधानी के स्थान पर नयी राजधानी ललितपाटन या ललितपुर नाम से बसायी। जब अशोक नैपाल-यात्रा के लिये गया, उस समय उसकी पुत्री चारुमती भी साथ थी। वह भिक्षुणी बन गयी, और नैपाल में रह कर धर्म-प्रचार करती रही। उसने अपने पति देवपाल के स्मारक के रूप में 'देवपाटन' नामी नगर बसाया और एक विहार की भी स्थापना की, जो अब तक पशुपतिनाथ के उत्तर में स्थित है। अशोक ललित-पाटन को बहुत पवित्र स्थान मानता था। यहां उसने पांच बड़े बड़े स्तूप बनवाये; एक नगर के मध्य में और शेष चारों किनारों पर। ये भी अब तक मौजूद हैं।

पूर्व की ओर उस के राज्य में सारा बंगाल मिला हुआ था। दक्षिण में कलिंग, आंध्र और पूर्वीय घाट पर स्थित दक्षिण के

समस्त प्रदेश–नेल्लोर प्रदेश से लेकर पश्चिमीघाट तक के प्रदेश–इसके साम्राज्य में थे। सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, केरलपुत्र, और सातियपुत्र आदि तामिल राज्य स्वतन्त्र राष्ट्र थे।

बौद्ध-धर्म्म की दीक्षा

ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहासन पर बैठने के समय अशोक बौद्ध-धर्म का अनुयायी न था; और उस समय बुद्ध-धर्म भारत में भली भांति प्रतिष्ठित भी नहीं हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध और जैन प्रचारकों ने ब्राह्मणोंकी शिक्षा के विरुद्ध बहुत कुछ अप्रसन्नता फैला दी थी। परन्तु सर्वसाधारणमें अभी इन धर्मों की जड़ पक्की न हुई थी। महाराज अशोकने अपनी सारी शक्ति और प्रभाव बौद्ध-धर्मके प्रचार में लगाया। इसका फल यह हुआ कि पश्चिमी एशियाके कुछ भागको छोड़कर शेष सारे एशियामें बुद्ध-धर्म फैल गया।

अशोक स्वयं भिक्षु रहा

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेने के पश्चात ढाई वर्ष तक अशोक स्वयं भी भिक्षु रहा। यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध धर्म में इस बात की आज्ञा है कि भिक्षु जिस समय चाहे फिर गृहस्थ बन सकता है। ब्रह्मा में इस समय तक भी यह रीति है कि प्रत्येक ब्रह्मी कुछ काल के लिये विहार (भिक्षु आश्रम) में जाकर भिक्षु का जीवन व्यतीत करता है, और वहां से धर्म-शिक्षा ग्रहण करके फिर गृहस्थ के काम काज में लग जाता है। सातवीं सदी में चीनी यात्री इत्सिंग ने अशोक का जो बुत देखा उसमें उसने भिक्षु का धारण किया हुआ था।

बौद्ध धर्म-स्थानों की यात्रा सन् २०६ ई. पू. में जब अशोक को गद्दी पर बैठे चौबीस वर्ष हो गये थे तब उसने बौद्ध-तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। वह राजधानी पाटलिपुत्र से चलकर उत्तर की ओर नैपाल तक पहुंचा। मार्ग में उसने वर्तमान मुजफ्फरपुर और चम्पारन के ज़िलों में पांच बड़े बड़े स्तम्भ खड़े कराये। वहां से चलकर पहले उसने लुम्बिनी कानन की यात्रा की, जहां कहते हैं, महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। इस स्थान पर अशोक ने एक स्तम्भ स्थापित किया जो अब तक विद्यमान है।

इसके पश्चात महाराज अशोक ने कपिलवस्तु की यात्रा की, जहां महात्मा बुद्ध ने अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था। इसके बाद उसने सारनाथ, श्रावस्ती और गया की यात्रा की*। अन्त में कुशीनगर में जाकर उसकी यात्रा समाप्त होगयी। कुशीनगर में भगवान बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। इन सब स्थानों पर अशोक ने अपनी यात्रा के स्मारक स्थापित किये। ये स्मारक चिरकाल के पीछे अब ढूंढे गये हैं। अपनी यात्रा में उसने बहुत सा धन दान दिया, कई स्थानों को सदा के लिये कर से मुक्त कर दिया॥

अशोक के भवन और उसका राजप्रासाद अशोक संसार के उन महाराजों में से था जिन्होंने बड़े बड़े विशाल भवन बनवाये। ईसा की पांचवीं

* सारनाथ (काशी) में बुद्ध ने प्रथम उपदेश दिया था। श्रावस्ती में वह बहुत दिन रहे थे, और गया में उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था।

समस्त प्रदेश—नेल्लोर प्रदेश से लेकर पश्चिमीघाट तक के प्रदेश—इसके साम्राज्य में थे। सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, केरलपुत्र, और सातियपुत्र आदि तामिल राज्य स्वतन्त्र राष्ट्र थे।

बौद्ध-धर्म की दीक्षा

ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहासन पर बैठने के समय अशोक बौद्ध-धर्म का अनुयायी न था; और उस समय बुद्ध-धर्म भारत में भली भांति प्रतिष्ठित भी नहीं हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध और जैन प्रचारकों ने ब्राह्मणोंकी शिक्षा के विरुद्ध बहुत कुछ अप्रसन्नता फैला दी थी। परन्तु सर्वसाधारणमें अभी इन धर्मों की जड़ पक्की न हुई थी। महाराज अशोकने अपनी सारी शक्ति और प्रभाव बौद्ध-धर्मके प्रचार में लगाया। इसका फल यह हुआ कि पश्चिमी एशियाके कुछ भागको छोड़कर शेष सारे एशियामें बुद्ध-धर्म फैल गया।

अशोक स्वयं भिक्षु रहा

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेने के पश्चात ढाई वर्ष तक अशोक स्वयं भी भिक्षु रहा। यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध धर्म में इस बात की आज्ञा है कि भिक्षु जिस समय चाहे फिर गृहस्थ बन सकता है। ब्रह्मा में इस समय तक भी यह रीति है कि प्रत्येक ब्रह्मी कुछ काल के लिये विहार (भिक्षु आश्रम) में जाकर भिक्षु का जीवन व्यतीत करता है, और वहां से धर्म-शिक्षा ग्रहण करके फिर गृहस्थ के काम काज में लग जाता है। सातवीं सदी में चीनी यात्री इत्सिंग ने अशोक का जो बुत देखा उसमें उसने भिक्षुवेष धारण किया हुआ था।

बौद्ध धर्म-स्थानों की यात्रा सन् २-६ ई. पू. में जब अशोक को गद्दी पर बैठे चौबीस वर्ष हो गये थे तब उसने बौद्ध-तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। वह राजधानी पाटलिपुत्र से चलकर उत्तर की ओर नैपाल तक पहुंचा। मार्ग में उसने वर्तमान मुजफ्फरपुर और चम्पारन के ज़िलों में पांच बड़े बड़े स्तम्भ खड़े कराये। वहां से चलकर पहले उसने लुम्बिनी कानन की यात्रा की, जहां कहते हैं, महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। इस स्थान पर अशोक ने एक स्तम्भ स्थापित किया जो अब तक विद्यमान है।

इसके पश्चात महाराज अशोक ने कपिलवस्तु की यात्रा की, जहां महात्मा बुद्ध ने अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था। इसके बाद उसने सारनाथ, श्रावस्ती और गया की यात्रा की*। अन्त में कुशीनगर में जाकर उसकी यात्रा समाप्त होगयी। कुशीनगर में भगवान बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। इन सब स्थानों पर अशोक ने अपनी यात्रा के स्मारक स्थापित किये। ये स्मारक चिरकाल के पीछे अब ढूंढे गये हैं। अपनी यात्रा में उसने बहुत सा धन दान दिया, कई स्थानों को सदा के लिये कर से मुक्त कर दिया॥

अशोक के भवन और उसका राजप्रासाद अशोक संसार के उन महाराजों में से था जिन्होंने बड़े बड़े विशाल भवन बनवाये। ईसा की पांचवीं

* सारनाथ (काशी) में बुद्ध ने प्रथम उपदेश दिया था। श्रावस्ती में वह बहुत दिन रहे थे, और गया में उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था।

शताब्दी के आरम्भ में जब पहला चीनी यात्री फाहियान पाटलिपुत्र में आया तो अशोक का राजप्रासाद अभी खड़ा था। उसे देखकर फाहियान ने यह मत प्रकट किया था, कि उसको देवों और जिन्नोंने बनाया होगा। यह राजभवन ऐसा विशाल था और उसके अन्दर मीनाकारी और पत्थर का काम ऐसा अद्भुत बना हुआ था, कि कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता था कि इस कामके करनेवाले मनुष्य थे। ये सब भवन गङ्गा और सोन नदी के बीच के प्रदेश में दबे पड़े हैं। अब उनके खंडहर पृथ्वी में से खोदे जा रहे हैं।

बौद्ध धर्म के विहार और मन्दिर

इसी प्रकार अशोक ने बहुत से विशाल बौद्ध मन्दिर और विहार बनाये। इनमें भिक्षु और भिक्षुणियों की एक बहुत बड़ी संख्या रहती थी। ये सब भवन नष्ट हो चुके हैं, या कम से कम इस समय प्रस्तुत नहीं; फिर भी उसके भवनों में से सांची के स्तूप, स्तम्भ, गुफाओं के भवन आदि जो कुछ भी मौजूद हैं वे अशोक के समय की वास्तु-विद्या को प्रकट करने के लिये पर्याप्त हैं। पत्थर के जो स्तम्भ अशोक के समय में बने उनमें से कुछ की ऊंचाई पचीस फुट और वजन लगभग पचास टन है। गया के निकट आजीविक सम्प्रदाय के साधुओं के लिये जो गुफाएं अशोक ने बनायीं वे भी अद्भुत हैं। परन्तु सबसे अधिक मनोरञ्जक और महत्वपूर्ण उसके वे लेख हैं जो उसने पर्वतों, चट्टानों और स्तम्भों पर खुदवाये, और जिनमें उसके जीवन तथा राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख है।

शासननीति और धार्मिक सिद्धान्तों की घोषणा

अपने शासन के सत्रहवें या अठारहवें वर्ष उसने अपनी शासन-प्रणाली की घोषणा की; और अपने कर्मचारियों और अधीनस्थ कार्यकर्ताओं के लिये भी सविस्तर आदेश जारी किये। अशोक का नाम उन शिलालेखों के लिये विशेषरूप से प्रसिद्ध है जो उसने अपने राज्य के प्रत्येक कोने में स्थापित कराये, और जो अब भी कई जगह चट्टानों पर और कई जगह स्तम्भों पर लिखे हुए मौजूद हैं।

अशोक के शिला-लेख

महाराज अशोक के शिला-लेख सात प्रकार के हैं:—

१—चतुर्दश शिलालेख—ये अशोक के साम्राज्य के चारों तरफ सात भिन्न स्थानों पर पाये गये हैं। ये लेख, संख्या में कुल चौदह हैं, और थोड़े बहुत भेद के साथ निम्नलिखित सात स्थानों पर पाये गये हैं—

(i) शाहबाजगढ़ी—उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त म पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व में यह स्थान है।

(ii) मानसेरा—यह स्थान उत्तर-पश्चिमीय सीमाप्रान्त में एबटाबाद से पन्द्रह मील उत्तर की ओर है।

(iii) कालसी—यह देहरादून जिले में है।

(iv) गिरनार—यह स्थान काठियावाड़ में जूनागढ़ के समीप है।

(v) सोपारा—यह बम्बई के उत्तर म थाना जिले में है।

(vi धौली—उड़ीसा प्रान्त के पुरी जिले में है।

(vii) जौगढ़—मद्रास प्रान्त में गञ्जाम के समीप है।

२—लघु शिलालेख—ये भी अशोक के साम्राज्य के सात भिन्न भिन्न स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। इनके उपलब्धि-स्थान रूपनाथ (मध्यप्रान्त में), सहसराम (बिहार में), बैराट (जयपुर रियासत में), सिद्धपुर (माइसूर में), ब्रह्मगिरि (माइसूर में), और मास्की (हैदराबाद दक्खिन में) हैं।

३—सप्त स्तम्भ लेख—ये लेख सात स्तम्भों पर उपलब्ध हुए हैं, जो आजकल दिल्ली, बिहार और प्रयाग में विद्यमान हैं।

४—लघु स्तम्भ लेख—ये लेख सारनाथ, साञ्ची और इलाहाबाद में प्राप्त हुए हैं।

५—अन्य स्तम्भ लेख—ये नेपाल की तराई में उपलब्ध हुए हैं।

६—गुहालेख—ये गया से सोलह मील उत्तर में 'बराबर' नाम की पहाड़ी में बनी गुफाओं पर उत्कीर्ण हैं।

७—भाब्रू का शिलालेख—जयपुर रियासत में बैराट नगर के पास ही एक पहाड़ी की चट्टान पर यह लेख उपलब्ध हुआ है।

ये शिलालेख और स्तम्भलेख उत्तर और दक्षिण में हिमालय से आरम्भ होकर और पूर्व तथा पश्चिम में बङ्गाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक मिलते हैं। ये प्राकृत भाषा के भिन्न भिन्न रूपों में लिखे हुए हैं। केवल उत्तर-पश्चिमी सीमा के दो शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं। यह लिपि फारसी अक्षरों के सदृश दायें से बायें लिखी जाती है। शेष सब लेख प्रारम्भिक ब्राह्मी अक्षरों में हैं। इन्हीं अक्षरों से बाद में देवनागरी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अक्षर, जो बायें से

दार्थ को लिखे जाते हैं, निकले ।

ये शिलालेख बहुत ही महत्व पूर्ण हैं। अशोक का प्रायः सारा इतिहास इन्हीं शिला-लेखों के आधार पर संकलित किया गया है। परन्तु ऐतिहासिक उपयोगिता के अतिरिक्त शासन नीति और वैय्यक्तिक और सामाजिक जीवन के जो आदर्श इन लेखों में प्रकट किये गये हैं उन के कारण इन का महत्व बहुत ही अधिक है। इन शिललेखों से हमें यह पता लगता है कि अशोक ने किस प्रकार अपनी शासन-नीति और परराष्ट्र-नीति में एक दम परिवर्तन कर दिये, और किस प्रकार अपने देश में तथा विदेशों में उन उच्च आदर्शों का प्रचार किया। आगे हम इन्हीं लेखों के आधार पर अशोक के इन उच्च आदर्शों का दिग्दर्शन करायेंगे।

अशोक की शिक्षा

अशोक के लेखों और नियमों का सविस्तर वर्णन करना यहां सम्भव नहीं। परन्तु उसकी शिक्षाओं में अधिक बल, अहिंसा और धार्मिक सहिष्णुता पर है। अशोक बार बार धर्म्म और पवित्र जीवन की महिमा वर्णन करता है। माता-पिता, वृद्धों और गुरुजनों के सम्मान की शिक्षा देता है। अशोक ने इस के लिये निम्न-लिखित उपाय अवलम्बन किये :—

(१) शासन-प्रबन्ध में सुधार।
(२) लोगों में धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार।
(३) सार्वजनिक हितकी संस्थायें स्थापित करना।
(४) धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार करना।

शासन-प्रबन्ध और उस में सुधार

मौर्य शासन प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्त सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में ही निश्चित हो चुके थे। अशोक के समय में शासनप्रणाली का ढांचा तो वही बना रहा। अशोक के लेखों में हमें शासन की प्रायः वही परिभाषाएं मिलती हैं; परन्तु शासननीति में अशोक ने बिलकुल परिवर्तन कर दिया।

अशोक भी मन्त्रिपरिषद की सहायता से शासन करता था। प्रान्तों का शासन भी पहले ही की तरह प्रान्तीय शासकों की सहायता से होता था। इन्हें प्रादेशिक कहते थे। प्रान्तीय शासक प्रायः राजवंश के लोगों को नियुक्त किया जाता था। तोशाली, सुवर्णगिरि, उज्जयनी और तक्षशिला राजवंश के कुमारों के अधीन थे, और यही राज्य के मुख्य प्रान्त थे। मन्त्रिपरिषद काफी शक्तिशाली थी।

दिव्यावदान में लिखा है कि अन्तिम दिनों में मन्त्रियों ने अशोक को अधिकारच्युत कर दिया था। यह भी लिखा है कि अशोक ने बौद्ध-संघ को इतना दान दिया कि राज्य का कोष खाली हो चला। इस पर मन्त्रियों ने कुनाल के पुत्र सम्प्रति को जो युवराज था कहा, उसने खजानची को दान देने से रोक दिया। इस बात से यह स्पष्ट है कि राजा पर मन्त्रिपरिषद का कितना दबाव था।

प्रत्येक बड़े नगर और ज़िले में महामात्र नियुक्त थे, जिन में कुछ के अधीन शहरों का न्याय-प्रबन्ध था, कुछ सीमारक्षा का काम करते थे, कुछ का काम अन्तःपुर की स्त्रियों की रक्षा करना

था। रज्जुक लोग जहां भूमिप्रबन्ध आदि का निरीक्षण करते थे, वहां स्थानीय न्याय विभाग का प्रबन्ध करना भी उन्हीं का काम था।

प्रतिवेदक या गुप्तचर भी थे, उनका कार्य सम्राट तक जनता की अवस्था के सम्बन्ध में सची खबरें पहुंचाना होता था।

मनुष्य-गणना का पूरा प्रबन्ध था। हर एक नगर और गांव में व्यवसायियों कृषकों, मज़दूरपेशा लोगों की पूरी संख्या लिखी जाती थी। इस कार्य के लिये राज्य की तरफ से एक अलग विभाग था।

अशोक ने शासनप्रबन्ध में निम्नलिखित बड़े सुधार किये। एक तो अनुसन्धान की प्रथा जारी की। इसका तात्पर्य यह था कि राज्य के अधिकारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते थे, और शासनप्रबन्ध का निरीक्षण करते तथा जनता की शिकायतें सुनते थे।

अशोक ने धर्ममहामात्र और धर्मयुत नाम के नये राज्याधिकारी नियुक्त किये। धर्ममहामात्रों का काम यह था कि यदि न्यायालयों के निर्णय से किसी पर अनावश्यक कठोरता हुई हो तो उसके दण्ड को कम कर दें। वे एक प्रकार के पुनर्विचार का काम करते थे। उन्हें सज़ा घटाने का अधिकार था, बढ़ाने का नहीं। जिन लोगों ने जान बूझ कर अपराध न किया हो, जिन के बहुत बाल बच्चे हों, जिन्होंने सिर्फ किसी के भड़काने मात्र से अपराध किया हो, जो बहुत वृद्ध हों, ऐसे लोगों के विषय में पुनर्विचार करके उनके

दण्ड कम कर दिये जाते थे।

अशोक राज्य की सम्पूर्ण बातों की खबरें प्रतिवेदक या गुप्तचरों के द्वारा मंगाया करता था, विशेष रूप से इसे सदा यह जानने की इच्छा रहती थी कि उस के नियुक्त किये हुए धर्ममहामात्र किस प्रकार कार्य करते हैं। उसने अपने चरों को कह रखा था कि जब कभी कोई खास बात हो, या ऐसा अवसर हो जब कि राज्य के कर्मचारियों में किसी बात पर विवाद या मतभेद हो तो फौरन उसे खबर दी जाय।

एक लेख के द्वारा अशोक ने अपने राज्यकर्मचारियों को इस प्रकार शिक्षा दी—"सब लोग मेरे पुत्र हैं। जैसा मैं अपने पुत्रों की समृद्धि, सुख और उन्नति चाहता हूं, इसी प्रकार प्रजा की उन्नति चाहता हूं। परन्तु तुम लोग पूरी तरह मेरी इस शिक्षा का महत्व नहीं समझते। कुछ लोग कहीं थोड़ा बहुत ख्याल करते भी हैं तो वह भी पूरी तरह नहीं। शासन के इन नियमों और नीति का पूरी तरह पालन होना चाहिये। फिर ऐसा भी होता है कि कुछ लोगों को बिना अपराध कैद कर दिया जाता है, या शारीरिक कष्ट दिये जाते हैं। इस से प्रजा के और लोगों को भी दुख होता है। बिना अपराध किसी व्यक्ति को कोई शारीरिक कष्ट या दण्ड न दिया जाय। इस के लिये मैं आगे से ऐसे विशेष राज्याधिकारियों को भेजा करूंगा जो कोमल हृदय और प्राणियों के जीवन की पवित्रता का ख्याल रखने वाले हों"।

इस घोषणा से अच्छी तरह पता लगता है कि अशोक को इस बात का कितना ख्याल था कि लोगों पर अत्याचार और उन के साथ अन्याय न हो।

अहिंसा और जीव-रक्षा

पहिली आयु में अशोक शैव धर्म्म का अनुयायी था। उसकी पाकशाला के लिये सहस्रों जीव मारे जाते थे। बौद्ध-धर्म्म ग्रहण करने के पश्चात कुछ कालतक उसके भोजन के लिये दो मोर और एक हिरण मारा जाता रहा। परन्तु सन् २५७ ई. पू. में उसने एकदम आज्ञा दे दी कि राजकीय पाकशाला के लिये भविष्य में कोई जीव न मारा जाय। इसके दो वर्ष पहले उसने राजकीय आखेट का विभाग भी बन्द कर दिया था। सन् २४३ ई. पू. में उसने एक नियम प्रचलित किया, जिसके द्वारा बहुत से जीवों का वध करना सर्वथा बन्द कर दिया गया। जो जीव भोजन के लिये मारे जाते थे उनके सम्बन्ध में भी बहुत कुछ बन्धन लगा दिये। वर्ष में ५६ दिन किसी जीव को किसी भी कारण से और किसी भी अवस्था में मारने की आज्ञा न थी। उस समय खास उत्सवों पर जानवरों की लड़ाइयां कराने का लोगों को शौक था। इन्हें समाज कहते थे। अशोक ने इस प्रथा की भी बड़ी निन्दा की।

बड़ोंका सम्मान और छोटों पर दया

इस नियम के द्वारा उसने प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य ठहराया कि वह अपने माता-पिता और अन्य वृद्धों तथा गुरुजनों का सम्मान करे। प्रत्येक व्यक्ति को ताकीद थी कि वह अपने अधीनस्थ लोगों, भृत्यों, दासों और अन्य जीवधारियों के साथ दया और अनुकंपा का व्यवहार करे। उसने लोगों को अपने सम्बन्धियों, साधुओं और ब्राह्मणों की सेवा का उपदेश दिया, और मित्रों और परिचितों को उदारता-

पूर्वक सहायता करना उनका कर्त्तव्य ठहराया।

सत्य-प्रेम और दूसरे धर्म्मों का सम्मान

उसकी शिक्षा का तीसरा अङ्ग सच बोलना था। अहिंसा बड़े छोटों का सम्मान और सत्यप्रेम ये तीन प्रथम श्रेणी के धर्म गिने गये थे। उसने प्रत्येक व्यक्ति का यह भी कर्त्तव्य ठहराया कि वह दूसरों के धर्म्म, विश्वास और उपासना की रीति में बाधक न हो, और प्रत्येक के साथ सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार करे। प्रत्येक के लिये दूसरों के धर्म्म या विश्वास के विषय में कठोर शब्दों के व्यवहार करने का कड़ा निषेध था, क्योंकि उस की सम्मति में सब धर्म्मों की शिक्षा, जीवन की पवित्रता और इन्द्रियों के दमन की ओर ले जाती है। अशोक स्वयं भी सभी धर्म्मों को सम्मान की दृष्टि से देखता और उनके उपदेशकों और प्रचारकों की सेवा करता रहा। उसने एक लेख में लिखा—"जो मनुष्य अपने सम्प्रदाय का आदर करता है और दूसरों की निन्दा करता है वह अपने इस कार्य से वस्तुतः अपने ही सम्प्रदाय को लोगों की दृष्टि में गिरा देता है। क्यूंकि उसके इस कार्य से लोगों की उसके सम्प्रदाय में भी श्रद्धा उठ जाती है।"

दान—पुण्य

अशोक ने दान की बहुत महिमा लिखी है, परन्तु उसकी सम्मति में सबसे बड़ा दान धर्म्म का दान था। उसने बार बार अपने शिलालेखों में धर्म-दान का महत्व समझाने का प्रयत्न किया है।

विधि-विधान

अशोक बाह्य विधि-विधानों और अनुष्ठानों की परवाह न करता था। वह जीवन की

पवित्रता और दूसरों के साथ आदर, प्रेम, और उदारता के व्यवहार को ही महत्त्व देता था। उसने एक स्थानपर यह भी लिखा है कि धर्म्मात्मा बनने का वास्तविक साधन ध्यान है। मैंने बड़े बड़े नियम बना दिये हैं, परन्तु जबतक लोग अपने मन और मस्तिष्क को वश में करके उनके अनुसार आचरण न करें, उन नियमों से कुछ लाभ नहीं। फिर भी उसने अपने सारे कर्मचारियों, अफसरों, कमिश्नरों और ज़िले के मजिस्ट्रेटों का यह कर्त्तव्य ठहराया था कि वे अपने दौरों में कभी कभी भिन्न भिन्न स्थानों पर सभायें करके सच्चे धर्म्म की शिक्षा दें। वर्ष में कुछ दिन इस काम के लिये विशेषरूप से नियत थे।

धर्म्ममहामात्र

जैसा हम ऊपर लिख आये हैं अशोक ने धर्म्ममहामात्र नाम के नये कर्मचारी अपने राज्य में नियत किये थे उनके लिये विशेषरूप से यह भी कर्त्तव्य ठहराया गया था कि वे जीवों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहें, और गुरुजनों के सम्मान और पूजन के लिये जो नियम बनाये गये हैं उनके अनुसार आचरण कराने में विशेष यत्न करें। उन अफसरों को आज्ञा थी कि सभी लोगों पर और सभी सम्प्रदायों पर, यहांतक कि राजपरिवार पर भी निगरानी रखें। स्त्रियों पर स्त्री महामात्र नियत की जाती थीं। निर्धन परिवारों के पालन-पोषण का विशेष प्रबन्ध था। विधवाओं और अनाथों के पालन के लिये भी राजकीय कोषसे सहायता मिलती थी।

पथिकोंके विश्राम और सुखका प्रबन्ध

अशोक के समय में पथिकों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा जाता था। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर उसने

स्वयं लिखा है, कि सड़कों पर मैंने मनुष्यों और पशुओं को शरण देने के लिये पेड़ लगाये हैं, जगह जगह वाटिकाएं लगवायी हैं, प्रत्येक आध कोस पर कुवें खुदवाये हैं, धर्म-शालाएं और सरायें बनवायी हैं, और मनुष्यों तथा पशुओं की आवश्यकता के लिये असंख्य स्थानों पर जल का प्रबन्ध किया है।

मनुष्यों और जन्तुओं के अस्पताल

अशोक शायद भूमण्डल में सब से पहला राजा हुआ है जिसने सरकारी व्यय पर न केवल अपने साम्राज्य में अपितु साम्राज्य से बाहर दक्षिण भारत और यूनानी एशिया के प्रान्तों में भी अनेक लोकोपयोगी कार्य किये; और दूसरे देशों में मेडिकल मिशन भेजे। स्थान स्थान पर मनुष्यों और पशुओं के अस्पताल स्थापित किये।

अशोक के इन अस्पतालों के सम्बन्ध में श्री० विंसेंट स्मिथ ने निम्नलिखित सम्मति दी है:—

"इस में संदेह है कि उस समय तक संसार के किसी और देश में भी इस प्रकार के सार्वजनिक अस्पतालों का ऐसा उत्तम प्रबन्ध था। वर्तमान ईसाई मिशनरी स्थान स्थान पर इस प्रकार की संस्थाएं स्थापित करते हैं, परन्तु उनसे बहुत पहले अशोक के समय में इस प्रकार की संस्थाओं का बहुत उत्तम प्रबंध था। इस से पता लगता है कि जो लोग इन संस्थाओं के लिये दान देते थे वे कितने उच्च विचारों के थे। साथ ही इसमें अशोक की महत्ता का भी प्रमाण मिलता है।"

परराष्ट्र-नीति

दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध में जिस स्वार्थमय कूटनीति के प्रयोग का समर्थन कौटिल्य ने किया था, और जिसका समर्थन आजकल के राज-

नीतिज्ञ भी करते हैं, अशोक ने उससे बिलकुल असहमति प्रकट की। संसार के इतिहास में अशोक पहला व्यक्ति था जिसने अपने स्वार्थों के लिये दूसरे देशों और राष्ट्रों को अधीन करने के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उस ने एक शिलालेख द्वारा यह घोषणा की—

"शस्त्र की विजय वास्तविक विजय नहीं। वास्तविक विजय वह है जो धर्म और प्रेम से प्राप्त की जाती है।" उसने अपने उत्तराधिकारियों को आदेश दिया कि वे तलवार के बल से दूसरे देशों को जीतने का विचार छोड़दें और यह न समझें कि शस्त्र से विजय प्राप्त करना राजाओं का धर्म है। परन्तु यदि उन्हें विवश होकर युद्ध करना ही पड़े तो भी धैर्य और सहिष्णुता को हाथ से न जाने दें, और स्मरण रखें कि वास्तविक विजय वही है जो धर्म से प्राप्त की जाती है।

कलिंग-विजय के बाद उसने यह भी घोषणा की कि "सीमाप्रदेश के जिन राष्ट्रों को मैंने अभी तक विजय नहीं किया उन्हें डरना नहीं चाहिये। मैं उन्हें दुख नहीं पहुंचाना चाहता, किन्तु उनकी प्रसन्नता और समृद्धि में ही मुझे खुशी है।" अशोक ने इस प्रतिज्ञा का पूर्णरूप से पालन किया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों में अशोक के इन सिद्धान्तों ने अवश्य क्रान्ति पैदा कर दी। इसका प्रभाव आस-पास के राष्ट्रों पर भी पड़ा, और उन्होंने भी अशोक की इस नीति का अनुकरण किया। अशोक ने इस नीति को 'धर्म विजय' का नाम दिया।

अशोक ने न केवल सीमावर्ती पाड्य, चोल, सातियपुत्र, केरलपुत्र और सीलोन आदि दक्षिणी राष्ट्रों से मित्रता के

सम्बन्ध स्थापित किये, किन्तु उत्तर पश्चिमी राष्ट्रों के यूनानी सम्राटों से भी वही सम्बन्ध स्थापित किये। सीरिया, मिश्र साइरीन (अफ्रीका के उत्तर में), मैसीडोनिया और एपीरस के सम्राटों से उसके मित्रता के सम्बन्ध थे। इनके पास भी अशोक ने अपनी 'धर्म-विजय' का सन्देश भेजा, इन राष्ट्रों के निवासियों के प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने के लिये उसने उन राष्ट्रों में भी सार्वजनिक हित की संस्थाएं—अस्पताल, धर्मशालाएं, कुवें आदि बनवाये और मार्गों पर छायादार वृक्ष लगवाये। वस्तुतः 'धर्म-विजय' का ऐसा उदाहरण हमें संसार के इतिहास में कहीं भी नहीं मिलता। अपने लेख में अशोक ने उद्घोषित किया कि 'अशोक को अपने सीमावर्ती सब देशों पर 'धर्म-विजय' प्राप्त हुई है, और सीमा से दूर यवन (यूनानी) राष्ट्रों में भी ऐसी ही विजय प्राप्त हुई है।

उक्त वर्णन से यह पता चलता है कि इन 'धर्म-विजयों' से अवश्य ही उस समय के अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अशोक का महत्व बहुत बढ़ गया होगा। यद्यपि अन्य देशों ने इस नीति को स्थिर रूप से कभी अंगीकार नहीं किया। संसार के अन्य देश जब तक युद्ध-नीति को सर्वथा न छोड़दें तब तक एक राष्ट्र का ऐसा करना कितना हानिकारक होता है इसका प्रमाण हमें अशोक के बाद के इतिहास में मिलता है। अशोक के बाद मौर्यसाम्राज्य की शक्ति कम होगयी, और धीरे धीरे वह फिर कई टुकड़ों में बट गया। अवश्य ही इस पतन के और भी कारण रहे होंगे, परन्तु अशोक की नीति भी एक बड़ा कारण थी। भारतीय इतिहास में हमें देर से दो प्रकार की

लाभ प्राप्त नहीं किया। संसार के इतिहास में धर्म्म-प्रचार का यह उदाहरण अद्वितीय और अनुपम है। दूसरे धर्म्मों में धर्म्म-प्रचार के साथ देशों को विजय किया गया, दूसरे धर्म्मों के उपासना-मन्दिरों को गिराया और लूटा गया, और उनके निवासियों पर तरह तरह के अत्याचार किये गये। अब भी लोगों का विश्वास है कि अंजील का प्रचार यूरोपीय जातियों की सेना का अग्रगामी होता है।

विदेशों में बौद्ध प्रचारक

अशोक के बनवाये स्तम्भों आदि पर उन देशों का उल्लेख है जहां महाराज अशोक ने अपने धर्म्म-प्रचारक भेजे। अपने अधिकृत देशों तथा अपने राज्य की सीमा पर बसने वाली जातियों के अतिरिक्त उसने अपने धर्म्म-प्रचारक दक्षिणीभारत के स्वतन्त्र राज्यों और लङ्का में भेजे। मिस्र, शाम, सायरीन, मकदूनिया और एपीरस के राज्यों में भी उसके प्रचारक पहुंचे। उसके धर्म्म-प्रचार के काम का विस्तार एशिया, अफ़्रीका, और यूरोप तीनों महादेशों में हुआ। अधिकृत और आश्रित प्रान्तों और जातियों में उसने तिब्बत और हिन्दुकुश के निवासियों, और हिमालय की भिन्न भिन्न जातियों, काबुल की उपत्यका, गान्धार और यवन आदि लोगों में बुद्ध-धर्म्म का प्रचार किया। उसने विन्ध्याचल और पश्चिमीघाट की जंगली जातियों में भी इस धर्म को फैलाया। लङ्का का वृत्तान्त लिखता हुआ एक लेखक कहता है कि संसार में सभ्यता और धर्म्म-प्रचार के काम में अशोक के उद्योग बहुत उच्च-कोटि के गिने जाने चाहियें। कुछ मुसलमान इतिहास-लेखक, जिनमें

अलबरूनी का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है, कहते हैं कि इसलाम के आरम्भ के समय सारे मध्य एशिया में बौद्ध-धर्म्म फैला हुआ था, और ईरान, ईराक, अजम, रूम और शाम में बौद्ध तत्वज्ञान और बौद्ध-धर्म्म का गहरा प्रभाव था। ईसाई धर्म्म की शिक्षा और रीति-नीतिपर भी बुद्ध-धर्म्म का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। इस बात को निष्पक्ष ईसाई विद्वान भी मानते हैं।

सिंहल में बुद्ध-धर्म्म का प्रचार

लङ्का में उसका भाई महेन्द्र गया। उसने वहां जाकर वहां के राजा तिस्स को बुद्ध-धर्म्म की दीक्षा दी, और बुद्ध-धर्म्म को सारे द्वीप में फैला दिया। कुछ समय के पश्चात महेन्द्र की बहिन गया से बड़ के वृक्ष की एक शाखा ले गयी, और उसको वहां स्थापित किया गया। यह वृक्ष अब तक खड़ा है। सिंहल द्वीप उस समय से अब तक बुद्ध-धर्म्म का अनुयायी है।

दक्षिण के राज्य

अशोक के समय में दक्षिण में चार राज्य थे; चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, और सातियपुत्र। चोल राज्य की राजधानी उरईयूर या पुरानी त्रिचनापली थी। पाण्ड्य राज्य की कुरकाई थी जो अब टिनावली के जिले के अन्तर्गत है। केरलपुत्र के राज्य में मालावार का वह प्रान्त मिला हुआ था जो तुलुव देश के दक्षिण में है। इस के अतिरिक्त चेर राज्य भी इसी में था। सातियपुत्र वर्तमान मङ्गलोर के आस पास था। इन सब राज्यों के साथ अशोक की मित्रता थी, और इन सब में उसने भिन्न भिन्न विहार और मन्दिर बनाये थे।

ऊपर लिखा जा चुका है कि उसने अपने भाई महेन्द्र को

लङ्का भेजा, जिसने अपना शेष जीवन उस द्वीप में धर्म-प्रचार में व्यतीत किया। वहां अब तक उसकी पूजा होती है। महेन्द्र की राख पर लङ्का द्वीप में एक बड़ा अद्भुत स्तूप बना हुआ है। वह उन स्मारकों में से एक है जो लङ्का की शोभा समझे जाते हैं* ।

महावंश में लिखा है कि महाराज अशोक ने अपने प्रचारक पेगू को भी भेजे, जिसका नाम उस समय स्वर्ण-भूमि था। उसने यूनानी देशों में बौद्धधर्म का प्रचार किया। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि बौद्ध-धर्म और बौद्ध रीति-नीतिका गहरा असर यूनानी तत्वज्ञान पर तथा ईसाई-धर्म की शिक्षा और रीति-नीतिपर पड़ा। सभी इतिहास-लेखक इस बातपर एकमत हैं कि अशोक बड़ा धर्मात्मा और विद्वान था। उसके लेख उसके धर्म तथा पवित्रता के भावों से भरे पड़े हैं।

ऐसा ज्ञात पड़ता है कि अशोकके समयमें शिक्षाका सर्व-साधारणमें खूब प्रचार था। यह बात आश्चर्य और गौरव के योग्य है कि अशोक के इकतालीस वर्षके शासन-काल में साम्राज्य में प्रायः शान्ति रही, और देश में कोई भिन्न विद्रोहादि नहीं हुए। इतने बड़े विशाल साम्राज्य का इतने दीर्घकाल तक बिना किसी विद्रोहके रहना इस बातका पर्याप्त

* लङ्का का बसा हुआ नगर अनुराधापुर संसार में बुद्ध-धर्म का एक अद्भुत स्मारक है। इसके सामने, एक अङ्गरेज लेखक के शब्दों में, रोम और यूनान बहुत तुच्छ देख पड़ते हैं। अब भूमि को खोदकर इस नगर के विशाल भवनों आदि को प्रकाश में लाया जा रहा है।

प्रमाण है कि अशोक के समय में सारी प्रजा बहुत सुखी और समृद्धिशाली थी।

धर्म्म-लिपियों, व प्रशस्तियों के रूप में अशोक बहुत बड़ा साहित्य छोड़ गया है। इस साहित्य के तीन भाग किये जा सकते हैं। पहला वह जिसमें उसने राजा के धर्म्म बतलाये और दूसरे वे लेख जो उसने अपने कर्म्मचारियों और अधीनस्थों के लिये आज्ञारूप से प्रचारित किये। तीसरे वह जिसमें प्रजा के लिये शिक्षाएं थीं। परन्तु यह बात विचारणीय है कि इस सारे साहित्यमें उसने कहीं भी सामयिक राजा के प्रति प्रजाको राज भक्ति का उपदेश नहीं किया। उसकी सारी धर्म्मलिपियों में कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता कि प्रजा को सामयिक राजा के प्रति किसी प्रकार की भक्ति और आज्ञानुवर्त्तिता प्रकाश करना चाहिये। क्या उसको कभी इस बातकी आवश्यकताका अनुभव नहीं हुआ या वह समझता था कि जो राजा विशेषरूपसे अपना राजभक्तिका कानून बनाये वह राजा राज्य करनेके योग्य ही नहीं? कुछ भी हो, यह पहेली ऐसी है जिसका कोई स्पष्ट उत्तर हमारे पास नहीं।

इतिहास में अशोक का स्थान

श्री विंसेंट स्मिथ ने लिखा है कि अशोक को अपने उद्देश्य में बड़ी भारी सफलता हुई। उसने बौद्धधर्म को जो उस समय तक भारत में एक छोटा सा सम्प्रदाय था संसार का सब से बड़ा धर्म बना दिया। पांचवीं सदी तक भी मगध के विश्रामगृहों और औषधालयों के प्रबन्ध को देखकर विदेशी यात्री चकित होते थे।

विदेशी नीति में अशोक ने एक दम नया परिवर्तन कर दिया। संसार से युद्धों का हमेशा के लिये अन्त कर डालना

अशोक का एक आदर्श था, और इस दृष्टि से अशोक संसार के आधुनिक महान विचारकों में से किसी से कम न था।

कई लोग अशोक की तुलना ईसाई सम्राट कांस्टेनटाइन से करते हैं। परन्तु कांस्टेनटाइन के चरित्र और प्रचार की रीति में बहुत अन्तर है। बहुत से ऐतिहासिकों का मत है कि कांस्टेनटाइन के धर्मप्रचार के प्रयत्नों के पीछे स्वार्थ और राजनीतिक महत्वाकांक्षा के भाव काम करते थे। परन्तु अशोक के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सिकन्दर और नैपोलियन के साथ भी अशोक की तुलना की जाती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि सिकन्दर और नैपोलियन की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं–दूसरे देशों को जीत कर अपने अधीन बनाने और लूटने–में तथा अशोक की 'धर्म-विजय' में आकाश पाताल का अन्तर है। जिस समय युद्ध लड़ना और दूसरे देशों को जीतकर साम्राज्य-विस्तार करना राजनीतिक सफलता का एक मात्र चिन्ह समझा जाता था, उस समय अशोक जैसे एक भारी शक्तिशाली सम्राट का इस सारी लहर के विरुद्ध आवाज़ उठाना, और 'धर्म विजय' तथा शान्ति की नीति को उद्घोषित करना, [illegible] ही नहीं, बल्कि इस नीति को व्यावहारिक रूप में प्रचलित कर देना, संसार के इतिहास में अभीतक पहली और अन्तिम घटना है। इसी लिये संसार के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्रीयुत वैल्स महोदय ने संसार के इतिहास के छः सब से बड़े व्यक्तियों में अशोक को एक अद्वितीय स्थान दिया है। वस्तुतः अशोक की तुलना संसार के इतिहास में हमें और कहीं नहीं मिलती।

अशोक के उत्तराधिकारी

अशोक की मृत्यु २३२ ई. पू. में हुई। कहा जाता है कि उसकी मृत्यु तक्षशिला में हुई। अशोक के बाद साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी आरम्भ होगयी। अशोक के उत्तराधिकारियों में से किसी का व्यक्तित्व उतना प्रभावशाली नहीं था। साम्राज्य की सैनिक शक्ति अशोक की नीति के कारण वैसे ही कम कर दी गयी थी। अशोक के कई लड़के थे, इस लिये उनमें उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी कुछ विवाद रहा होगा। ये सब कारण थे जिन्होंने अशोक के बाद मगध साम्राज्य की शक्ति को कम कर दिया। यह शक्ति धीरे धीरे क्षीण होती गयी।

जैसा हमने ऊपर कहा है अशोक के कई लड़के थे। चार लड़कों के नाम हमें मिलते हैं। तीवर, कुनाल, जलौक, महेन्द्र। (महेन्द्र के विषय में सन्देह है कि वह उसका भाई था या पुत्र) अशोक के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में बहुत विवाद है *। पर इन में एक राजा है, जो विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। यह है सम्प्रति। जैन साहित्य में सम्प्रति को वही स्थान दिया गया है, जो बौद्ध साहित्य में अशोक को। सम्प्रति

* अशोक के उत्तराधिकारियों और मौर्यवंश के हाथों से साम्राज्य की शक्ति निकल जाने के कारणों के सम्बन्ध में प्रोफेसर सत्यकेतु लिखित "मौर्य साम्राज्य का इतिहास' नामी पुस्तक में बहुत विस्तार से लिखा गया है, और इस में इस विषय पर बहुत सा नया प्रकाश डाला गया है। अशोक से राजा बृहद्रथ तक के इतिहास को इस पुस्तक में प्रायः पूर्ण कर दिया गया है। पाठकों को उससे इस विषय पर लाभ उठाना चाहिये।

बहुत प्रतापशाली राजा था। इसके समय तक मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण नहीं हुई थी। जैनधर्म की शिक्षाओं का विस्तार करने के लिये सम्प्रति ने बहुत प्रयत्न किया। अशोक की तरह ही उसने शस्त्र-विजय के स्थान पर धर्म-विजय स्थापित करने की नीति को जारी रखा। उसने भी भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में अनेक प्रचारक भेजे, अनेक लोकोपकारी कार्य कराये। मौर्य-वंश के इन अन्तिम राजाओं के शासनकाल में विदेशियों के आक्रमण निरन्तर जारी थे। इन आक्रमणों से भी मौर्य साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण होरही थी।

मगध में १८५ ई. पू. तक मौर्य वंश के राजा राज्य करते रहे। अन्तिम राजा बृहद्रथ को मार कर पुष्पमित्र ने मगध में शुंग वंश की स्थापना की।

कहा जाता है कि मौर्यवंश के छोटे छोटे राजा बहुत शताब्दियों तक अधीनस्थ स्थिति में राज्य करते रहे। इसी वंशका एक छोटा राजा सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्युनत्साङ्ग के भारत में आने के समय जीवित था। इसी वंश के कुछ छोटे छोटे राजा ईस्वाकी छठी, सातवीं, और आठवीं शताब्दि कोंकण प्रदेश के आस पास राज्य कर रहे थे।

पांचवां खण्ड

परिवर्तनों की चार शताब्दियां

पूर्व कथन

मौर्यवंश के हाथों से साम्राज्य की शक्ति निकल जाने के बाद से लेकर गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक–बीच के चार सौ वर्षों के काल को–श्रीयुत विंसेंट स्मिथ ने 'अंधकारमय काल' कहा है। वस्तुतः इस काल के सम्बन्ध में अभी तक पर्याप्त ऐतिहासिक खोज नहीं हुई, और ऐतिहासिक घटनाओं की पूर्वापर शृंखला नहीं जोड़ी जा सकी। परन्तु अभी तक जितनी भी सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह काल ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण काल रहा होगा। यद्यपि हमें इस काल के केवल तीन चार शक्तिशाली सम्राटों के ही नाम ज्ञात हैं, और उनकी शक्ति भी चिरस्थायी प्रतीत नहीं होती, तो भी इन चार शताब्दियों में भारत में राजनीतिक शक्ति के लिये जो संघर्ष होते रहे, और राजनीतिक दृष्टि से जो उथल पुथल होती रही, उसके कारण यह काल विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसी काल में कुछ विदेशी जातियों ने भारत में प्रवेश किया, और कुछ प्रदेशों को जीत कर अपनी राजनीतिक सत्ता कायम की। राजनीतिक दृष्टि से यह समय बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। परन्तु भारतीय सभ्यता और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से यह बात और भी महत्त्व पूर्ण है

कि इन सब जातियों ने भारतीय सभ्यता, रहन सहन और धर्म को पूर्णतया अपना लिया, और वे भी भारतीय सामाजिक संगठन के अंग बन गये। इससे भारतीय सभ्यता, धर्म और राजनीतिक जीवन में नया प्रोत्साहन मिला। ये जातियां अवश्य ही अपने साथ अपने धार्मिक विचार, सामाजिक संस्थायें, और नयी प्रथायें तथा रस्में—चाहे ये सब कितनी ही प्रारंभिक अवस्था में हों लायीं, जिनका प्रभाव भारत में हुआ। अभी इस विषय के गहरे अध्ययन की आवश्यकता है कि ये जातियां अपने साथ क्या क्या लायीं, और उनका भारतीय जीवन पर कहां तक प्रभाव पड़ा। इस अध्ययन से भारतीय इतिहास के इस भाग पर विशेष प्रकाश पड़ेगा।

इतना तो हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि इस काल में बौद्ध धर्म का नेतृत्व प्रायः इन्हीं जातियों के सम्राटों के हाथ में था। सम्राट कनिष्क को बौद्ध धर्म का दूसरा अशोक कहना चाहिये। इसी सम्राट के नेतृत्व में बौद्ध धर्म ने महायान सम्प्रदाय का एक नया रूप धारण किया। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस काल में मध्य एशिया, चीन, तथा अन्य बाह्य देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये जाने वाले प्रचारकों में बड़ी संख्या इन्हीं जातियों के व्यक्तियों की थी, जो भारतीय बौद्ध विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करके विदेशों में धार्मिक मिशन ले गये।

यद्यपि इस काल को हम ने भी 'परिवर्तनकाल' का नाम दिया है, परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि यह काल कम महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इस काल के सम्बन्ध में भी अभी पर्याप्त अध्ययन की आवश्यकता है।

उन्नीसवां अध्याय

—:o:—

शुङ्ग, काण्व और आन्ध्र वंश

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, मौर्यवंश का अन्तिम राजा जिसने मगध के सिंहासन पर बैठकर राज्य किया बृहद्रथ था। कहा जाता है कि यह बड़ा विलासी, अत्याचारी, और निर्बल था। इसके सेनापति पुष्पमित्र ने, जिसको इतिहास में पुष्यमित्र भी लिखा है, इसका वध करके मगध के सिंहासन को संभाला, और एक नया वंश चलाया। इस वंश का नाम शुङ्ग वंश था।

नवीन वंश किस प्रकार प्रतिष्ठित होते थे

यूरोपीय इतिहास-लेखक एशियाका इतिहास लिखते समय अनेक बार घृणा और पक्षपातसे यह प्रकट करनेका यत्न करते हैं कि एशियामें नवीन वंशोंकी प्रतिष्ठा प्रायः प्रस्तुत राजाके वधसे हुआ करती है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि राज्य-क्रांति की यह रीति केवल एशिया तक ही परिमित नहीं है। जब कोई राजा अन्याय पर कमर बांध ले, या प्रबन्ध में उपेक्षा दिखलाये, या विलासिता में पड़ जाय, तो उसका

अवश्यम्भावी परिणाम प्रजा में अशान्ति और असन्तोष होता है। इस अशान्ति और असन्तोष से लाभ उठा कर कोई प्रबल सत्ता मैदान में आ जाती है, और जैसा कि 'हैवल' लिखता है, प्राय: राजसभा (कौंसिल आव स्टेट), या मन्त्रिपरिषद प्रजा की स्वीकृति या परामर्श से शासन की बागडोर अपने हाथ में लेती है। पश्चिम में भी ऐसा ही होता रहा है, और पूर्व में भी। वर्तमान काल में जिन देशों में पार्लिमेंट के ढङ्ग पर शासन है, और जहां राजा परिमित राजसत्ता (कांस्टिट्यूशनल) प्रणाली के अनुसार शासन करते हैं, जिनको प्रजा के साथ प्रत्यक्ष रूप से कोई वास्ता नहीं पड़ता, वहां ऐसा नहीं हो सकता। 'हैवल' के मतानुसार हिन्दू राजे महाराजे सदा प्रजा की स्वीकृति से शासन करते थे। चाहे क्रियात्मक रूप से वे कभी निरंकुश भी समझे जाते थे। जब कोई राजा या महाराजा अपनी निरंकुशता की सीमा का उल्लङ्घन कर जाता था, तो प्रजा किसी प्रबल राज्याधिकारी या सेनापति को खड़ा करके राज्यक्रान्ति उत्पन्न कर देती थी। इस क्रान्ति में यदि राजा स्वयं सिंहासन को छोड़ना स्वीकार नहीं करता था तो वह मारा जाता था। 'हैवल' के विचार में मौर्यवंश का अन्तिम शासक भी इसी प्रकार मारा गया, और पुष्पमित्र ने एक नवीन वंश की नींव डाली।*

पुष्पमित्र

जिस समय पुष्पमित्र सिंहासन पर बैठा उस समय मगध साम्राज्य के अन्तर्गत यह

* हम वध को किसी अवस्था में भी अच्छा नहीं समझते। परन्तु हम यह मानने के लिये तैयार नहीं कि यह गिरावट एशिया के देशों का ही विशेष गुण थी।

सारा साम्राज्य नहीं था जो महाराज अशोक ने बनाया था। पुष्पमित्र का राज्य नर्मदा नदी तक था । उसके राज्य में पाटलिपुत्र, विदिशा (वर्तमान भिलसा), और-यदि तारानाथ का लेख सत्य हो तो-जालंधर भी शामिल थे। विदिशा में पुष्पमित्र का पुत्र अग्निमित्र प्रतिनिधि रूप से शासन करता था।

मिनेण्डर का आक्रमण

इसके शासन-काल की प्रसिद्ध घटनाएं दो हैं। एक यह कि सन १५५ ई. पू. से सन १५३ ई. पू. के बीच में बाखतर के राजा के एक सम्बन्धी मिनेण्डर ने* जो मौर्यवंश की समाप्ति पर काबुल और पञ्जाब को दबा बैठा था, भारत पर आक्रमण किया। उसने काठियावाड़ और मथुरा पर अधिकार करके राजपूताने में माध्यमिका पर चढ़ाई की, और पाटलिपुत्र के समीप आ पहुंचा। पुष्पमित्र ने उसका सामना करके उसको भगा दिया। विंसेंट स्मिथ की सम्मति में किसी यूरोपीय सेनापति की ओर से भारत को जीतने का यह दूसरा उद्योग था। परन्तु इसमें सफलता न हुई। इसके पश्चात सोलहवीं शताब्दी तक फिर किसी यूरोपीय शक्ति ने भारत की ओर मुंह नहीं किया।†

अश्वमेध यज्ञ

पुष्पमित्र के राज्यकाल की दूसरी घटना उसका अश्वमेध यज्ञ है। प्राचीन काल में

* राय चौधरी के अनुसार यह मिनेण्डर न था, बल्कि डिमेट्रियस था, जिसने इस समय आक्रमण किया।

† उसका संकेत सोलहवीं सदी में वासकोडेगामा की ओर है।

अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकार केवल चक्रवर्ती राजाओं को ही था। जो राजा बहुत से राजाओं को अपने अधीन करके महाराजाधिराज बनने का दावा करता था वह एक सफेद घोड़ा छोड़ता था। उस घोड़े के साथ कुछ और घोड़े छोड़े जाते थे, और कुछ सेना भी साथ रहती थी। जिस प्रदेश में वह घोड़ा चला जाता था, वहां के राजा को या तो लड़ना पड़ता था, या अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। दोनों अवस्थाओं में राजा घोड़े के पीछे पीछे हो लेता था। इस प्रकार जब घोड़ा और घोड़े के साथ सेना उन प्रदेशों में से लांघकर आ जाती थी, जिनको अधीन करना अभीष्ट होता था, तब घोड़ा छोड़ने वाले राजा को यह अधिकार हो जाता कि वह अश्वमेध यज्ञ करे। जितने कालतक घोड़ा फिरता रहता था ब्राह्मण लोग राजधानी में भिन्न भिन्न अनुष्ठान करते रहते थे। पुष्यमित्र ने इसी मर्यादा के अनुसार यज्ञ किया था।

पुष्यमित्र का धर्म अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मणों का चलाया हुआ अनुष्ठान है। अनेक प्रमाणों के आधार पर इतिहास-लेखकों का यह भी विचार है कि पुष्यमित्र के समय में बुद्ध-धर्म के साथ बहुत कुछ कठोरता हुई। कहा जाता है कि पुष्यमित्र ने बहुत से बौद्ध-विहार और मन्दिर जला दिये। परन्तु हैवल और ह्राइस डेविड्ज़ दोनों इस कहानी को विश्वास्य नहीं समझते *। हां, इतना अवश्य है कि वह परा

* ह्राइस डेविड्ज़ इस बात से इनकार करता है कि भारत में कभी बौद्धों के विरुद्ध अत्याचार किये गये। परन्तु विंसेंट स्मिथ मानता है कि थोड़ा बहुत अत्याचार अवश्य हुआ, यद्यपि भारत से बौद्ध धर्म के उखड़ जाने का यह कारण न था। पुंड्रक लेख में

ब्राह्मणों का था, और ब्राह्मण धर्म को मुख्यता देता था।

पतञ्जलि का काल

भारत का प्रसिद्ध भाष्यकार पतञ्जलि जो योग-सूत्रों का प्रणेता माना जाता है, उसी समय में हुआ है। पतञ्जलि कृत पाणिनीय अष्टाध्यायी का भाष्य भी एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है।

पुष्पमित्र के बाद उसका लड़का अग्निमित्र, तथा उसके बाद वसुमित्र सिंहासन पर बैठा। परन्तु इनके राज्यकाल की घटनाओं के सम्बन्ध में अभी कुछ विशेष ज्ञात नहीं। यह वंश ११२ वर्ष तक मगध में शासन करता रहा। इसका अन्तिम राजा देवभूति, जो बड़ा विलासी और दुराचारी था, दुराचार के एक षड्यन्त्र में मारा गया।

कण्व वंश

शुङ्गवंशके पश्चात सन् ७३ ई. पू. में वसुदेव कण्वने एक नये वंश की नींव डाली। इस वंशने केवल ४५ वर्ष राज्य किया। इनके चार राजा हुए। परन्तु उनके समय में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

आन्ध्रवंश

ऐसा जान पड़ता है कि आन्ध्र राज्य यद्यपि अशोक के समय में उसके अधीन था, परन्तु उसके मरते ही वह स्वाधीन हो गया। इस राज्यका आरम्भ ३०० ई. पू. से कुछ पीछे हुआ, परन्तु इस के आरम्भ की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। चन्द्रगुप्तके समय में तीस बड़े बड़े प्राचीरवाले नगर इनके राज्य के

'भरहुत' नामी स्थान पर शुंग वंशीय राजाओं के राज्यकाल के जो बौद्ध विहार और मन्दिर आदि मिले हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि बौद्धों को इस काल में पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता थी।

अन्तर्गत थे । (इनके अतिरिक्त असंख्य गांव थे।) आन्ध्रोंकी सेनामें एक लाख प्यादे, दो हजार सवार, और एक हजार हाथी थे। अशोकके मरते ही इन लोगोंने अपने अधिकृत देशोंको बढ़ाना आरम्भ कर दिया और सन् २४० या २३० ई. पू. के लगभग पश्चिमी घाटपर गोदावरीके उद्भव के समीप नासिक नगर, जो हिन्दुओंका एक बड़ा तीर्थ गिना जाता है, उनके राज्यमें मिला हुआ था।

राजा हाल

इस वंशका हाल नामक एक राजा कवि हो गया है। इस वंशका दूसरा नाम शातवाहन या शालिवाहन भी था। यह वंश प्राकृत भाषाका बड़ा आश्रयदाता था।

ईसा की लगभग पहली या दूसरी शताब्दि में आंध्र लोगों की दक्षिण-पश्चिमी शक लोगों से लड़ाइयां हुईं। शकों की एक शाखा महाराष्ट्र में आकर बस गयी। परन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णी ने इन से शीघ्र ही महाराष्ट्र फिर वापस ले लिया। इसके शिलालेखों से मालूम होता है कि यह बड़ा प्रतापी राजा था, और "शक, पहलव व अन्य विदेशियों को दक्षिण से निकाल दिया था"।

इसके बाद लगभग १२८ ईसवी में इसका पुत्र वशिष्ठी पुत्र पुलुमायी गद्दी पर बैठा। इसका विवाह उज्जैन के शक महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम की लड़की से हुआ था। रुद्रदामन की दो बार इससे लड़ाइयां हुईं, और रुद्रदामन ने कई प्रदेश इस से छीन लिये, (भाण्डारकर आदि ऐतिहासिकों का ख्याल है कि ये युद्ध गौतमीपुत्र से ही हुए, और रुद्रदामन ने बहुत सा इलाका इस से छीन लिया)।

इस के बाद कई आंध्र राजा हुए, जिन में यज्ञश्री (सम्भवतः १६६ ईसवी) का नाम उल्लेख योग्य है।

आंन्ध्रवंश का सारा राज्यकाल ४५६ या ४६० वर्ष बतलाया जाता है। इतने काल में लगभग उनके ३० राजे हुए। २२५ ईसवी में इस वंश की समाप्ति हुई।

इस वंश के समय में दक्षिण में हिन्दु सभ्यता का खूब विस्तार हुआ। ये लोग ब्राह्मणों के बड़े भक्त थे, और यज्ञादि करते थे। दक्षिण का बाहर के देशों से बड़ा भारी व्यापार था। (पहली दूसरी सदी) आंन्ध्र और शक लोगों के समय में व्यवसाय वाणिज्य की बहुत उन्नति हुई। व्यवसाइयों की सहोद्योग समितियों (सम्भूय समुत्थान) और गिल्डों का इस समय बहुत प्रचार था।

खारवेल

जिस समय आंध्रवंश के राजा दक्षिण में अपना प्रभाव जमा रहे थे। उस समय कलिंग में 'चेत' या चित्रवंश के लोग राज्य कर रहे थे। अशोक के समय से लेकर कलिंग के इतिहास का कुछ विशेष मालूम नहीं। परन्तु सम्भवतः पहली सदी ईसा पूर्व में यहां चेत लोगों के राज्य की स्थापना हुई। इस वंश का विशेष प्रसिद्ध राजा खारवेल हुआ। इसने दक्षिण में अपना प्रभाव फैलाया और उत्तरीय भारत में मगध पर भी आक्रमण किये।

विंसेंट स्मिथ, प्रो. डुब्रियल, तथा श्रीयुत जायसवाल आदि विद्वानों के अनुसार यह आक्रमण शुंगवंशी राजा पुष्पमित्र पर किया गया था। परन्तु खारवेल की तिथि के संबन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। कई ऐतिहासिक उसे लगभग २३ ई. पू. (राजा नंद के ३०० वर्ष बाद) मानते हैं।

बीसवां अध्याय

भारतकी उत्तर-पश्चिमी सीमापर बाख्तर, पारद या पार्थव जातियों के राज्य

एशियामें यूनानी सत्ताके अन्तिम दिन

पीछे लिखा जा चुका है कि उन चार सौ वर्षों में जो अशोक की मृत्युसे लेकर ईसाकी तीसरी शताब्दीके आरम्भिक कालतक गिनने चाहियें, भारतवर्षपर विदेशी जातियों की ओर से कई आक्रमण हुए। इन आक्रमणकारियों में से केवल एक, अर्थात मिनैण्डर ही यूरोपीय सेनापति था। इसका वर्णन पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है।

यह भी पहिले लिखा जा चुका है कि सिकन्दर की मृत्युके पश्चात उसके अधिकृत देशोंको उसके सेनापतियोंने आपसमें बांट लिया। उसके जो अधिकृत देश एशियामें थे वे सैल्यूकस निकेटरके हिस्से में आये। यह वही मनुष्य था जिसको चन्द्रगुप्त ने हराया। सन् २६२ या सन् २६१ ई. पू. में इसका पोता एण्टिओकस इसकी गद्दीपर बैठा। यह परले दरजे का व्यभिचारी, विलासी और मद्यप था। यद्यपि इसके जीवनकाल में

इसकी प्रजा परमेश्वरके सदृश इसकी पूजा करती रही । एंथिट ओकस के राज्यकाल के अन्तिम भाग में इस राज्य के दो प्रान्त—बाख़तर और पार्थिया यूनानियों से स्वतन्त्र हो गये । ये दोनों जातियां ईसा से लगभग २५० वर्ष पूर्व स्वतन्त्र हुई ।

बाख़तर एशिया के उस भाग का नाम है जो हिन्दूकुश के उत्तर में स्थित है, और जिसको पर्वतों से निकलते ही आमू नदी उपजाऊ बनाती है । यह प्रदेश अति प्राचीन काल से सभ्य गिना जाता था, और इस में एक सहस्र नगर बतलाये जाते थे । यह प्रदेश सिकन्दर को विशेष रूप से प्रिय था। सिकन्दर ने बाख़तरवालों पर असीम दया की, और उन्होंने इसके बदले में यूनानी सभ्यता को ग्रहण किया । पार्थिया* उस प्रदेश का नाम था जो ईरान के वनों के उत्तर में कास्पियन समुद्र के दक्षिण-उत्तर में स्थित है । यह प्रान्त, ख्वारिज़म, समरक़न्द और हरात सम्राट दारा के सोलहवें प्रान्त के अन्तर्गत थे । पार्थियावालों ने कभी यूनानी संस्कृति को ग्रहण नहीं किया । वे पूर्ववत अपने जङ्गली स्वभावों पर दृढ़ रहे । ये लोग धनुष-बाण के उपयोग और घोड़े की सवारी में विशेष प्रसिद्धि रखते थे ।

पार्थिया और बाख़तर का विद्रोह

बाख़तर-विद्रोह इस प्रकार हुआ कि शासक डायोडोटसने अपनी यूनानियों से स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । पार्थिया के विद्रोहको विंसेण्ट स्मिथ राष्ट्रीय आन्दोलन का नाम देता है। इस

* संस्कृत ग्रन्थों में जिस 'पारद' जाति का नाम आता है वह संभवतः यही है । 'पार्थिया' और 'पारद' दोनों नामों में सादृश्य है ।

आन्दोलन का अग्रणी एक ऐसा व्यक्ति था जिसके मूल का कुछ पता नहीं, और जिसने अपनी अनुपम वीरता से एक शासक वंश की नींव रखी। यह वंश लगभग ५०० वर्ष तक ईरान में राज्य करता रहा।

भारतीय इतिहास का इन दोनों वंशों के साथ केवल इतना ही सम्बन्ध है कि ये एक दूसरे के पीछे उत्तर-पश्चिमी भारत के सीमा प्रान्त पर राज्य करते रहे; और कुछ समय तक काबुल से यमुना नदी तक, पञ्जाब, उनके अधिकार में रहा। दक्षिण पश्चिम में भी उनके राजप्रतिनिधियों ने पश्चिमी किनारे पर उज्जैन की सीमा तक अधिकार रखा। इनमें से कुछ शासक केवल नाममात्र ही बाखतर और पार्थिया के अधीन थे, और क्रियात्मक रूप से स्वतन्त्र थे। इनमें से बहुतों ने बौद्ध-धर्म या हिन्दू-धर्म को ग्रहण किया, और भारतीय सभ्यता के सामने सिर झुकाया। मिनैण्डर के विषय में बौद्ध-साहित्य में एक प्रसिद्ध पुस्तक है। उसका नाम "मिलिन्द के प्रश्न" है। बौद्धों ने मिनैंडर को मिलिन्द लिखा है।

यूनानी सभ्यता का भारत पर कुछ प्रभाव नहीं हुआ

विंसेंट स्मिथ और हैवल दोनों इस बात में एक मत हैं कि यद्यपि एशिया के यूनानियों* का चिरकाल तक भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अधिकार रहा, और कुछ

* अर्थात बाखतर के लोग। इन लोगों को तत्कालीन इतिहास में यूनानी या 'एशिया के यूनानी', कहा गया है, जैसे आजकल भारतीय अंग्रेजों को ब्रिटिश या भारतीय अंग्रेज (इंडो ब्रिटिश) कहा जाता है।

काल तक उनका राजनीतिक प्रभाव उत्तर भारत में मथुरा की सीमा तक और दक्षिण-पश्चिमी भारत में उज्जैन की सीमा तक विस्तृत हो गया, तथापि यूनानी सभ्यता का कोई प्रभाव भारतीय सभ्यता पर नहीं हुआ। भार तियों ने न यूनान की सभ्यता सीखी, न भाषा सीखी न उनकी राजनीतिक संस्थायें ग्रहण कीं, और न उनकी कलाओं का प्रचार किया।

भारतीय सभ्यता में यूनानी सभ्यता का कोई चिन्ह नहीं है। वास्तुविद्या पर यूनानी सभ्यता का जो हलका सा असर ऐतिहासिक मानते हैं, वह भी उत्तर-पश्चिमी सीमा तक ही परिमित रहा। वास्तविक भारत में इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत इस बात के असंख्य प्रमाण मौजूद हैं कि बौद्ध धर्म का चिरस्थायी प्रभाव सारे पश्चिमी एशिया तथा मिस्र पर हुआ। ईरान, तूरान, रूम, शाम, और मिस्र, यहां तक कि यूनान तक यह पहुंचा, और जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, ईसाई-धर्म की रीति-नीति पर भी इसका यथेष्ट असर पड़ा।

यूनानी और भारतीय तत्वज्ञान के कुछ सिद्धान्त सामान्य हैं। इसी प्रकार बौद्ध तथा ईसाई रीति-नीति में भी किसी कदर सादृश्य है। इस बात से कुछ यूरोपीय लेखक शीघ्र ही से यह परिणाम निकाल लेते हैं कि इन सिद्धान्तों को भारत ने यूनान से सीखा, और बौद्ध-धर्म ने इस रीति-नीति को ईसाई-धर्म से ग्रहण किया। परन्तु सत्य बात तो यह है कि भारत का तत्व-ज्ञान यूनान के तत्वज्ञान से अधिक प्राचीन है। बौद्ध-धर्म उस समय अपनी उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुंच चुका था जब कि ईसाई-धर्म ने जन्म लिया।

कुछ लोगों की यह धारणा है कि ईसाई धर्म-प्रचारक सेण्ट टामस उस समय भारत में आया और राजा गोण्डीफ़ेनस के शासन-काल में—जो सन् २० ई. से सन् ४८ ई. तक कन्धार, काबुल और तक्षशिला में राज्य करता था—उसके देश में उपदेश करता रहा, और वहीं वीरगति को प्राप्त हुआ। परन्तु यह कथा विश्वास्य नहीं समझी जाती. क्योंकि अधिकतर विश्वास्य वृत्तान्त यह है कि सेण्टटामस पहले पहल दक्षिण में आया, और वहीं पर उसने ईसाई-धर्म का प्रचार किया। यह बात भी विश्वास्यरूप से प्रमाणित नहीं समझी जाती कि सेण्ट टामस शहीद हुए थे।

इक्कीसवां अध्याय

शक यूची-कुशान जातियों के आक्रमण और राज्य

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ तातारी जातियां, जो इतिहास में शक और यूची के नाम से प्रसिद्ध हैं, ईसा के पूर्व लगभग दूसरी सदी में चीन के उत्तर-पश्चिमी भाग से चल कर दक्षिण में फैल गयीं। चीन से यूची जाति के प्रवास करने का कारण वही था जो प्राचीन समय में बड़ी बड़ी जातियों को एक देश छोड़कर दूसरे देश में बसने के लिये बाधित करता था। उस समय इन जातियों का प्रवास राजनीतिक कारणों से नहीं, किन्तु आर्थिक कारणों से होता था। यूची जाति के चीन से निकलने का भी यही कारण था। यह जाति दूसरी सदी ईसा पूर्व से पहले उत्तर-पश्चिमी चीन में आबाद थी। वहां से उन्हें एक और जाति ने निकाल दिया। तब ये लोग नई उपजाऊ भूमियों तथा चरागाहों की खोज में निकले। जिस समय वे गोबी के रेगिस्तान में पहुंचे उस समय उनकी संख्या ५ लाख से १० लाख तक थी, और उनके पास असंख्य घोड़े, बैल, व भेड़ें थीं। ईली नदी की घाटी में एक

और जाति ह्युसून से उनका मुकाबला हुआ। जिन्हें पराजित करके वे दो भागों में बंट गये। छोटा हिस्सा तिब्बत के उत्तर में बस गया, और बड़ा हिस्सा बराबर कूच करता रहा। तुर्किस्तान में उनका मुकाबला शक लोगों से हुआ। शक लोग भी कुछ ही काल पहले मध्य एशिया से चलकर बाख़तर आदि प्रदेशों में आबाद हुए थे, और वहां से यूनानी राज्य का अन्त करके इन प्रदेशों पर अधिकार किये हुए थे। शक लोगों को यूची लोगों ने हरा कर दक्षिण की तरफ भगा दिया। उन्होंने शक लोगों को यहां तक दबाया कि वे दक्षिण की ओर बढ़ते बढ़ते भारत के उत्तर-पश्चिमी मार्गों से भारत में प्रविष्ट हुए। यूची लोगों ने बाख़तर आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।

शक लोग भारत में सम्भवतः कई मार्गों से प्रविष्ट हुए। इन की भिन्न भिन्न शाखाओं ने भिन्न भिन्न स्थानों पर राज्य स्थापित किये। उनके मुख्य राज्य तीन स्थानों पर स्थापित हुए। प्रथम गांधार तथा उत्तर पश्चिमी पंजाब, दूसरा मथुरा, तीसरी शाखा दक्षिण पश्चिम की तरफ सौराष्ट्र में बढ़ गयी। इन में से पहली दो शाखाओं के राज्यों के विषय में बहुत कम ज्ञात है। केवल उनके सिक्के और कुछ लेख मिलते हैं। ये लोग पार्थव (पार्थियन) राजाओं के साथ मिल जुल कर कुछ देर राज्य करते रहे। दक्षिण पश्चिम की शाखा का वृत्तान्त हम आगे चलकर लिखेंगे।

ऊपर हमने लिखा है कि शक लोगों को खदेड़ कर यूची लोगों ने उनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। उन्होंने उस इलाके में पांच छोटे छोटे राज्य कायम किये। आखिर यूची

जाति की कुशान शाखा के एक सरदार कैडफाइसेस प्रथम ने लगभग ४० ई. में इन सब को इकट्ठा करके अपने राज्य में मिला लिया। कुछ समय बाद यूची—कुशान लोग भी पीछे से एक और जाति द्वारा खदेड़े जाकर हिन्दुकुश को पार कर भारत की तरफ बढ़े। कैडफाइसिस ने पार्थव लोगों को खदेड़कर सिंध नदी से लेकर फारस की सीमा तक अपना राज्य फैला लिया। अस्सी वर्ष की उमर में वह मरा, और सन् ७७ या ७८ ई. के लगभग उसका पुत्र कैडफाइसिस २य गद्दी पर बैठा। इसने सिंध के पार बढ़कर वहां के पार्थव तथा शक राज्यों को भी नष्ट कर दिया। कहा जाता है कि यह संभवतः बनारस तक बढ़ गया। (यह अनुमान इस लिये किया गया है कि यहां तक उसके सिक्के पाये गये हैं।) कच्छ और काठियावाड़ की तरफ भी उसने अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

इसी समय चीनी सेनापति पांचाऊ मध्यएशिया के देशों को विजय करता हुआ बढ़ रहा था। कैडफाइसिस २य अपने को चीन सम्राट के बराबर समझता था। उसने चीन सम्राट की राजकुमारी के साथ विवाह का प्रस्ताव चीन सम्राट के पास भेजा। सेनापति पांचाऊ ने इसे चीन सम्राट का अपमान समझा, और उसने कैडफाइसिस के दूत को कैद कर के चीन भेज दिया। कैडफाइसिस को यह अपमान असह्य हुआ। उसने बहुत बड़ी सेना को पामीर के मार्ग से चीनियों का मुकाबला करने भेजा। यह मार्ग बहुत दुर्गम था, और इस दुर्गम मार्ग से थकी हुई सेना को पांचाऊ ने बड़ी सफलता पूर्वक पराजय दी। यह घटना लगभग ९० ई. में हुई। कैडफाइसिस चीन को कर देने के लिये बाधित हुआ।

राज्य-विस्तार

इसका राज्य सारे पश्चिमोत्तर भारत में फैला हुआ था। इस में काबुल से बनारस तक (संभवतः आगे गाज़ीपुर तक भी) का प्रदेश शामिल था। दक्षिण में विन्ध्य तक इसके साम्राज्य की सीमा थी। काश्मीर भी इसने जीत लिया था। और वहां अपने नाम से कनिष्कपुर नामी नगर बसाया, जो अब तक कानिशपुर नामी एक गांव के रूप में विद्यमान है। कहा जाता है कि पाटलिपुत्र पर आक्रमण करके यह वहां से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान "अश्वघोष" को ले आया।

कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। अपने राज्य-काल के अन्तिम दिनों में यहां उसने एक बड़ा भारी मीनार महात्मा बुद्ध की यादगार में बनाया। इस मीनार का ऊपर का भाग लकड़ी का था, जिस पर खुदाई करके बड़ा सुन्दर काम किया हुआ था। यह तेरह मंज़िलों में, और चारसौ फुट ऊंचा था। इसके चारों ओर लोहे का मज़बूत जंगला लगाया हुआ था। जब छठी सदी के आरम्भ में चीनीयात्री सुंगयुन यहां पर आया, उस समय तक यह इमारत तीन बार जल चुकी थी, और तीनों बार धर्मात्मा राजाओं ने उसकी मरम्मत करायी थी। इसके साथ एक शानदार मठ था। यह मठ बौद्ध शिक्षा का बड़ा भारी केन्द्र था। ९ वीं सदी में प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वीरदेव ने–जिसे पीछे से मगध के राजा देवपाल ने

विंसेण्टस्मिथ ने कैडफ़ाइसिस द्वितीय का राज्यकाल ७८ ई. से ११० ई. रखा है। ११० ई. से १२० ई. तक अर्थात १० साल के संबन्ध में उसने कुछ नहीं लिखा।

नालन्दा विश्वविद्यालय का अध्यक्ष नियुक्त किया था—इसे देखा था * ।

कनिष्क ने पश्चिम की तरफ़ बढ़कर पार्थिया वालों को भी पराजित किया, और काशगर, यारकन्द, और खोतान को अपने राज्य में मिला लिया । पामीर के दर्रों को लांघ कर चीनियों के साथ भी युद्ध किया, और अपने बाप का बदला लेकर अपने आपको चीन को कर देने की शर्त से मुक्त किया । चीन से उसने कुछ आदमी लिये, जिन्हें उसने पंजाब में चीनाभुक्ति नामी स्थान पर बसाया । कहा जाता है कि इन्होंने भारतवर्ष में नाशपाती और आड़ू के वृक्ष लगाये । कनिष्क ने उनके साथ बड़ी उदारता और सन्मान का बर्ताव किया । जिस समय बौद्ध यात्री ह्यूनसांग भारत में आया तो कपिशा के बौद्ध विहार में वह इन चीनियों के कुछ वंशजों से मिला, जो तब तक कनिष्क की उदारता और सद्‌व्यवहार की बड़ी प्रशंसा करते थे ।

बौद्ध धर्म का प्रचार और बौद्ध धर्म की सभा

राज्यारोहणके कुछ काल बाद कनिष्क बौद्ध होगया था । बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये उसके प्रयत्नों की तुलना अशोक के प्रयत्नों से की जाती है । वह विद्याव्यसनी भी था, और पाटलिपुत्र से अश्वघोष को अपने यहां ले आया था । प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान नागार्जुन भी उस की सभा में था ।

* यह मीनार पुरातत्व विभाग ने ढूंढ लिया है । बहुत लोग इसे देखने आते हैं । इस इमारत में से एक कनिष्क की मूर्ति और लेख निकला है ।

इसके राज्यकाल की सब से प्रसिद्ध घटना बौद्धों की बड़ी सभा है। बौद्ध धर्म के इतिहास में इस सभा का महत्व इस लिये बहुत ज्यादा है कि इसी सभा में बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में बंट गया, जिनमें से एक हीनयान और दूसरा महायान कहलाता है।

बुद्ध-धर्म्म वास्तवमें वैदिक-धर्म्म की सन्तान था। यद्यपि महात्मा बुद्धने ईश्वर के विषय में कोई शिक्षा नहीं दी, और वेदों का भगवद्वाणी होना स्वीकार नहीं किया, परन्तु अपनी शिक्षा के शेष सब सिद्धान्तों में उन्होंने प्राचीन वैदिक ऋषियों की शिक्षा को ही पुनर्जीवित किया। यही उनका दावा था। इसी दावे को महाराज अशोक ने अपने लेखों में दुहराया है।

बुद्ध-धर्म्म की शिक्षाका सारांश कर्म्म, आवागमन और निर्वाण की शिक्षा थी। महात्मा बुद्ध अनुष्ठानों के मुकाबले में शुभ विचार और पवित्र जीवन पर जोर देते थे, और इसी से मनुष्य का कल्याण मानते थे। बुद्ध के काल तक वैदिक धर्म्म में मूर्त्तिपूजा प्रचलित नहीं हुई थी। हां, कर्म्म-काण्ड बहुत बढ़ गया था। यह विश्वास करने के लिये कारण है कि प्रकृति की शक्ति के नाना रूपों को आर्य्य लोग देवी देवता के रूप में मानते थे। कुछ आर्य्य-पुस्तकों में यह लिखा है कि स्वयं देवता लोग यज्ञ के समय यज्ञासन पर आकर विराजमान होते थे, और यज्ञों में सम्मिलित होते थे। सम्भव है यह कथन अलङ्काररूप में हो। महात्मा बुद्ध के समय में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा जारी हो चुकी थी। यह पूजा अधिकतर मानसिक थी, क्योंकि न मन्दिर थे और न मूर्त्तियां थीं।

महाराज अशोक के समयतक बुद्ध-धर्म्म की शिक्षा किसी अंशतक शुद्ध रही। परन्तु मिलावट तो इसमें महात्मा बुद्धकी मृत्युके पश्चात ही आरम्भ हो गयी थी। महात्मा बुद्धने युक्ति और तर्कसे अपने सिद्धान्तों को सिद्ध किया। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात उनके अनुयायियोंने तर्क और युक्तिका परित्याग करके केवल "महात्माजी का शब्द-प्रमाण" ही पर्याप्त समझा। अशोक के समय तक बौद्ध लोगों में इतने मत-भेद हो गये थे कि महाराज अशोक को बौद्ध भिक्षुओं की एक सभा करके मत-भेदों को दूर करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अशोक के समय के जो बौद्ध-मन्दिर, मठ, विहार, स्तम्भ और स्तूप बने हुए हैं, उनमें कहीं बुद्ध की मूर्ति नहीं है। हां, दरवाजों, दीवारों और स्तम्भों पर हिन्दू देवी-देवताओंकी मूर्त्तियां अवश्य बनी हुई हैं। इनको बौद्ध लोगों ने लगभग पूर्णतया मौलिक या परिवर्तित नामों से अपने धर्म्म में ले लिया था। उस समय तक न तो आर्यों ने परमात्मा की, और न बौद्धों ने भगवान की कोई मूर्त्ति बनायी थी।

पहली सदी ईसवी के लगभग गान्धार के समीप जो बौद्ध मठ बनाये गये उनमें पत्थर की बनी हुई बुद्ध की मूर्त्ति रखी गयी। कनिष्क के समय तक बौद्ध-धर्म्म एशिया की पश्चिमी सीमा को पार करके मिस्र और दक्षिण यूनान तक पहुंच गया था, और समस्त मध्य और पश्चिमी एशिया में प्रचलित था। एशिया का पश्चिमी प्रदेश रोमन साम्राज्यमें मिला हुआ था। प्राचीन यूनानी और प्राचीन रोमवाले सब मूर्त्तिपूजक थे। वे देवी-देवताओं को मानते थे। यूनान, रोमन साम्राज्य और मिस्रमें देवताओं के विशाल मन्दिर थे। मूर्त्तियों के बनाने,

प्रतिमाओं के गढ़ने और मन्दिरों के निर्माण में यूनानी शिल्पी जगतप्रसिद्ध थे। बाख्तर में यूनानी सभ्यता का राज्य था। जब वहां के राजाओंने काबुल, काश्मीर और पञ्जाब को अपने अधिकार में किया तो उनके साथ साथ बाख्तर के कारीगर भी अवश्य इस सारे प्रदेश के बड़े बड़े नगरों में आये। उन्होंने हिन्दु-तत्त्वज्ञान को अपने यूनानी विचारों का वेष पहनाने का प्रयत्न किया और महात्मा बुद्ध की मूर्त्तियां योग-समाधि की अवस्था में, या खड़े होकर प्रचार करने की अवस्था में, बनाकर प्रचलित कर दीं।

हेवल की सम्मति है कि भारतीय कारीगरोंने यूनानियोंसे कोई नयी कला नहीं सीखी, वरन यूनानी कारीगरों ने अपने धार्मिक भावों को भारतीय कला में परिणत कर दिया।

हेवल का विचार है कि हिन्दु-देवताओं की कल्पना भी उस समय में पर्याप्तरूप से बढ़ चुकी थी। इसका यथेष्ट प्रमाण हिन्दुओं की वास्तुविद्या से मिलता है। शिल्प-शास्त्र में नगर और गांव बसाने के जो नियम दिये गये हैं उनमें प्रत्येक दिशा का जुदा देवता बतलाया गया है। जहां गांव के मध्यमें राज-भवन के मैदान में राजा के इष्ट देवता का मन्दिर बनाया जाता था, वहां गांव की भिन्न भिन्न दिशाओं में बाकी जातियों के देवी-देवताओं के मन्दिर बनाने की आज्ञा थी। चाहे ये सब देवी-देवता अद्वितीय परमेश्वर के भिन्न भिन्न रूप ही माने जाते थे, और उसी एक का भिन्न भिन्न रूपों में पूजन करना अभीष्ट था।

हेवल यह भी कहता है कि, किस प्रकार आर्योंने एक में तीन की कल्पना को भिन्न भिन्न रूपों में बढ़ाया, अर्थात—

(क) तीन बार सन्ध्या करते थे।

(ख) वे तीन वेद मानते थे।

(ग) वे तीन लोक बतलाते थे।

(घ) तीन मार्ग ठहराते थे, अर्थात ज्ञान-मार्ग भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग।

(ङ) सृष्टिकी तीन शक्तियां ब्रह्मा, विष्णु और शिव मानते थे।

(च) वे तीन गुण, अर्थात सत्व, रज और तम मानते थे।

(छ) आत्मा की तीन अवस्थायें ठहराते थे, अर्थात सत, चित और आनन्द।

इसी प्रकार बौद्धों ने उसके मुकाबले में त्रिरत्न अर्थात बुद्ध, संघ और धर्म्म बनाये, और धीरे धीरे इस त्रिमूर्त्ति में बुद्ध को परमात्मा अर्थात ब्रह्माका, संघ को विष्णु का और धर्म्म को शिव का स्थान मिल गया।

चिरकाल तक बौद्ध-धर्म्मके अनुयायी और दार्शनिक इस प्रकार के परिवर्त्तनका विरोध करते रहे, परन्तु सर्वसाधारण बुद्ध-देव की उच्च नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा पर अपना ध्यान एकाग्र करने के अयोग्य थे। अतएव जिस प्रकार ब्राह्मणों ने परमात्मा की पूजा की जगह सर्वसाधारण के लिये देवी देवताओं का प्रचार किया, उसी प्रकार बौद्ध लोगोंने भी असंख्य देवी देवता बना लिये। जब बौद्ध-धर्म्म भारत से बाहर फैला तो उन प्रदेशों के कुछ धार्मिक देवी देवता भी बौद्ध-देवमाला में जोड़ दिये गये। इनको क्रियात्मक रूप देने के लिये यूनानी और रोमन देवी देवताओं की तरह बुद्धदेव तथा भिन्न भिन्न बोधिसत्वों की मूर्त्तियां बनने लगीं। मूर्त्तियां और मन्दिर

बनाने का विचार पश्चिम से और मूर्त्तियों को समाधि अवस्था में बैठाने का विचार हिन्दू योगदर्शन से लिया गया।

इस प्रकार बौद्धों में इस समय दो प्रकार के विचारों के लोग थे। एक धर्म्म में नवीन परिवर्तन करना चाहते थे और दूसरे बौद्ध धर्म के प्राचीन शुद्ध सिद्धान्तों पर दृढ़ रहना चाहते थे। नये विचारों के समर्थकों में इस समय का भारी विद्वान नागार्जुन था। जिसे बौद्ध धर्म्म का लूथर कहा जाता है, यद्यपि हमारी सम्मति में यह उपमा किसी प्रकार भी ठीक नहीं बैठती। क्यूंकि जहां लूथर ने ईसाई धर्म्म से प्रतिमा पूजन और व्यर्थ के ढोंगों को निकाल कर उसे सरल बनाने का प्रयत्न किया, नागार्जुन ने बौद्ध धर्म्म को अपनी वास्तविकता से गिरा कर उस में मूर्त्तिपूजन आदि घुसेड़ दिया। दूसरी तरफ से यह भी कहा जाता है कि प्रारम्भ में बौद्ध धर्म उन विशेष लोगों के लिये था, जो साधनों द्वारा ध्यान करने की शक्ति उत्पन्न कर लेते थे। परन्तु नागार्जुन ने बौद्ध धर्म्म में भक्ति मिलाकर उसे लोकप्रिय बना दिया। विंसेण्टस्मिथ की सम्मति में बौद्धों का महायान सम्प्रदाय (नवीन विचारों वाला सम्प्रदाय) हिन्दू, बौद्ध, ईरानी, रोमन और यूनानी प्रभावों की एक खिचड़ी था। यह बात कनिष्क के सिक्कों से भी पायी जाती है। उन पर इन सब जातियों के देवताओं की मूर्तियां अंकित हैं।

नागार्जुन के सिवाय अश्वघोष भी नवीन विचारों का समर्थक था। कनिष्क को जब इन विचारकों से मिलने जुलने और बौद्ध सिद्धान्तों पर वाद विवाद करने का मौका हुआ तो उसने प्राचीन और नवीन विचारों के विद्वानों को एकत्र करके उन में परस्पर विचार द्वारा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों

का निर्णय कराने की आवश्यकता अनुभव की। इन विद्वानों ने भी उसे यही सम्मति दी। बहुत वाद विवाद के पश्चात काश्मीर में कुण्डलवन नामी विहार इस सभा के लिये नियत हुआ। इस महासभा में पांच सौ के लगभग विद्वान भिक्षु एकत्र हुए। वसुमित्र नामी विद्वान को इसका प्रधान और अश्वघोष को उपप्रधान बनाया गया। सबने मिलकर अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों से लेकर नवीन ग्रन्थों तक सारे बौद्ध साहित्य, तथा बौद्ध सिद्धान्तों की व्याख्याओं आदि को देखा, भिन्न भिन्न सिद्धान्तों पर वाद विवाद किया, और अन्त में जो सिद्धान्त निश्चित हुए, उन्हें "महाविभाषा" के नाम से प्रकाशित किया। साथ साथ इन सिद्धान्तों की व्याख्याएं भी लिखीं। "महाविभाषा" बौद्ध सिद्धान्तों का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है। सभा की व्यवस्थाएं ताम्र-पत्रों पर अंकित कर के एक स्तूप के नीचे दबायी गयीं। यह स्तूप कनिष्क ने श्रीनगर के समीप बनवाया था, परन्तु अभी तक इसका पता नहीं चला। नवीन विचारों के लोगों का प्राबल्य रहा और इस सम्प्रदाय का नाम महायान (ऊंचा मार्ग) रखा गया। प्राचीन सिद्धान्तों को मानने वाले हीनयान सम्प्रदाय के कहलाये। इस प्रकार बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

इस के बाद कनिष्क ने महायान सम्प्रदाय के प्रचार के लिये खूब प्रयत्न किये। कहते हैं कि उसने काश्मीर का राज्य धर्मार्थ बौद्ध संघ को दान दे दिया था।

तक्षशिला का विश्वविद्यालय

कनिष्क के समय तक भी तक्षशिला का विश्वविद्यालय बड़ी उत्तम अवस्था में था। इस समय यह बौद्ध

सिद्धान्तों के अध्ययन का बड़ा केन्द्र था । अन्य विद्याएं भी पढ़ायी जाती थीं । सारे सभ्य संसार से विद्यार्थी वहां शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे।

कनिष्क के उत्तराधिकारी

कनिष्क का राज्य लगभग ४५ साल रहा। उस के बाद उसका पुत्र जुविष्क गद्दी पर बैठा। इसने काश्मीर में बारामूला के पास एक नयी राजधानी निर्माण की, और उसके समीप कुछ विहार बनवाये, जो चीनी यात्री ह्यूनसांग के समय मौजूद थे। कुछ लोगों का विचार है कि उसने गया के बोधि वृक्ष के सामने बनी हुई समाधि के स्थान में एक नयी समाधि बनवायी। इसके बाद वशिष्क और उस के बाद वसुदेव गद्दी पर बैठा। वसुदेव बिलकुल आर्य नाम है। और इस नाम से यह मालूम होता है कि वह हिन्दू धर्म में दीक्षित होगया था। उसके सिक्कों पर भी शिव और नन्दी की मूर्तियां हैं।

वसुदेव लगभग २२०.ईसवी तक राज्य करता रहा। और उसके बाद कुशान साम्राज्य की समाप्ति होगयी।

विद्या और कला

विंसेंटस्मिथ की सम्मति है कि इस काल में भी भारत पर यूनानी तथा रोमन सभ्यता का प्रभाव बहुत थोड़ा या नाम मात्र था। बौद्ध धर्म पर कुछ प्रभाव अवश्य हुआ, परन्तु जैन और ब्राह्मण धर्म पर उन का बिलकुल असर नहीं हुआ। यूनानी भाषा कभी भारत में लोकप्रिय नहीं हुई। भारत की स्थापत्य, आलेख्य और तक्षण विद्या पर भी यह प्रभाव बहुत परिमित था। इस देश की कला अपने नियमों तथा अपने मौलिक सिद्धान्तों

में भारतीय ही रही। कनिष्क ने भी बहुत से मन्दिर विहार और मूर्तियां बनवायीं, जो भारतीय कला के उत्तम उदाहरण हैं। बुद्ध गया का एक मन्दिर तथा अमरावती, नासिक और अजन्ता के कुछ भवन इस समय के शिल्प के नमूने हैं।

इस समय भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की बड़ी उन्नति थी। चिकित्सा शास्त्र विशेषतः शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) का प्रसिद्ध विद्वान चरक कनिष्क के समय में ही हुआ। साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई। अश्वघोष का बुद्ध चरित्र संस्कृत साहित्य में कालीदास की टक्कर का समझा जाता है। अश्वघोष संगीत विद्या का भी बड़ा विद्वान था। नागार्जुन और वसुदेव आदि वैज्ञानिक और दार्शनिक भी इसी समय में हुए।

दक्षिण के राज्य

इस बीच में दक्षिण में पाण्ड्य, चोल और केरल राज्य बहुत धनाढ्य और समृद्धि-शाली थे। पाण्ड्य राज्य में वह प्रदेश सम्मिलित था जो इस समय मदुरा और तिनेवली जिलों में है। केरल वह प्रदेश था जिस में आज कल मालाबार कोचीन और ट्रावनकोर हैं। चोल राज्य का कारोमण्डल तट पर अधिकार था।

बाईसवां अध्याय

सातवाहन तथा दक्षिण-पश्चिम के शक राज्य

महाराष्ट्र के शक

हम पहले लिख चुके हैं कि शक लोगों की कुछ शाखाएं दक्षिण-पश्चिम में गयीं, और वहां उन्होंने अपने राज्य कायम किये। वर्तमान महाराष्ट्र में उनका लगभग १०० साल तक राज्य रहा। महाराष्ट्र के शक राजा अपने आपको "छहरात" कहते थे। उन्हें "चाहराटा" या "खहराट" भी कहा है। जैसा हम पहले आंध्रों का वर्णन करते हुए (पृ० २८४) लिख चुके हैं, इन लोगों ने महाराष्ट्र के आंध्र सातवाहन राजाओं से स्वाधीनता प्राप्त करली, और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।

इस वंश का एक प्रसिद्ध राजा 'नहपान' हुआ। इसके बहुत से सिक्के और लेख नासिक, जुनार और कारला (ज़िला पूना) में उपलब्ध हुए हैं। इसके राज्य में महाराष्ट्र का काफी हिस्सा था। इस के दामाद उषावदात के लेखों से पता लगता है कि नहपान का राजनीतिक प्रभाव पूना और सुपारक (उत्तरीय कोंकन) से लेकर मन्दसोर

(मालवा में) और पुष्कर (ज़िला अजमेर में) तक फैला हुआ था।

नहपान की तिथि के संबन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है, परन्तु अधिक झुकाव इस तरफ मालूम होता है कि उसका राज्य पहली और दूसरी सदी ईसवी के बीच में था।

अन्त में आंध्र राजाओं का फिर प्राबल्य हो गया और सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान को हरा कर अपनी शक्ति महाराष्ट्र में स्थापित करली।

उज्जैन के शक

उज्जैन में भी शक लोगों की एक शाखा थी। ये भी सातवाहन राजाओं के प्रतिस्पर्धी थे। इस राज्य का संस्थापक सामोतिक था। इसका पुत्र 'चष्टन' था। इस की तिथि १३० ईस्वी के लगभग रखी जाती है।

चष्टन के बाद उसका पोता रुद्रदमन गद्दी पर बैठा। (१३०—१५० ई.) इसने अपने आपको महाक्षत्रप उद्घोषित किया। एक शिलालेख के अनुसार इस के राज्य में सारा मालवा, सौराष्ट्र, साबरमती नदी के आसपास का इलाका, मारवाड़, कच्छ, सिन्ध नदी का दक्षिणी प्रदेश, पारियात्र पर्वत (अरावली पर्वत शृंखला) के आस पास का इलाका, और उत्तरीय कोंकन आदि थे। इनमें से बहुत से प्रदेश आंध्र राज्य के थे, जो अवश्य इसने आन्ध्रराजाओं से छीने होंगे। जूनागढ़ के एक लेख के अनुसार इस ने दो बार सातकर्णी राजा को हराया, परन्तु उसे सम्बन्धी होने के कारण छोड़ दिया। (देखिये पृ. २६४) यह सातकर्णी राजा सम्भवतः स्वयं गौतमीपुत्र ही था, जिसने

महाराष्ट्र की शक शाखा से महाराष्ट्र छीना था और जिसका लड़का वशिष्ठीपुत्र रुद्रदमन का दामाद था। सिंध नदी के प्रदेश इसने सम्भवतः कनिष्क के किसी उत्तराधिकारीसे छीने होंगे। रुद्रदमन ने यौधेय जाति को भी विजय किया, जो उस समयवर्तमान भरतपुर रियासत में रहती थी।

रुद्रदमन की राजधानी उज्जैन थी। यह उस समय व्यापार की बड़ी मराडी थी। रुद्रदमन ने सुदर्शन झील (चन्द्रगुप्त मौर्य के काल की बनी हुई) की मरम्मत करवायी।

रुद्रदमन विद्याप्रेमी था। व्याकरण, न्याय शास्त्र और संगीतसे इसे बड़ा प्रेम था। एक शिलालेख के आधार पर पता लगता है कि इसने युद्ध को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में मृत्युदंड या फांसी की सज़ा को बिलकुल बंद कर दिया था। बेगार भी बन्द कर दी थी। सुदर्शन झील पर जो लेख है उसमें लिखा है कि "इसकी मरम्मत करने में यद्यपि बहुत खर्च आया परन्तु न प्रजा पर कर बढ़ाया गया, न बेगार ली गयी"। इस के लेखों से यह भी पता लगता है कि इस समय शासनप्रबन्ध के लिये एक मन्त्रिमराडल था, जिसके दो भाग थे। पहला "मतिसचिव" जिनका काम सलाह देना था—(सम्भवतः व्यवस्थापक सभा का कार्य) दूसरे कर्मसचिव, (Executive) जो मति-सचिवों के निर्णयों को कार्य में परिणत करते थे।

रुद्रदमन के बाद उसके वंशजों ने लगभग ३८८ ईस्वी तक राज्य किया। उनकी शक्ति धीरे धीरे क्षीण होगयी। अन्तिम शासक रुद्रसिंह को गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त ने मारकर उज्जैन पर अधिकार कर लिया।

छठा खण्ड

गुप्तवंश का शासन-काल

तेईसवां अध्याय

गुप्तवंश का राज्यविस्तार

सन् २२० या २२५ ईसवी से लेकर ईसवी ३२० तक जो शताब्दि बीती, उसके इतिहास के विषय में अभी, ऐतिहासिकों को इतना ज्ञान नहीं कि उसका क्रमबद्ध इतिहास तैय्यार किया जा सके। कुशान और आंध्रों का राज्य नष्ट होने के बाद भारत छोटे छोटे राष्ट्रों में विभक्त होगया। ये राज्य अपने अपने स्थान में शान्ति पूर्वक रहते थे। इन में से किसी को बड़ा साम्राज्य बनाने का विचार नहीं हुआ।

परन्तु सन् ३२० ई. में एक नवीन राजनीतिक शक्ति भारत में प्रकट हुई, जिसने एक बार फिर समस्त भारत को एक पताका के नीचे इकट्ठा किया, और एक ऐसी केन्द्रिक राज्य-संस्था की स्थापना की, जिसकी सत्ता अनेक शताब्दियों तक बनी रही। उसके राजत्वकाल में भारत ने न केवल उच्च कोटिकी राजनीतिक शान्ति और वैभव ही प्राप्त किया, वरन कला-कौशल और विद्या में ऐसी उन्नति की जो आज तक हिन्दुओं के लिये गौरव का कारण है। यह हिन्दू इतिहास में स्वर्णीय समय कहा जाता है।

गुप्तवंश का पहला राजा चन्द्रगुप्त प्रथम

इस समय गुप्त वंश के राजा पाटलिपुत्र के समीप छोटे से प्रदेश पर राज्य कर रहे थे। घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम ने सब से पहले अपनी शक्ति बढ़ानी आरम्भ की। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् ३०८ ई. के लगभग पाटलिपुत्र लिच्छवि जाति के अधीन था। यह जाति मौर्यवंश के उत्कर्ष से पूर्व एक बड़ी प्रतिष्ठित जाति गिनी जाती थी। चन्द्रगुप्त ने लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह करके पाटलिपुत्र पर अधिकार किया। यह विवाह लगभग सन् ३०८ ई. में हुआ। इसके सिक्कों में उसका अपना चित्र है, कुमारदेवी का चित्र है और लिच्छवि जाति का भी उल्लेख है। यह राजा गुप्तवंश का प्रवर्तक हुआ। इस राजा ने अपना संवत् चलाया, जो २६ फरवरी सन् ३२० ई. से आरम्भ होता है। सम्भवतः इस तिथि को चन्द्रगुप्त का राजतिलक हुआ। इसी ने सब से पहले गङ्गा की उपत्यका के प्रदेश को प्रयाग तक अपने अधीन किया। दक्षिणविहार, अवध, तिर्हुत और उसके निकटवर्ती जिले उसके राज्य के अन्तर्गत

चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राजतिलक के अनन्तर दस या पन्द्रह वर्ष तक राज्य किया, और लिच्छवि रानी के पुत्र समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

समुद्रगुप्त, हिन्दू नेपोलियन (३३० या ३३५ ई.)

हिन्दू राजाओं में समुद्रगुप्त अतीव यशस्वी और बहुत योग्य शासक हुआ है। उसको यूरोपीय

इतिहास लेखक भारतीय नेपोलियन की उपाधि देते हैं। क्योंकि इस राजा ने प्रायः समस्त भारत को नये सिरे से विजय करके अपने राज्य में मिलाया। ठेठ भारत को उसके पिता ने विजय करना आरम्भ कर दिया था। समुद्रगुप्त ने इन विजयों को पूर्ण करके सारे प्रदेश को एक साम्राज्य के अधीन कर लिया उत्तर भारत को एक साम्राज्य में संगठित करने पश्चात वह दक्षिण की ओर चला। निरन्तर युद्ध करके दो वर्ष के भीतर उसने सारे दक्षिण को विजय कर लिया। छोटा नागपुर से होते हुए पहले महानदी की उपत्यका में दक्षिणी कोसल राज्य को विजय किया। तत्पश्चात उसने जंगली प्रदेश के समस्त राज्यों को जो वर्त्तमानकाल के उड़ीसा और मध्यप्रदेश में स्थित हैं, जीता। इनमें से एक के राजा का नाम व्याघ्रराज था। इन विजयों के पश्चात और भी दक्षिण की ओर बढ़कर उसने गोदावरी के प्रदेश में कलिंग की प्राचीन राजधानी पिष्टपुर, जिसको अब पिठापुरम कहते हैं, और महेन्द्रगिरि तथा कोट्टूर के पार्वत्य प्रदेशों को विजय किया। उसने कोलेरू झील के प्रदेश और गोदावरी तथा कृष्णा के बीच में स्थित वेङ्गी राज्य को भी विजय किया।* फिर उसने काञ्ची वर्तमान

* अध्यापक डुब्रियल ने समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय के सम्बन्ध में मतभेद प्रकट किया है। उनके कथनानुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के केवल पूर्वीय भाग को विजय किया था, उनके मतानुसार समुद्रगुप्त के अभिलेख का "एरण्डपल्ल" वर्तमान "एरण्ड पालि" (चीकाकोल के समीप) है न कि खान देश। इसी प्रकार देवराष्ट्र भी महाराष्ट्र न होकर विजिगापटम ज़िले का "यल्लमांचिलि" का प्रदेश है। रायचौधरी की सम्मति में "कौराला" भी "कोलेरू झील का प्रदेश" न होकर वह प्रदेश था जहां की राजधानी पीछे से ययाति नगरी

काञ्जीवरम के विष्णुगोप को जीता। इस प्रकार लगभग सारा दक्षिणी भारत जीतने के पश्चात वहां से वह पश्चिम की ओर मुड़ा, और नेलोर के ज़िले में पालक नरेश उग्रसेन को हराकर दक्षिण के पश्चिमी भागों में से होकर देवराष्ट्र (वर्तमान महाराष्ट्र) तथा खानदेश के प्रदेशों को जीतता हुआ अपने घर वापस आ पहुंचा।

राज्य की सीमा

ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रदेशों को उसने अपने राज्य में नहीं मिलाया, वरन उन को पराजित करके अपना करद बनाया। पूर्व की ओर गङ्गा और ब्रह्मपुत्र, त्रिकोण द्वीप (जिसके अन्तर्गत वह स्थान था जहां अब कलकत्ता स्थित है), देवाक (सम्भवतः वह इलाका जो अब बोगरा, दीनाजपुर और राजशाही के जिलों में बंटा हुआ है,*) और कामरूप अर्थात आसाम केन्द्रिक शासन के अधीन थे। उत्तर में नेपाल एक कर देने वाला राज्य था।

(महानदी पर) बन गयी थी। क्योंकि "कोलेरू झील का प्रदेश", उन दिनों वेंगी राज्य के अधीन रहा होगा।

यह भी ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त की दक्षिणविजय केवल समुद्रतटों के आस पास ही थी। मध्य के प्रदेशों में वह नहीं गया। क्योंकि समुद्रगुप्त के समय में बुन्देलखंड से लेकर करनाट तक का प्रायः सारा प्रदेश "वाकाटक" लोगों के राज्य में था। और पृथ्वीसेन प्रथम उस समय वहां राज्य करता था। समुद्रगुप्त के लेख में उसका कोई ज़िक्र नहीं।

* इस प्रदेश का नाम सम्भवतः पुण्ड्रवर्धन था, देवाक किसी और प्रदेश का नाम होना चाहिये।

तिब्बत
गुप्त साम्राज्य

हिमालय के पश्चिमी भाग में कर्तृपुर (कुमाऊँ, अलमोड़ा गढ़वाल, कांगड़े का प्रान्त) साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा था।

पंजाब, राजपूताना और मालवा में अधिकतर स्वतन्त्र छोटे छोटे जनतन्त्र राज्य थे। पंजाब में, सिकन्दर के समय में भी, हम देख चुके हैं, इसी प्रकार के राज्य थे। इनमें मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, काक, परार्जुन आदि जातियों के मुख्य राज्य थे। यौधेय लोग सतलुज के दोनों किनारों पर, तथा मद्रक लोग मध्य पंजाब में थे। मद्रक लोगों की राजधानी शाकल थी। मालव लोग राजपूताना में फैले हुए थे। अर्जुनायन और आभीर लोग भी पूर्वीय राजपूताना में फैले हुए थे। इस ओर चंबल नदी केन्द्रिक राज्य की सीमा थी। नर्मदा तक का प्रदेश दक्षिणी सीमा थी। अर्थात चौथी शताब्दी के मध्य में केन्द्रिक साम्राज्य में उत्तरीय भारत का सारा बसा हुआ और उपजाऊ प्रदेश मिला हुआ था। यह प्रदेश सीधे पाटलिपुत्र की सरकार के अधीन था। यह पूर्व में हुगली नदी से आरम्भ होकर पश्चिम में यमुना और चंबल तक फैला हुआ था। उत्तर में हिमालय के आंचल से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक पहुंचता था। परन्तु वास्तविक साम्राज्य आसाम से लेकर पञ्जाब की पश्चिमी सीमा तक और नैपाल से लेकर कुमारी अन्तरीप से कुछ ऊपर तक फैला हुआ था। इन प्रदेशों में जो राजा राज्य करते थे अथवा जो जातियां स्वतन्त्र प्रबन्ध के अधीन थीं, वे समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करती थीं और उनमें से बहुत सी कर देती थीं।

विदेशी राज्यों के साथ सम्बन्ध। भारत की सीमा से बाहर समुद्रगुप्त के सम्बन्ध पश्चिम में

गान्धार, काबुल, तातार और तुर्किस्तान के राजाओं के साथ, और दक्षिण में लंका तथा अन्य द्वीपों के साथ थे।

लंका से राजदूत

सन् ३६० ई. के लगभग बौद्ध राजा मेघवर्णा ने समुद्रगुप्त के दरबार में एक दूतसमूह भेजा। उसका उद्देश्य यह था कि लङ्का के बौद्ध-यात्रियों के सुभीते तथा विश्राम के लिये बुद्ध-गया के समीप उनको एक मठ बनाने की आज्ञा दी जाय। इस आज्ञा के मिलने पर लंका नरेश ने एक बहुत विशाल भवन तैयार कराया। यह ऊंचाई में तीन मञ्जिला था। इसमें छः बड़े बड़े कमरे थे, और तीन बुर्ज थे। इसके आंगन की दीवार तीस या चालीस फुट ऊंची थी। इस भवन की सजावट में बहुत परिश्रम और प्रचुर धन व्यय किया गया था, और बड़ा शिल्प-कौशल दिखलाया गया था। बुद्ध की मूर्ति सोने और चांदी में ढालकर उसमें हीरे और जवाहरात जड़े गये थे। उसके समीप स्तूप बनाये गये थे, जिनमें महात्मा बुद्ध के पवित्र स्मृतिचिह्न दबाये गये थे। वे भी बहुत शानदार थे। सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री ह्युनसांग भारत आया तब इस विशाल भवन में एक सहस्र भिक्षु रहते थे।

अश्वमेध यज्ञ।

समुद्रगुप्त ने अपनी महत्तायुक्त विजयों की स्मृति में अश्वमेध यज्ञ किया, और एक नया सिक्का चलाया।

समुद्रगुप्त की व्यक्तिगत योग्यताएं

समुद्रगुप्त न केवल एक बड़ा भारी सेनानायक था, वरन वह साहित्य और कला में भी असा-

धारण योग्यता रखता था। उसका नाम भारत के अच्छे कवियों में गिना जाता है। इसके अतिरिक्त उसे संगीत विद्या में बड़ा प्रेम था, और वह वीणा बजाने में विशेष रूप से निपुण था।

समुद्रगुप्त अकबर के सदृश बड़ा विद्याव्यसनी था। यद्यपि वह आप पक्का हिन्दू था, परन्तु अन्य धर्मों के नेताओं के साथ बड़ी उदारता और विशाल हृदयता का वर्ताव करता था। प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थकार वसुबन्धु के साथ उसके सम्बन्ध बहुत ही अच्छे थे।

समुद्रगुप्त के देहान्त की ठीक तिथि अभी तक निरूपित नहीं हुई। अनुमान किया जाता है कि उसने ३७५ ई. तक राज्य किया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य

भारत में राजा विक्रमादित्य का नाम बड़े सम्मान और प्रेम से लिया जाता है। विक्रमी सम्वत् उन्हीं के नाम से प्रचलित है। दन्तकथा है कि विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे, उन्होंने शक लोगों को हरा कर ईसा से ५७ वर्ष पूर्व अपना सम्वत् प्रचलित किया वर्तमान विक्रमी संवत के संबन्ध में ऐतिहासिकों में विवाद है। जो इतिहास इस समय तक अंगरेज ऐतिहासिकों ने लिखा है, उस में विक्रमादित्य का उल्लेख नहीं, परन्तु कुछ ऐतिह्य जो विक्रमादित्य के नाम के साथ सम्बद्ध हैं वे गुप्तवंश के तीसरे राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल से सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरणार्थ, अकबर के सदृश विक्रम के दरबार के नवरत्न प्रसिद्ध हैं। अनुमान किया जाता है कि कालिदास भी इन नौ

रत्नों में से था, वह इसी राजा के काल में हुआ।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजय यात्रा

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र न था। वह निर्वाचन द्वारा युवराज बनाया गया था। वह लगभग सन् ३७५ ई. में गद्दी पर बैठा। इस राजा ने मालवा, गुजरात और काठियावाड़ को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। ये प्रदेश शक जाति के सरदारों के अधीन थे, जिन का जिक्र हम पहले कर आये हैं।

रुद्रसिंह का वध

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक जाति के अन्तिम शासक रुद्रसिंह का वध किया। उसके विषय में लोक कथा है कि वह परले दर्जे का दुराचारी था, और जिस समय उसका वध हुआ उस समय वह एक परपुरुष की स्त्री के लहंगे में छिपा हुआ था। यह घटना सन् ३८८ ई. या सन् ३९५ ई. के लगभग की बतायी जाती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सन् ४१३ ई. तक राज्य किया। इतिहास-लेखक उसकी योग्यता और शक्ति का साक्ष्य देते हैं।

पश्चिम के साथ व्यापार

उज्जैन प्राचीन काल से ही एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। प्राचीन काल से पश्चिम तट के अगणित बन्दरगाहों के साथ उसका सम्बन्ध था। यहां का सारा सामुद्रिक व्यापार पश्चिम के साथ होता था। इसके अतिरिक्त उज्जैन कलाओं और विद्याओं का भी केन्द्र था। यहां से घूमने वाले नक्षत्रों तथा स्थिर तारों की परीक्षा होती थी। उज्जैन को भारत का ग्रीनविच कहा जाता है। उज्जैन के चन्द्रगुप्त के राज्य में सम्मिलित

हो जाने से उसका राज्य बहुत मालामाल हो गया।

चीनी यात्री फाहियान

चीनी यात्री फाहियान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में भारत में आया, और सन् ४०५ ई. से लेकर सन् ४११ ई. तक इस देश के भिन्न भिन्न भागों में फिरता रहा। इस यात्री को सारी यात्रा में पन्द्रह वर्ष लगे। उस समय के जो वृत्तान्त उसने लिखे हैं, उनसे गुप्त-काल के भारत का बहुत अच्छा चित्र मिलता है। फाहियान के समय में राजधानी पाटलिपुत्र में न थी, क्योंकि समुद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र को छोड़कर अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया था। परन्तु फिर भी विक्रमादित्य के शासन काल में पाटलिपुत्र अभी बहुत जनाकीर्ण और सुन्दर नगर था। जब फाहियान ने पहली बार पाटलिपुत्र के दर्शन किये तो वह महाराज अशोक के राजभवनों को देखकर ऐसा विस्मित हुआ कि उस के लिये यह विश्वास करना असम्भव हो गया कि ये राजप्रासाद मनुष्यों के बनाये हुए हैं। उस समय एक स्तूप के निकट दो मठ थे। इन में से एक में महायान सम्प्रदाय के और दूसरे में हीनयान सम्प्रदाय के भिक्षु रहते थे। यह स्थान अपनी विद्या और गौरव के लिये ऐसा प्रसिद्ध था कि चारों ओर से विद्यार्थी यहां आते थे। फाहियान पश्चिमी चीन से होता हुआ गोबी मरुस्थल को दक्षिण से लांघकर खुतन के रास्ते से भारत में पहुंचा था। खुतन की प्रजा महायान सम्प्रदाय के बौद्ध धर्म को मानती थी। पामीर के प्रदेश को बड़ी कठिनाइयों से पार करके वह स्वात से होता

हुआ पेशावर और तक्षशिला पहुंचा । उसने पाटलिपुत्र में तीन वर्ष व्यतीत किये, और इस के बाद वह दो वर्ष बङ्गाल के अन्तर्गत मिदनापुर जिले के तमलूक नगर में रहा । उन दिनों तमलूक का नाम ताम्रलिप्ति था, और यह एक बड़ा बन्दरगाह था ।

कहते हैं, फाहियान ने पुस्तकों की खोज के लिये यात्रा की थी । उसने अपनी पुस्तक में राजनीतिक घटनाओं का बहुत थोड़ा उल्लेख किया है । फिर भी उसके भ्रमण-वृत्तान्त में तत्कालीन सभ्यता का जो कुछ वर्णन मिलता है उससे उस समय की पर्याप्त बातें मालूम हो जाती हैं । फाहियान के कथनों से प्रतीत होता है कि मगध में बड़े बड़े नगर थे । लोग बड़े धनाढ्य और सुखी थे । दानशील संस्थाएं अगणित थीं । पथिकों के लिये सभी सड़कों पर सराएं और धर्म्मशालाएं बनी हुई थीं, और पाटलिपुत्र में एक ऐसा अस्पताल था जहां न केवल चिकित्सा और औषध ही मुफ्त मिलती थी, वरन भोजन और अन्य आवश्यक वस्तुएं भी बिना मूल्य दी जाती थीं * ।

फाहियान ने पाटलिपुत्र में तीन वर्ष रह कर संस्कृत पढ़ी, और बौद्ध-धर्म्म की पुस्तकों का अध्ययन किया । सिन्धु नदी

* कहते हैं कि यूरोप का सबसे पुराना अस्पताल पैरिस में था । यह सातवीं शताब्दी में बना था । पर हेनरी ब्रडवुड की सम्मति है कि कांस्टेण्टाइन के शासनकाल तक यूरोप में रोगियों की चिकित्सा के लिये कोई प्रबन्ध न था । कांस्टेण्टाइन का काल सन् ३०६ या सन् ३०७ ई. है ।

से लेकर मथुरा पर्यन्त वह स्थान स्थान पर बौद्ध मठों को लांघकर पाटलिपुत्र पहुंचा। इन मठों में सहस्रों की संख्या में भिक्षु रहते थे। स्वयं मथुरा में बीस इस प्रकार की संस्थाएं थीं, जिन में तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। फाहियान लिखता है कि "समस्त देश में कोई मनुष्य किसी जीव को नहीं मारता। न कोई मदिरा पीता है, न प्याज या लहसन खाता है, और न सूअर या कुक्कुट रखता है। भारत के लोग पशु नहीं बेचते, न मण्डी के पास बूचड़ों की दूकानें हैं, न शराब-खाने हैं। चाण्डाल लोग नगर से बाहर रहते हैं। उनको नगर में प्रवेश करते समय एक प्रकार से सूचना देनी पड़ती है, ताकि लोग उनको छूकर अपवित्र न हो जायं *।"

उस समय का राज्य-प्रबन्ध

उस समय के राज्यप्रबन्ध और शासन-पद्धति के विषय में भी फाहियान ने अत्युत्तम सम्मति दी है। वह लिखता है कि राज्य जनता की बातों में बहुत कम हस्तक्षेप करता है। प्रायः अपराधों

* ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान छूतछात पहले पहल इसी रीति से प्रचलित हुई। यद्यपि आर्य्य रीति के अनुसार भी चाण्डाल लोग नगर और ग्राम से बाहर रहा करते थे, परन्तु इससे पहले कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता कि उनके स्पर्श से लोग अपवित्र हो जाते थे। सम्भवतः बौद्ध-काल में जब कि शिकारी, कसाई और चाण्डाल सब के सब एक ही दृष्टि से देखे जाने लगे, यह प्रथा अधिक दृढ़ता पूर्वक स्थापित होगयी, और लोग इस प्रकार के लोगों को अतीव घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यहां तक कि जब वे नगर में प्रवेश करते तो कदाचित ढोल बजाकर लोगों को सूचित किया जाता था।

के बदले में जुर्माना देना पड़ता है। मृत्युदण्ड किसी को नहीं दिया जाता, और न किसी व्यक्ति को साक्ष्य के लिये या अपराध-प्रकाशन के लिये पीड़ित किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में गुप्तशासन पराकाष्ठा को पहुंच चुका था। जिस घात का धब्बा सम्राट् अशोक जैसे कोमल हृदय, दयावान, और लोकप्रिय शासक पर रह गया था, उसको गुप्त राजाओं ने दूर कर दिया। जो राज्य प्रजा की बातों में बहुत अधिक हस्तक्षेप करता है वह कभी भी लोकप्रिय नहीं हो सकता। लोगों को लम्बी अवधि के लिये कैद करना और मृत्यु दण्ड देना, ये सभ्यता के चिह्न नहीं। इस दृष्टि से गुप्त राजाओं का शासन-काल भारत में सबसे उत्तम और अनुकरणीय काल हो चुका है। इस कोमलता के होते हुए भी देश का प्रबन्ध अत्युत्तम था, क्योंकि चीनी पर्यटक सड़कों और मार्गों की बड़ी प्रशंसा करता है। वह डाकुओं और लुटेरों का उल्लेख तक नहीं करता है। वह केवल एक ही ऐसे दण्ड का उल्लेख करता है जो हमें पाशविक प्रतीत होता है, अर्थात जो लोग बार बार राज-विद्रोह या लूट मार के अपराधी ठहराये जाते थे उनका दायां हाथ काट दिया जाता था। राजकीय आय अधिकतर सरकारी भूमियों की उपज से होती थी। और राज-कर्मचारियों को नियत वेतन मिलता था।

शिलालेखों से पता लगता है कि मौर्यकाल की तरह उस समय भी राज्य का प्रबन्ध एक मन्त्रिपरिषद द्वारा होता था। इन मन्त्रियों में प्राधिक मुख्य, प्रधानसचिव, परराष्ट्रसचिव (सौधिविग्राहिक), और भूमि-कर आदि का प्रबन्ध देखने वाला

(अक्षपटलाधिकारिक) होता था। मौर्यों की तरह गुप्त राजाओं का परराष्ट्र सचिव भी राजा के साथ युद्धों में जाता था।

साम्राज्य भिन्न भिन्न प्रान्तों में विभक्त था। बड़े प्रदेशों को देश और छोटों को भुक्ति कहते थे। ये प्रदेश या प्रान्त छोटे हिस्सों में बांटे जाते थे, जिन्हें 'प्रदेश' या 'विषय' कहते थे।

देशों के अधिकारियों को "गोप्तृ" कहते थे। 'भुक्ति' का शासन राजप्रतिनिधियों के अधीन होता था। इन्हें "उपरिक-महाराज" कहते थे, ये प्रायः राजकुमार होते थे। हर एक प्रदेश या 'विषय' (ज़िला समझना चाहिये) कई ग्रामों में बंटा हुआ था, इनके प्रबन्धकर्ता अधिकारी ग्रामिक, महत्तर या भोजक (अपने दर्जे के अनुसार) कहलाते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शासनप्रबन्ध भिन्न भिन्न अधिकारियों पर बड़ी उत्तम रीति से बंटा हुआ था, और राज्यप्रबन्ध बड़ी अच्छी तरह से होता था।

फाहियान ने किसी स्थल पर धार्मिक अत्याचार की शिकायत नहीं की। गुप्तवंश के राजा प्रायः हिन्दू-धर्मानुयायी थे, यद्यपि उनमें कई राजा बौद्ध भी थे। सम्भवतः पौराणिक हिन्दू-धर्म उनके ही समय में अस्तित्व में आया। परन्तु इतना होने पर भी राज्य बौद्धों और जैनों की पूरी तरह से रक्षा करता था। उनको न केवल अपने धर्म के प्रचार में पूर्ण स्वतन्त्रता थी वरन सरकारी सहायता भी मिलती थी। भिक्षुओं को मकान चारपाइयां, बिछौने, भोजन और वस्त्र बहुतायत से दिये जाते थे। इससे जान पड़ता है कि ये हिन्दू राजा पक्षपात और

धर्मान्धता से सर्वथा रहित थे।

फाहियान मूर्त्तियों के उन बड़े जलूसों का बड़ी प्रशंसा के साथ वर्णन करता है जो हर दूसरे मास के आठवें दिन निकाले जाते थे, और जिनके साथ गाने बजाने वाले होते थे। सम्भवतः ये मूर्त्तियां बौद्ध-धर्म्म की थीं।

कुमारगुप्त प्रथम

सन् ४१३ ई. में विक्रमादित्य का पुत्र कुमारगुप्त प्रथम सिंहासन पर बैठा। इस राजा ने भी अश्वमेधयज्ञ किया। इससे जान पड़ता है कि उसके राज्य के विस्तार में कोई कमी नहीं हुई। इसके समय में गुप्त साम्राज्य पर एक ही आपत्ति आयी, और वह लगभग ४५० ई. में पुष्पमित्र जाति का आक्रमण था। ये पुष्पमित्र लोग कौन थे इस विषय में बहुत ज्ञात नहीं। कुछ का ख्याल है कि वे नर्मदा के आस पास तथा कुछ का ख्याल है कि वल्लभी के आस पास रहते थे। पुराणों से यह मालूम होता है कि वे विदेशी नसलों में से थे। ये लोग इस समय काफ़ी धनी और शक्तिशाली होगये थे। इस युद्ध में साम्राज्य की सेनाओं को पहले पराजय हुई; परन्तु पीछे से राजकुमार स्कन्दगुप्त ने उन्हें बड़ी कठिनता से पराजित किया। कुमारगुप्त सन् ४५५ ई. में मर गया, और उसके पीछे इस साम्राज्य का अधः पतन आरम्भ हो गया।

स्कन्दगुप्त

जिस समय कुमारगुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त सन् ४५५ ई. में सिंहासन पर बैठा, उस समय राज्य बहुत सी कठिनाइयों में फंसा हुआ था। यद्यपि वह पुष्पमित्र लोगों को पराजित कर चुका था परन्तु उत्तर पश्चिमी दर्रोंसे

एक और शत्रु आ प्रकट हुआ। असभ्य हूण लोग मध्य एशिया के मैदानों से चलकर भारत में लूट मार मचाने लगे। स्कन्दगुप्त ने उनको एक भारी हार दी, और अपनी विजय के स्मारक के रूप में एक बड़ा भारी स्तम्भ बनाया। उसके ऊपर विष्णु की मूर्त्ति स्थापित की और अपनी विजय का वृत्तान्त अङ्कित कराया*।

स्कन्दगुप्त ने पश्चिमी प्रान्तों का प्रबन्ध जिनमें काठियावाड़ भी था अपने एक राजप्रतिनिधि के सपुर्द किया था। इस राजप्रतिनिधि के पुत्र ने गिरिनार पर्वत के नीचे प्राचीन सुदर्शन झील की एक बार फिर मुरम्मत करायी।

विंसेंट स्मिथ लिखता है कि उसके समय में गोरखपुर जिले के पूर्व पटने से ६० मील के अन्तर पर एक जैन ने एक चित्रित स्तम्भ खड़ा किया, और बुलन्दशहर के ज़िले में एक धर्मात्मा ब्राह्मण ने गङ्गा और यमुना के बीच के प्रदेश में सूर्य का एक मन्दिर बनाया। इससे प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त के समय में राज्य की सीमाओं में कोई न्यूनता नहीं हुई। सन् ४६५ ई. के लगभग गृहहीन घूमने वाली हूण जातियों का एक और ताजा दल अपने प्रदेश से नीचे उतरा, और उसने गान्धारपर अधिकार कर लिया। ४६७ ई. के लगभग हूणों ने स्कन्दगुप्त पर फिर आक्रमण किया। इस बार स्कन्दगुप्त उन्हें परास्त न कर सका।

* यह स्तम्भ गाज़ीपुर के जिले में अब तक खड़ा है, यद्यपि विष्णु की मूर्ति अब मौजूद नहीं है।

स्कन्दगुप्त के सिक्कों से मालूम होता है कि राज्य के अन्तिम दिनों में उसकी स्वर्ण मुद्रा में खोट आगयी थी। सिक्कों में सोने की मात्रा कम करदी गयी थी इसका कारण सम्भवत: शत्रुओं के आक्रमण आदि आपत्तियां थीं।

पुरुगुप्त

स्कन्दगुप्त के बाद उसका भाई पुरुगुप्त गद्दी पर बैठा। इसने स्वर्णमुद्रा को फिर शुद्ध कर दिया और सोने की मात्रा उसमें पूरी कर दी।

उसके बाद उसका बेटा नरसिंहगुप्त बालादित्य गद्दी पर बैठा। बालादित्य ने मन्दसोर के यशोधर्मन के साथ मिलकर हूणों को पराजय दी। इसने उत्तरभारत में बौद्धों के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा में एक ईंट का मन्दिर बनवाया। यह तीन सौ फुट ऊंचा था और इसमें सोना, हीरे और जवाहरात प्रचुरता से जड़े गये थे।

अन्य गुप्त राजा

नरसिंह गुप्त बालादित्य के पश्चात उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय सिंहासन पर बैठा। द्वितीय कुमारगुप्त की मृत्यु लगभग ४७६ ई. के पश्चात गुप्तवंश के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। कई गुप्त राजाओं के लेख और दानपत्र मिले हैं, जिन से यह तो पता लगता है कि मगध तथा उत्तरपूर्वीय भारत में गुप्तवंश के राजाओं का पीछे भी काफी प्रभाव रहा। हर्ष के समय भी मगध में एक गुप्त वंशीय राजा राज्य करता था। परन्तु इन राजाओं का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं। मालवा में भी इन की एक शाखा थी। हर्षवर्धन के पिता के समय में मालवा के गुप्त राजा थानेश्वर सम्राट के आधीन थे।

चौबीसवां अध्याय

गुप्त राजाओं के कालमें हिन्दू-साहित्य और कला आदि की उन्नति

यह बात मानी हुई है कि गुप्त राजाओं का शासनकाल भारत के इतिहास में साहित्य, विज्ञान और कला के लिये बहुत प्रसिद्ध हो गया है। एक विद्वान यूरोपीय लेखक लिखता है कि हिन्दुओं के इतिहास में यह काल यूनान के इतिहास में पेरीक्लीज़ के काल के समान था।

धर्म

हम ऊपर कह आये हैं कि इस वंश के बहुत से राजा ब्राह्मणों के धर्म के अनुयायी थे, परन्तु बौद्ध-धर्म के साथ उनकी कोई शत्रुता न थी। वे बौद्ध भिक्षुओं के साथ बहुत अच्छा बर्ताव करते थे। इस बीच में बौद्ध-धर्म में भी बहुत से परिवर्त्तन उत्पन्न हो गये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों ने बौद्ध-धर्म के सभी लोकप्रिय सिद्धान्तों को अपने धर्म का अङ्ग बना लिया था और बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया था। न तो बौद्धों के समय में हिन्दू या जैन धर्म का नाश हुआ और न हिन्दू-धर्म के उत्कर्ष पर हिन्दुओं ने बौद्धों के साथ कोई शत्रुता की। हिन्दू-धर्म को धीरे धीरे बौद्ध राजाओं ने भी ग्रहण कर लिया। कुशान जाति

के राजा द्वितीय कडफाइसेस ने अपने सिक्कों पर शिव और नन्दी की मूर्त्ति अंकित करायी और महाराज कनिष्क के पोते वसुदेव ने विधि पूर्वक विष्णु-पूजन स्वीकार किया। इसी प्रकार कई गुप्त राजा भी वैष्णव थे।

शिव-पूजा के चिह्न अजन्ता के मन्दिरों में भी मिलते हैं। इसका वर्णन आगे किया जायगा। परन्तु जिस रीति से ब्राह्मणों ने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को अपने धर्म्म का अङ्ग बना लिया उससे बौद्ध-धर्म के अलग अस्तित्व का नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी था।

संस्कृत साहित्य

बौद्धधर्म्म जितना जितना नीचे गिरता गया और उसका प्रभाव कम होता गया उतना उतना ही पाली और प्राकृत के स्थान में संस्कृत का उत्कर्ष होता गया, यहां तक कि गुप्तकाल में संस्कृत-भाषा ही धर्म्म और गद्य-पद्य की भाषा हो गयी। इसी भाषा में कानून की पुस्तकें लिखी गयीं, इसी भाषा में उपाख्यानों और काव्यों की रचना हुई और यही विद्वानों की भाषा हो गयी। गुप्तकाल के सिक्के भी इसी भाषा में हैं।

कालिदास भारत का कविकुल-गुरु माना जाता है। उसका पद अंगरेज कवि शेक्सपीयर से कम नहीं। कालिदास भी गुप्तकाल में हुआ। कालिदास की रचनाएं इस समय भी संस्कृत में अपनी सुन्दरता, उच्चविचार और मार्जित भाषा की दृष्टि से अद्वितीय गिनी जाती हैं। शकुन्तला नाटक को पढ़कर जर्मनी का प्रसिद्ध कवि गेटे आनन्दोन्माद में विलीन हो गया था। उसने इस नाटक की बड़ी प्रशंसा की है।

कालिदास की जन्म-भूमि के विषय में बड़ा विवाद चल रहा है। स्मिथ कहता है कि वह मालवा के मन्दसोर का निवासी था। परन्तु अब बहुत से बङ्गाली विद्वान उसका जन्म-स्थान बङ्गाल में बतलाते हैं। कालिदास की रचनाओं के अतिरिक्त मुद्राराक्षस और मृच्छकटिक भी उसी काल के समझे जाते हैं। वायुपुराण भी अपने वर्त्तमान रूप में चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध की ही रचना गिना जाता है।

कला और विज्ञान गुप्तवंश के शासन-काल में भारत में गणित और ज्योतिष ने बहुत उन्नति की। उस समय के तीन गणितज्ञ प्रसिद्ध हैं—एक आर्यभट्ट जो सन् ४७६ ई. में उत्पन्न हुआ, दूसरा वराहमिहिर जिस का समय सन् ५०५ ई. से सन् ५८७ ई. तक गिना जाता है, और तीसरा ब्रह्मगुप्त जिसका जन्म सन् ५८८ ई. में हुआ।

संगीत, स्थापत्य, चित्र और आलेख्य की विद्याएं भी इस काल में बहुत उन्नत हुईं। उस समय के बहुत से भवन मुसलमानी परिवर्त्तनों में नष्ट हो गये। पर जो विद्यमान हैं उनसे उस काल की चरमोन्नति का अनुमान हो सकता है। उन में से झांसी के ज़िले में देवगढ़ नाम के स्थान पर पत्थर का एक मन्दिर विद्यमान है। इसकी दीवारों पर भारतीय चित्रकारी के कुछ अत्युत्तम नमूने हैं। कानपुर के ज़िले में भी ईंटों का बना हुआ एक मन्दिर है। परन्तु उस समय के अतीव सुन्दर चित्र और कला के अन्य नमूने बनारस के समीप सारनाथ में मौजूद हैं। पत्थर और ईंटों की इमारतों को छोड़कर उस समय के कारीगरों ने धातुओं के उपयोग में भी खूब निपुणता प्राप्त की थी। दिल्ली में कुतुब मीनार के पास जो लोहे की लाट

खड़ी है वह संसार की अद्भुत वस्तुओं में से एक है। यह चन्द्रगुप्त के समय में बनायी गयी थी। छठी शताब्दी के अन्त में नालन्दा में महात्मा बुद्ध की एक तांबे की ८० फुट ऊँची मूर्त्ति बनायी गयी। सुलतान गंज की मूर्त्ति, जो ऊंचाई में ७॥ फुट है, और अब बर्मिङ्हम के अद्भुतालय की शोभा बढ़ा रही है, द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय की है। पांचवीं शताब्दी में द्वितीय चन्द्रगुप्त और उस के पुत्र के शासनकाल में भारतीयोंने इन कलाओं में निपुणता की पराकाष्ठा दिखलायी। अजन्ता की गुफाओं का आलेख्य और चित्रकारी इतनी उच्चकोटिकी है कि संसार के चित्रकार दूर दूर से उनको देखने के लिये आते और मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा करते हैं। अतएव इस में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता कि ईसा की पांचवीं शताब्दी में विशेषरूप से और गुप्तवंश के राज्यकाल में सामान्यरूप से ललितकलाओं ने भारत में उन्नति की चरम सीमा देखी *।

विदेशोंसे विचारोंका विनिमय, कुमारजीव, जावा और सुमात्रा में हिन्दू–सभ्यता

हिन्दू-इतिहास में यह वह महत्त्वपूर्ण समय है जब कि भारतवर्ष और अन्य विदेशों के बीच शान्तितापूर्वक बड़े बड़े विद्वान पर्यटकों द्वारा विचारों का विनिमय हुआ। कहते हैं सन् ३५७ ई. और सन ५७१ ई. के बीच भारत के दस दूतसमूह चीन को भेजे गये। इन में से बहुत से व्यापार के प्रयोजनों से गये।

* भारत की कला के विषय में हेवल ने कई पुस्तकें लिखी हैं। वे इस विषय पर सर्वोत्तम प्रमाण हैं।

बहुत से चीनी यात्री भारत में तीर्थ-यात्रा और बौद्ध-धर्म की शिक्षा के लिये आये। बहुत से भारतीय विद्वान भी चीन को गये। इनमें सब से प्रसिद्ध कुमारजीव हैं। वह सन् ३८३ ई. में चीन को गया। इसी काल में चीन के लियांग वंश के राजा वूटी प्रथम ने मगध नरेश के पास दूत भेजे, (५३९ ई.) कि मुझे बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की पुस्तकें दी जांय, और उनके अनुसन्धान के लिये एक विद्वान भी दिया जाय। इस पर परमार्थ नामी बौद्ध विद्वान को चीन भेजा गया। वह अपने साथ बहुत सी पुस्तकें ले गया। सन् ५४७ ई. में परमार्थ चीन की राजधानी काएटन के पास पहुंचा। वहां सन् ५४८ ई. में उसे चीनसम्राट के सन्मुख उपस्थित किया गया। यह अपने मरण पर्यन्त (५६९ ई.) चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार और बौद्ध ग्रन्थों का चीनी अनुवाद करता रहा। इस से कुछ ही वर्ष पहले दक्षिण भारत से भी एक धर्मोपदेश चीन गया (५२० ई.)। इसका नाम बोधिधर्म था, और यह दक्षिण के एक राजा का पुत्र था। यह मनुष्य भारत का २८ वां और चीन का पहला कुलपति गिना जाता है। इस समय भारत के समुद्री किनारों और भारतीय महासागर के द्वीपों के बीच लोगों का आना जाना बहुत था। भारतीय सभ्यता जावा और सुमात्रा तक फैल गयी थी। वहां के अधिवासियों ने न केवल बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया, वरन भारतीय कलाओं को भी बहुत अंशों में अपने देश में प्रचलित किया। अजन्ता के चित्रों में यह लिखा है कि भारत में फ़ारस और रोमन सम्राटों के दूत आये, और भारत से भी इनके

यहां दूत भेजे गये। हम ऊपर कह आये हैं कि रोम के साथ भारत का बहुत बड़ा व्यापार था। रोम के सोने के सिक्के एक बड़ी संख्या में दक्षिण में निकले हैं। हैवल लिखता है कि कुछ भारतीय राजाओं ने रोम के साथ व्यापार को बढ़ाने के लिये रोम के सिक्के की नकलें भारत में भी ढालीं। तत्कालीन आलेख्य और चित्र-विद्या ने यूनानी कला से इस प्रकार का सादृश्य उत्पन्न किया कि कुछ लोग यह कहने लग जाते हैं कि हिन्दुओं ने यूनान और रोम की नकलें कीं। परन्तु विन्सेंट स्मिथ और हैवल दोनों इस बात में सहमत हैं कि भारतीयों ने नकल कभी नहीं की, वरन भारतीय कारीगरों और विशेषज्ञों ने अपनी योग्यता से शिल्प के पूर्वीय और पश्चिमी कौशल को इस प्रकार मिला दिया कि इनमें दोनों प्रकार की विशेषताएं पायी जाती हैं। परन्तु वह शिल्प विशुद्ध भारतीय है, किसी की नकल नहीं।

इसी काल में भारत की दो और प्रसिद्ध पुस्तकें अपने अन्तिम रूप में सम्पादित हुईं। कहते हैं महाभारत की वर्त्तमान पुस्तक गुप्त राजाओं के काल में तैयार की गयी। इस पुस्तक में अब एक लाख से अधिक श्लोक हैं। पहले इस में केवल आठ सहस्र श्लोक थे। महाभारत को हिन्दू धर्म शास्त्र, आचार शास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शन-शास्त्र का एक विश्वकोष कहना चाहिये। इसमें हिन्दू विचारकों के प्रायः समस्त सिद्धान्तों का बड़ी मनोहर रीति से संग्रह और समन्वय किया है।

मनु-स्मृति

इस समय की दूसरी पुस्तक मनुसंहिता है। मनु का मूल कानून बहुत प्राचीन है। मानव धर्म-सूत्र बहुत पुराने सूत्रों में से हैं। परन्तु वर्त्तमान मनुस्मृति

ऐसी पुरानी नहीं है, और अनुमान किया जाता है कि यह ईसवी शताब्दी के आरंभ में संकलित की गयी। इस धर्म्म-शास्त्र का भीतरी साक्ष्य भी इसी बात का समर्थन करता है। वैदिककाल से लेकर पौराणिक कालतक जितने परिवर्त्तन हिन्दू धर्म्म, हिन्दू रीति-नीति और हिन्दू राजनीतिक पद्धति में हुए उन सब को इस पुस्तक में इकट्ठा करने का यत्न किया गया है। यही कारण है कि इसके कुछ भागों में परस्पर विरोध और भेद दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि स्त्रियों की स्थिति या ब्राह्मणों के अधिकारों अथवा जिम्मेदारियों के विषय में मनु-स्मृतिकी सब आज्ञाओं को इकट्ठा किया जाय तो उनसे विदित हो जाता है कि ये आज्ञाएं न तो एक समय के क्रियात्मक जीवन को प्रकट करती हैं, और न एक काल के विचारों का परिणाम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब यह संग्रह अन्तिम बार सम्पादित हुआ तब हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था बहुत अंशों में अपने वर्त्तमान रूप में पूर्ण हो गयी थी, और हिन्दुओं में भिन्न भिन्न जातियों के विवाह और व्यवसायों की दृष्टि से असंख्य जातियां अस्तित्व में आ चुकी थीं। तीन उच्च वर्णों को निचले वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाह करने की आज्ञा थी, परन्तु अपने से ऊपर के वर्ण के साथ विवाह करने की आज्ञा न थी। निचले वर्णों के पुरुष को किसी अवस्था में भी उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करने की आज्ञा न थी। ब्राह्मणों को विशेष रूप से सतर्क किया गया था कि वे अपने वर्ण से बाहर विवाह न करें, और यही चेतावनी तीनों ऊंचे वर्णों को शूद्र स्त्रियों के साथ विवाह करने के सम्बन्ध में थी।

इसी प्रकार खान-पान सम्बन्धी मनु की आज्ञाओं में भी

किसी अंश में परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। साधारणतया मांस खाने का निषेध है, परन्तु यज्ञ में मारे हुए पशु का मांस खानेकी आज्ञा है। मदिरापान का सर्वथा निषेध है, और मदिरापान का दण्ड मृत्यु नियत किया गया है।

राजाओं के लिये जुआ खेलना और शिकार करना निषिद्ध ठहराया गया है। चाणक्य-नीति में यह आज्ञा है कि द्यूतगृहों के लिये लायसेंस नियत किये जायं। मनुस्मृति में आज्ञा है कि द्यूतशालाओं को सर्वथा बन्द किया जाय, और जुआ खेलनेवालों को दण्ड जाय।

राज्य करने का अधिकार केवल क्षत्रियों को ही दिया गया है। आर्य्य लोगों को शूद्र राजा के राज्य से अलग रहने का उपदेश है। इसके अतिरिक्त उनको किसी ऐसे नगर में भी रहने की आज्ञा नहीं जहां शूद्र, नास्तिक या पतित लोगों की संख्या अधिक हो।

मनुकी राजनीतिक शिक्षा

मनु की राजनीतिक शिक्षा में राजा को पूर्ण अधिकार दिये गये हैं। परन्तु साथ ही यह भी निश्चय किया गया है कि अत्याचारी, कपटी, व्यभिचारी और क्रोध के वशीभूत राजाको उसके दुष्कर्म ही नष्ट कर देंगे। राजा के लिये आवश्यक है कि सात आठ धर्मात्मा, धीर, रण-विद्या-विशारद विद्वानों और कुलीन पुरुषों की एक राजसभा (कौंसिल आव स्टेट) नियत करे, और युद्ध, संधि, सेना और समुद्र के प्रबन्ध, राजस्व और खर्चों के सम्बन्ध में उनकी सम्मति के अनुसार काम करे। राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा को अपनी सन्तान [illegible] उससे न्याय और दया का

वर्ताव करे: अन्यथा मूर्खता और अत्याचार की अवस्था में यह आवश्यक है कि वह और उसका वंश न केवल राज्य से वरन प्राणों से भी वंचित किया जाय। भारतवर्ष के इतिहास में इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि इस शिक्षा के अनुसार कार्य होता रहा है।

सरकारी राजस्व धन-धान्य की प्रचुरता के समय में राजा वैश्य लोगों से उनकी फसल का .०८३ भाग, और उनके व्यक्तिगत लाभ का .०२ भाग ले सकता है। परन्तु सार्वजनिक आवश्यकता की अवस्था में उनको .१६ और कुछ दशाओं में उपज का .२५ भाग लेने का भी अधिकार था। व्यापार पर अधिक से अधिक लाभ का केवल .०५ भाग था। विद्वान ब्राह्मण कर से मुक्त थे। छोटे छोटे दूकानदारों से बहुत ही अल्प कर लेने की आज्ञा थी। छोटे दर्जे के शिल्पियों और श्रमजीवी लोगों से मास में एक दिन काम कराने का नियम नियत था।

मनुस्मृति की ये कतिपय आज्ञाएं केवल इस लिए लिखी गयी हैं ताकि मालूम हो सके कि जिस काल में मनुस्मृति अन्तिम बार सम्पादित हुई उस समय आर्य्य-कानून के विचार और आर्य्य-लोगों के रिवाज क्या थे। सविस्तर आज्ञाओं को जानने के लिये मनुस्मृति का अध्ययन आवश्यक है *

* पहले फाहियान के आधार पर उस समय की राजनीतिक और सामाजिक अवस्था का जो चित्र खींचा गया है उसमें तथा मनुस्मृति की आज्ञाओं में बहुत स्थानों पर मतभेद है। आवश्यक नहीं कि उस समय मनुस्मृति के अनुसार ही शासन होता हो।

पचीसवां अध्याय

हूण जाति के आक्रमण

गुप्त राजाओं के शासनकाल के पश्चात भारत के राजनीतिक रङ्गमञ्चपर, राजा हर्ष के समय तक, कोई ऐसा शासक नहीं आया जिसने भारत की समस्त शक्ति एकत्र करके समस्त भारत को राष्ट्रीयता के सूत्र में ग्रथित किया हो। यह मध्य-काल अपेक्षाकृत उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत में एक नवीन बाह्य आक्रमणका समय रहा। एक सौ वर्षतक भारतीय इस बाहर के आक्रमणका सामना करने में लगे रहे।

श्वेत हूण

ईसाकी चौथी शताब्दी के लगभग मध्य एशिया की भूमियों से एक और नृशंस जाति उठकर यूरोप और एशिया में फैली। इस जाति की पश्चिमी शाखाने वाल्गा नदी को पार करके प्रायः समस्त मध्यवर्ती, दक्षिणी और पूर्वीय यूरोपको लूट खसोट डाला। इधर पूर्वीय भाग में जेहूं नदी से उतर कर गान्धार, पेशावर, पञ्जाब, गुजरात और काठियावाड़ को तहस नहस किया। यूरोप में इस जाति का सब से प्रबल परन्तु सब से निर्दय और निष्ठुर सरदार एटिला था। उसकी निर्दयता और निष्ठुरता की कहानियां और संकेत यूरोपीय साहित्य में

प्रचुरता से पाये जाते हैं। गत यूरोपीय महायुद्धमें मित्र राष्ट्रों की प्रजा, उनके पत्र-सम्पादक और ग्रन्थकार जर्मन लोगोंको हूण, और उनके सम्राट्को एटिल्ला कहा करते थे। इस स्थलपर हमारा सम्बन्ध उस जातिकी उस पूर्वीय शाखासे है जिसने उत्तर पश्चिमी दर्रोंसे घुसकर लगभग एक सौ वर्षतक भारतवर्षको लूटा खसोटा।

इस जातिका पहला आक्रमण, जैसा कि एक स्थलपर ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, स्कन्दगुप्तके समयमें हुआ था। उस समय इन्हें हरा दिया गया था। इससे दस वर्ष पश्चात फिर ये जातियां गान्धार राज्य पर अधिकार करके गङ्गा के प्रान्तों तक पहुंच गयीं, और उन्होंने गुप्त राज्य को परास्त कर लिया। इस समय उनका यह दल राजा फीरोज़ का वध करके ईरान को अपने अधिकार में कर चुका था। भारत पर होने वाले आक्रमण का मुखिया तोरमान था। इसने सन् ५०० ई. में मध्यभारतमें अपने आपको मालवाका शासक बना लिया, और महाराजाधिराजकी पदवी धारण की

सन् ५०२ ई. में तोरमानका देहान्त हो गया। उसके स्थानपर उसका पुत्र मिहिरगुल* जिसको संस्कृतमें मिहिरकुल कहते हैं, राज्य करने लगा। इसने पञ्जाबमें सियालकोट को अपनी राजधानी बनाया।

मिहिरकुलका शासनकाल

मिहिरकुल वैसा ही प्रजापीड़क और निर्दय था जैसा कि उसका सजातीय एटिल्ला। ये लोग अत्यन्त निर्दयता से रक्त की नदियां बहाते थे।

* मिहिरकुल के सिक्के गुजरांवाला और झङ्ग के जिले में अब भी मिलते हैं।

निःसङ्कोच होकर प्रजाका वध करते थे। पहले दर्जे के क्रूर और कुडौल थे। फसलें उजाड़ देते थे, गांव जला देते थे। इनको देखकर लोगों को भय होता था। जिस समय मिहिरकुल भारत में शासन करता था उस समय एशियामें इस जातिका राज्य ईरानकी सीमासे आरम्भ होकर खूतनतक और चीनकी सीमातक पहुंचता था। मिहिरकुलके दरबारमें एक चीनी पर्यटक सुङ्गयुन, आया था। अन्तको सन् ५२८ ई. में हिन्दू राजाओंने मगधनरेश बालादित्य और मध्य भारत के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में एकता करके मिहिरकुल को एक करारी पराजय दी, और उसकी शक्ति को छिन्न भिन्न कर डाला। परन्तु बालादित्य ने अपनी साधारण उदारता और आर्य्य-नीति के अनुसार, जो कुछ दशाओं में मूर्खता की सीमातक पहुंचती थी, मिहिरकुल जैसे मनुष्यसमाज के शत्रु को क्षमा कर दिया, और उसे बंधन-मुक्त करके अपने देश को वापस भेज दिया। इस समय मिहिरकुल का छोटा भाई साकल की गद्दीको अपने अधिकारमें ला चुका था। उसने मिहिरकुलको शरण न दी। मिहिरकुल शरणकी तलाशमें काश्मीर पहुंचा। काश्मीर नरेशने एक छोटासा प्रदेश उसको जागीरमें दे दिया। परन्तु इस कपटी और बेईमानने थोड़े ही दिनोंमें शक्तिका संचय करके पहले अपने शरणदाताको ही सिंहासनच्युत करके उसके राज्यपर अधिकार कर लिया। फिर वहांसे गान्धारके राज्यपर आक्रमण किया। यहां भी उसने बड़ी ही नृशंस रीतिसे अपनी ही जातिके राजपरिवारको नष्ट करके अपना अधिकार किया। फिर वह सिंधु नदीतक वध करता चला गया। उसने असंख्य मन्दिरों,

मठों और समाधिभवनोंको भूतलशायी कर दिया, और लूट लिया। अन्ततः सन् ५४२ ई. के लगभग मृत्युने उसको आ घेरा। तब इस भूमिको उसके चङ्गुलसे छुटकारा मिला।

मिहिरकुल को परास्त करने के सम्बन्ध में हिन्दू ऐतिहासिकों में मतभेद है। बौद्ध लेखक इस विजय का सेहरा मगध नरेश बालादित्य के सर बांधते हैं। यशोधर्मन की सभा के कवियों ने इस विजय का श्रेय यशोधर्मन को दिया है। जिसने इस विजय के स्मारक में दो बड़े स्तम्भ खड़े किये, और अपनी प्रशंसा में बहुत से गीत बनाये। यह भी लिखा है कि इसका राज्य ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिमी सागर तक और हिमालय से लेकर ट्रावङ्कोर में महेन्द्रगिरि तक फैला हुआ था। यशोधर्मन के राज्य और वंश आदि के संबन्ध में बहुत कम परिचय मिला है, इस लिये अभी उसके विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

हूण जातियों के भारत में अवशेष

यूरोपीय इतिहास-लेखक यह मत प्रकट करते हैं कि जिनको इस समय की दस्तावेजों में गूजर लिखा है वे इसी हूण जाति में से हैं। उनके मतानुसार राजपूताने के बहुत से राजपूत परिवार भी इसी जाति के अवशेष हैं। परन्तु इस विषय में बहुत मतभेद है।

यह कहना कठिन है कि ये परिणाम कहां तक ठीक है परन्तु यह बात मानी हुई है कि हूण जाति के बहुत से लोग उसकी राजनीतिक शक्ति के नष्ट हो जाने के पश्चात भी भारत में रहे और उन्होंने हिन्दू-सभ्यता को ग्रहण किया।

हूण लोगों का सब से शक्तिशाली राजा मिहिरकुल भी शिव का उपासक था, और कुछ आश्चर्य नहीं कि इस जाति के सरदारों ने बलात या अन्य प्रकार से हिन्दू-स्त्रियों से विवाह करके अपने आपको उन वर्णों में प्रविष्ट कर लिया हो जिन से उन्होंने ये स्त्रियां ली थीं।

कुछ भी हो, यह प्रकट है कि इस समय तक जो जातियां और समूह मध्य एशिया या उत्तर से भारत में प्रविष्ट हुए वे अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये आये। कुछ काल के लिये उन्होंने राजनीतिक संघर्ष भी किये। परन्तु अन्त में भारतीय धर्म और भारतीय सभ्यता को ग्रहण करके यहां की जनता में मिल गये। अब उनके दूसरी जाति के होने का कोई प्रमाण नहीं है।

हिन्दु-धर्म का अपार सागर इतना गहरा और विशाल है कि इसमें सब जातियां, चाहे वे आरम्भ में कैसी ही म्लेच्छ या रक्तपिपासु क्यों न हों, आत्मसात हो जाती हैं, पर शर्त यह है कि वे इस धर्म की सामाजिक पद्धति और सभ्यता को ग्रहण कर लें।

इस कालके और हिन्दू-वंश

इस काल में भारत के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न वंश राज्य करते थे। उनका कुछ वर्णन चीनी पर्यटक ह्यूनत्सांगने किया है। इन वंशों के राज्यकाल में कोई विशेष स्मरणीय या उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। हां, इतना मालूम होता है कि इन में से कुछ राजा ब[illegible]र्म के अनुयायी थे।

सातवां खण्ड

छब्बीसवां अध्याय

महाराज हर्षवर्धन का राज्यकाल

ईसा की सातवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत का राजनीतिक मानचित्र फिर बदल जाता है, और राजनीतिक शक्ति मगध से स्थानान्तरित होकर उत्तर-पश्चिमी भारत में स्थापित हो जाती है।

थानेश्वर हिन्दू आर्यों के इतिहास में बड़ा पवित्र स्थान गिना जाता है। कौरवों और पाण्डवों का महाभारत युद्ध यहीं हुआ था। पीछे भी भारत के इतिहास में हम देखते हैं कि भारत की राजनीतिक शक्ति के भाग्य निर्णायक महत्वपूर्ण युद्ध इसी भूमि पर पानीपत नामी स्थान पर होते रहे। इस भूमि को कुरुक्षेत्र की भूमि कहते हैं। इसी क्षेत्र के आस पास पवित्र नदी सरस्वती बहती थी। इस प्रदेश को प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में ब्रह्मर्षि देश भी कहा है।

ईसा की छठी शताब्दी के आरम्भ में थानेश्वर में राजा प्रभाकरवर्धन राज्य करते थे। यह वैश्य जाति के बताये जाते हैं। हूण जाति के आक्रमणकारियों का इस राजा ने बड़ी वीरता-पूर्वक सामना किया था। इसने अपने साम्राज्य को

फैलाया। 'हर्षचरित्र' के अनुसार हूणों के अतिरिक्त सिंध, गुजरात, गांधार तथा मालवा के राज्यों की शक्ति का पराभव करके राज्य फैला लिया, और 'महाराजाधिराज' की उपाधि ग्रहण की। प्रभाकरवर्धन के दो लड़के थे, राज्यवर्धन बड़ा और हर्षवर्धन छोटा। हर्ष की जन्म तिथि ५६० ई. के लगभग निश्चित की गयी है। राज्यवर्धन हर्ष से छः वर्ष बड़ा था। हर्ष की एक छोटी बहिन थी जो उससे दो या तीन वर्ष छोटी थी।

६०४ ई. में सम्राट प्रभाकरवर्धन ने अपने बड़े बेटे राज्यवर्धन को उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हूणों का सामना करने भेजा। क्योंकि इस समय हूणों के उपद्रव फिर शुरू होगये थे। राज्यवर्धन के पीछे पीछे राजकुमार हर्ष को भी सहायता के लिये भेज दिया। हूणों के साथ यह युद्ध जारी ही था कि प्रभाकरवर्धन बहुत बीमार होगये। हर्षवर्धन जो कि नजदीक ही था वापिस पहुंच गया, और राजा की मृत्यु के समय उसके पास था। थोड़े समय के पश्चात राज्यवर्धन भी आगया, और सन् ६५ ई. में पिता के सिंहासन पर बैठा।

राज्यवर्धन की छोटी बहिन राज्यश्री का सम्बन्ध मौखरी वंश के राजा ग्रहवर्मन से हुआ था। बहुत से ऐतिहासिकों का खयाल है कि मौखरी लोग उस समय कन्नौज में राज्य करते थे। उज्जैन के मालव लोगों के साथ इनका विरोध था। मालवा के राजा थानेश्वर की बढ़ती हुई शक्ति को भी सहन नहीं कर सकते थे। राज्यवर्धन अभी गद्दी पर बैठा था कि उसे समाचार मिला कि मालवा के राजा ने उसके बहनोई

ग्रहवर्मन का वध करके राज्यश्री को कैद कर लिया है, और थानेश्वर पर भी आक्रमण करना चाहता है। राज्यवर्धन तुरन्त सेना लेकर अपनी बहिन को छुड़ाने और मालवराज का सामना करने के लिये चला गया। उसने मालवराज को पराजित तो कर दिया, परन्तु गौड के राजा ने जो मालवराज का मित्र था राज्यवर्धन को धोके से अपने यहां बुला कर मार डाला। गौड और ह्यूनसांग का कर्णसुवर्ण सम्भवतः एक ही थे। ह्यूनसांग ने कर्णसुवर्ण (बंगाल में सम्भवतः मुर्शिदाबाद) के राजा का नाम शशांक लिखा है। उसने यह भी लिखा कि वह बहुत अत्याचारी था, और बौद्धों पर उसने बहुत अत्याचार किये। राज्यवर्धन के मरने पर राज्यश्री उद्धार की कोई आशा न पाकर किसी तरह कारागार से निकल कर विंध्याचल के जंगलों में चली गयी।

हर्ष का राज्य-तिलक

६०६ ई. में हर्ष का थानेश्वर की गद्दी पर राज्यतिलक हुआ। परन्तु इधर कन्नौज की गद्दी का भी प्रश्न था। हर्ष के बहनोई ग्रहवर्मन का कोई उत्तराधिकारी न था। राज्यश्री का अभी कुछ पता न था। इधर देश में अव्यवस्था फैल रही थी, और बाहर से आक्रमण का भी भय था। राज्य के प्रमुख व्यक्तियों ने बहुत विचार के पश्चात * सेनापति सिंहनाद के प्रस्ताव पर

* बाण के हर्षचरित्र के अनुसार इस सेनापति का नाम सिंहनाद था, परन्तु ह्यूनसांग ने सिंहनाद के स्थान पर भंडि का नाम दिया है। भंडि हर्ष के मामा का लड़का और उसका बालसखा था। आगे जाकर हर्ष के दर्बार में बहुत प्रमुख व्यक्ति बना। भंडिका कन्नौज

उसके साथ था। भण्डि को शशांक का पीछा करने के लिये भेज कर यहां से हर्ष विन्ध्याचल के जंगलों में राज्यश्री को ढूंढने गया। वहां की जंगली जातियों के सरदारों तथा बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र की सहायता से राज्यश्री को ढूंढने में सफल हुआ। हर्ष ठीक उस समय पहुंचा जब राज्यश्री उद्धार का कोई उपाय न देख कर आग में जलकर अपने समस्त दुःखों का अन्त करने लगी थी। ऐसे समय में सहसा भाई बहिन का परस्पर मिलन कितना आनन्द जनक होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। इस घटना का प्रभाव हर्ष के हृदय पर भी बहुत देर तक रहा और उसके नाटक 'प्रियदर्शिका' का सारा कथानक इसी घटना के आधार पर मालूम होता है। शशांक के साथ युद्ध का क्या परिणाम हुआ इसका हमें कुछ अधिक पता नहीं चलता। बाण का हर्षचरित्र उससे पहले ही समाप्त हो जाता है। ह्यूनसांग के लेखानुसार इसके बाद छः वर्ष तक दिग्विजय करके उसने पांच देशों को अपने साम्राज्य में कर लिया। इन पांच देशों के नाम पंजाब, कन्नौज, मिथिला, (दरभंगा) उड़ीसा और गौड़ थे। गौड़ का नाम होने से ज्ञात होता है कि हर्ष ने किसी कदर गौडराज शशांक को पराजय दी।

सम्भवतः शशांक ने भी हर्ष की बढ़ती हुई शक्ति के सामने खड़ा होना उचित नहीं समझा। मालूम होता है कि ६१९ ई. तक शशांक की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसका प्रदेश भी हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित होगया प्रतीत होता है।

दिग्विजय ६०६–६१२ ई.

इस समय हर्ष की सेना में पांच हज़ार हाथी, बीस हज़ार सवार

और पचास हजार प्यादे थे। पीछे से उसने इस सेना को और भी बढ़ा लिया। हर्ष की दिग्विजय पांच वर्ष तक जारी रही, और इस काल में बहुत से इलाके उसके राज्य में सम्मिलित होगये। हर्षचरित्र के अनुसार प्रतीत होता है कि हर्ष ने सिंध, नैपाल *, वल्लभी † (सुराष्ट्र, वर्तमान गुजरात में) कच्छ, और सूरत को भी विजय कर लिया।

पुलिकेशी २ य के साथ युद्ध

उत्तरभारत को प्रायः सम्पूर्ण रूप से अपने साम्राज्य में कर लेने के पश्चात हर्ष ने दक्षिण में नर्मदा नदी के पार भी अपना साम्राज्य बढ़ाने का प्रयत्न किया। उस समय प्रसिद्ध चालुक्य राजा पुलिकेशी २ य ने हर्ष के उत्तरीय साम्राज्य के समान दक्षिण में अपना शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया था। पुलिकेशी २ य ने हर्ष को दक्षिण की तरफ बढ़ने से रोका। उत्तर और दक्षिणी भारत के दोनों शक्तिशाली सम्राटों का युद्ध हुआ। इसमें हर्ष को पराजय हुई, और हर्ष अपने साम्राज्य को उत्तरीय भारत तक ही सीमित रखने के

* नैपाल के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार नैपाल उस समय तिब्बत के अधीन था, परन्तु विंसेन्ट स्मिथ की सम्मति में ऐसा मानने के लिये पर्याप्त कारण नहीं।

† स्मिथ ने वल्लभी के राजा ध्रुवसेन २ य या ध्रुवभट्ट के साथ युद्ध को पुलिकेशी के साथ युद्ध के बहुत बाद (६३३ और ६४१ ई. के कहीं बीच में) रखा है। परन्तु कुछ अन्य ऐतिहासिकों की सम्मति में वह वल्लभी और सुराष्ट्र को जीतने के बाद दक्षिण की ओर बढ़ा।

लिये बाधित हुआ। विन्सेंट स्मिथ ने इस युद्ध की तिथि ६२० ई. रखी है, परन्तु डाक्टर फ्लीट तथा कुछ अन्य ऐतिहासिक इसे ६१२ ई. के लगभग रखते हैं।

साम्राज्य विस्तार

छः वर्ष की दिग्विजयों के बाद हर्ष प्रायः समस्त उत्तरीय भारत का सम्राट होगया। उसने अपनी सेना भी बहुत बढ़ा ली थी। ६० हज़ार हाथी और एक लाख सवार उसकी सेना में होगये थे। इस समय उसके साम्राज्य में उत्तर पश्चिम में व्यास और सतलुज से लेकर पूर्व में गंगा यमुना से सिंचित आसाम तक सारा प्रदेश; उत्तर में सम्भवतः नेपाल भी तथा दक्षिण में नर्मदा तट तक, जिसमें मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र भी शामिल थे, सब देश उसके साम्राज्य में थे *। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में (६४३ ई.) में सम्भवतः कलिंग का उत्तरीय प्रदेश (गंजाम के आस पास का इलाका) भी उसके राज्य में सम्मिलित होगया था। कलिंग का दक्षिणी भाग तथा दक्षिणकोशल पुलिकेशी २ य के साम्राज्य में आगये थे; यह एक लेख के आधार पर ज्ञात होता है।

हर्ष का नाम और प्रभाव दूर तक फैल गया था। चीन के साथ उसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध था। मध्यएशिया के भी कई देशों से उसका राजनीतिक सम्बन्ध रहा होगा।

---

* हर्षचरित्र के अनुसार हर्ष ने सिंध को भी विजय कर लिया था। परन्तु ह्यूनसांग के अनुसार वहां उस समय एक बौद्ध शूद्र राजा करता था, जो सम्भवतः चचनाम में वर्णित साहसीराय था।

राज्यप्रबन्ध

पांच वर्ष के दिग्विजय के बाद हर्ष को बहुत युद्ध नहीं लड़ने पड़े। साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रदेशों का शासन यद्यपि वहां के राजाओं जिन्होंने हर्ष की अधीनता स्वीकार की थी, के हाथ में था, परन्तु हर्ष के सीधे निरीक्षण में भी बहुत सा प्रदेश था। हर्ष के शासन की यह विशेषता थी कि वह अपने राज्याधिकारियों पर बहुत आश्रित न रह कर स्वयं शासनप्रबन्ध में बहुत दिलचस्पी लेता था। हर्ष स्वयं अपने सारे राज्य में घूमता था। सिवाय बरसात के तीन महीनों के सारे साल वह यात्रा पर ही रहता था। जहां वह ठहरता था वहां फूस के कुछ घर बना लिये जाते थे, जो चलते समय जला दिये जाते थे। इस यात्रा में वह राज्यप्रबन्ध का निरीक्षण करता, और लोगों की शिकायतें सुनता था। लोग राज्याधिकारियों के विरुद्ध भी अपनी शिकायतें निःशंक होकर कह देते थे। हर्षचरित्र में लिखा है कि हर्ष एक गांव में गया जहां लोग बहुत पीड़ित थे, हर्ष के आने पर उन्होंने कहा "राजा कहां है? राजा होने का उसको क्या अधिकार है?" उन्होंने राजा से राजकर वसूल करनेवाले (भोगपति) और पुलिस (चाट) आदि अधिकारियों की शिकायत की, कि ये हम पर बहुत अत्याचार करते हैं। इसी प्रकार हर्ष स्थान स्थान पर जाकर प्रजा की शिकायतें सुनता था।

हर्ष ने सड़कों का भी उत्तम प्रबन्ध किया था। स्थान स्थान पर धर्मशालाएं बनवायीं। इन स्थानों में दरिद्रों को भोजन तथा औषध मुफ्त देने का भी प्रबन्ध था। अशोक ने अपने राज्य में सार्वजनिक अस्पताल बनवाये थे, परन्तु हर्ष ने मार्गों पर भी

अस्पतालों का प्रबन्ध किया। ह्यूनसांग इन सड़कों की बहुत प्रशंसा करता है। परन्तु मार्ग उतने सुरक्षित न थे जितने गुप्त-काल में थे। चीनी यात्री फ़ाहियान को यात्रा में कहीं चोरों और डाकुओं से सामना न हुआ, परन्तु ह्यूनसांग दो बार इनके हाथ में फंसा और बड़ी मुश्किल से बच सका। इतने बड़े राज्य के प्रबन्ध के लिये आवश्यक था कि दूर प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रखा जाय। इसके लिये आदमी नियुक्त थे जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर चिट्ठियां तथा सन्देश लेजाते थे। इन्हें 'दीर्घा-ध्वग' कहा जाता था। ये लोग ऊंटनियों पर जाया करते थे। यह प्रबन्ध काफ़ी अच्छा था। इसका प्रमाण यह है कि एक सन्देशहर ने आसाम से एक पत्र दो दिन में नालन्दा आकर पहुंचा दिया। ह्यूनसांग ने लिखा है कि राज्य प्रजा की बातों में बहुत हस्तक्षेप नहीं करता। प्रजा से बेगार नहीं ली जाती। प्रजा से आय का छठा भाग कर में लिया जाता था। मार्गों पर चुंगी भी बहुत थोड़ी थी। राजकीय आय चार भागों में विभक्त की जाती थी। एक भाग राज्य के व्यय, जिसमें सम्भवतः सेना का व्यय भी शामिल था, और राजकीय पूजा पाठ के लिये रखा जाता था। दूसरा भाग जनता की विशेष सेवा करने वाले तथा विद्वान पुरुषों को पारितोषक सहायता आदि देने के लिये रखा जाता था। तीसरा भाग राजकर्मचारियों को वेतन आदि देने के लिये, तथा चौथा भाग भिन्न भिन्न सम्प्रदायों को दान देने के लिये सुरक्षित रहता था।

साधारणतः अपराध कम होते थे, और लोग कानून के पाबन्द थे। ह्यूनसांग ने लिखा है कि क्योंकि सरकार का प्रबन्ध उत्तम रीति से किया जाता है लोग आपस में प्रेम से रहते हैं,

और अपराधियों की संख्या कम है। लोगों का आचार बहुत पवित्र है। वे अनुचित रूप से दूसरे की वस्तु नहीं लेते, बल्कि दूसरे को उसके हिस्से से कुछ अधिक देने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु अपराधियों को बहुत कठोर दण्ड दिये जाते थे। घोर अपराधों के बदले नाक कान काट दिये जाते थे। कैदियों के साथ बहुत कठोर बर्ताव होता था; परन्तु खास खुशी के अवसरों पर घोर अपराधियों के सिवाय बाकियों को छोड़ भी दिया जाता था। राज्य की तरफ़ से कर्मचारी नियुक्त थे जो राज्य की हरएक बात का रेकार्ड (Record) रखते थे। राज्य में जो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ होतीं उन्हें भी लेखबद्ध रखा जाता था। भूमि का बकायदा माप और बन्दोबस्त किया जाता था। बन्दोबस्त के अधिकारियों को सीमाकर्मकर या सीमाप्रदाता कहा जाता था। भूमि का माप करने वाला अधिकारी 'प्रमाता' कहलाता था। उस समय मनुष्य गणना की पद्धति प्रचलित थी, यह हमें हर्ष के समकालीन पुलिकेशी २य के एक लेख से पता चलता है।

विद्या और शिक्षा — हर्ष बड़ा विद्या प्रेमी था। वह स्वयं बड़ा विद्वान था और विद्वानों का बड़ा आदर करता था। उस समय भारत के सम्राट विद्वानों का जिस प्रकार प्रोत्साहन दिया करते थे उसकी कई कथाएं मिलती हैं। इसका ही परिणाम था कि उस समय भारत में शिक्षा का खूब प्रचार था। बुद्ध धर्म को भी इस बात का श्रेय देना चाहिये कि वह जहां भी गया सर्वसाधारण लोगों में भी उसने शिक्षा और विद्या की प्रवृत्ति पैदा की। प्रोफ़ेसर रिसडेविड्स ने

हिसाब लगाया है कि भारत में केवल बौद्ध विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या २,१२,१३० थी। परन्तु यह संख्या केवल उन्हीं विद्यार्थियों की थी जो बौद्ध विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में रह कर पढ़ते थे। बौद्ध विद्यालयों के अतिरिक्त भी असंख्य विद्यालय शिक्षा के केन्द्र थे।

बच्चों की शिक्षा के विषय में ह्यूनसांग ने बड़े विस्तार से लिखा है। सात वर्ष की आयु से अक्षरारम्भ के बाद बच्चों को क्रमशः पांच शास्त्र व्याकरण, शिल्पशास्त्र, आयुर्वेद, न्याय और अन्य दर्शन पढ़ाये जाते थे। विद्वानों का समाज में बड़ा ऊंचा दर्जा था। उनका दर्जा राजा महाराजाओं से भी ऊंचा समझा जाता था। कोई विद्वान या धर्मात्मा पुरुष अपनी विद्या को धन के बदले में न बेचता था। ऊपर कहा है—देश में बहुत से विद्यालय थे, परन्तु मगध में नालन्दा का विश्वविद्यालय उस समय सबसे प्रसिद्ध था। इसकी तुलना इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय आक्सफोर्ड से की जाती है। ह्यूनसांग ने इस विश्वविद्यालय का विस्तृत वर्णन किया है।

नालन्दा विश्वविद्यालय इस विश्वविद्यालय में दस हज़ार विद्यार्थी थे। यद्यपि यह विशेष रूप से महायान सम्प्रदाय की शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था, परन्तु हीनयान के अठारह सम्प्रदायों की भी शिक्षा दी जाती थी। वेद शास्त्र, आयुर्वेद तथा गणित की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। ह्यूनसांग के अनुसार सब मिलकर १५१० उपाध्याय इसमें अध्यापन का कार्य करते थे। विश्वविद्यालय का प्रधानाचार्य शीलभद्र था, जिसके विषय में समझा जाता था

कि वह धर्म और विद्या की प्रत्येक शाखा का पूर्ण ज्ञान रखता था। शीलभद्र बंगाल का राजकुमार था, और राज्य छोड़ कर भिक्षु होगया था। इससे पहिले यहां का आचार्य्य धर्मपाल था। विश्वविद्यालय के भवन बड़े विशाल थे, और उन में बड़े बड़े कमरे बने हुए थे, जिनमें बहुत से विद्यार्थी एक साथ बैठ सकते थे। एक सौ गद्दियां थीं जिन पर बैठकर अध्यापक व्याख्यान देते थे। आसपास बगीचे, फव्वारे, झरने और नहरें बना कर उस स्थान को बहुत रमणीक बना दिया गया था। विश्वविद्यालय में विदेशी विद्यार्थियों की शिक्षा का तथा खाने पीने और रहने का भी पूरा प्रबन्ध था, और उन्हें हर प्रकार की सुविधाएं दी जाती थीं। दूर दूर देशों से विद्यार्थी यहां शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते थे। विश्वविद्यालय के व्यय के लिये कई सौ गांवों की मालगुज़ारी माफ थी। सब विद्यार्थियों को जीवन की आवश्यक वस्तुएं तथा शिक्षा निःशुल्क मिलती थी। जो लोग इस विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने आते थे उनकी पहले प्रवेश परीक्षा लीजाती थी—यह एक प्रकार की मैट्रिक्युलेशन होती थी। विश्वविद्यालय के दरवाजे पर परीक्षा होती थी। इस परीक्षा के मुख्य परीक्षक को द्वारपण्डित कहा जाता था। विश्वविद्यालय की शिक्षा जितने ऊंचे दर्जे की थी, उसके अनुसार यह परीक्षा भी बहुत कठिन होती थी। ह्यूनसांग लिखता है कि इसमें पास होने वालों की संख्या दस में से दो तीन ही होती थी।

इसके अतिरिक्त काश्मीर, जालंधर, मतिपुर, (हरिद्वार के समीप) कन्नौज का भद्रविहार, वैशाली का स्वेतपुर, गया का महाबोधि आदि कई महाविद्यालयों के नाम ह्यूनसांग ने

लिखे हैं। जालन्धर में जयगुप्त, मतिपुर में मित्रसेन, भद्रविहार में वीरसेन आदि आचार्य्य बड़े विद्वान थे, जिनसे ह्यूनसांग शिक्षा प्राप्त करता रहा। हर्षचरित्र में विहार के आसपास एक और विश्वविद्यालय का भी वर्णन पाते हैं, जिसका आचार्य्य दिवाकरमित्र था।

साहित्य की उन्नति

देश में विद्या का बड़ा प्रचार था, और हर्ष भी विद्वानों को बहुत प्रोत्साहित करता था। उसकी राजसभा में बहुत से विद्वान तथा कवि रहते थे। संस्कृत का प्रसिद्ध गद्य कवि बाण इसकी सभा में था। बाण ने हर्ष का जीवनचरित्र 'हर्षचरित्र' के नाम से लिखा है उसने एक और गद्यकाव्य कादम्बरी भी लिखा है। हर्ष स्वयं भी बड़ा कवि था। उसने प्रियदर्शिका, रत्नावलि तथा नागानन्द जो संस्कृत के उच्च कोटि के नाटक समझे जाते हैं, रचे। ईशान नामी कवि ने सर्वसाधारण की भाषा में बड़ी उत्तम कविता की। संस्कृत का प्रसिद्ध कवि भारवि तथा सम्भवतः माघ भी इसी समय हुए। प्रसिद्ध कवि सुबन्धु इससे कुछ पहले हुआ। इसके अतिरिक्त दक्षिण मे महेन्द्र-विक्रम तथा अलंकारशास्त्र का प्रसिद्ध विद्वान रविकीर्ति भी उसी समय हुए।

हर्ष का धर्म

हर्ष का पूर्वज पुष्पभूति शैव था, हर्ष का पिता सूर्य का उपासक था, और भाई तथा बहिन बौद्ध थे। ऐसा मालूम होता है कि प्रारम्भिक दिनों में हर्ष शिव, सूर्य और बुद्ध तीनों का उपासक था, परन्तु धीरे धीरे उसकी रुचि बौद्ध धर्म की तरफ़ बढ़ती गयी, और अन्त में वह महा-

यान सम्प्रदाय का पूरा अनुयायी हो गया। हर्ष का अपना वैय्यक्तिक चरित्र भी बड़ा पवित्र था, और रहन सहन सादा था।

हर्ष और चीनी यात्री ह्वेनसांग: तथा कन्नौज की सभा

इन्हीं दिनों चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत में आया हुआ था। यह चीनी यात्री भारत की यात्रा करने के लिये २६ वर्ष की आयु में अपनी जन्म-भूमि से चला। उसका उद्देश्य बौद्ध तीर्थों के दर्शन के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन और योग विद्या सीखना था। वह उत्तरीय मार्ग से ताशकन्द, समरकन्द आदि होता हुआ ६३० ई. के लगभग गांधार पहुंचा। मार्ग में उसे बहुत कष्ट हुआ। वह तेरह वर्ष तक भारतवर्ष के विविध स्थानों पर घूमता हुआ पाली और संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन तथा बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह करता रहा। उसके बाद वह नालन्दा के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में पहुंचा। जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, इस विश्वविद्यालय में विदेशी विद्यार्थियों के लिये पूरी सुविधाएं थीं। उनका बड़ा सत्कार किया जाता था। ह्वेनसांग का भी स्वागत सत्कार किया गया, और रहने, खाने पीने और पढ़ने की पूरी सुविधाएं दी गयीं। पहले भी वह काफी विद्वान था; यहां रह कर थोड़ी देर में उसने अच्छा अध्ययन कर लिया, और धीरे धीरे उसकी बहुत प्रसिद्धि फैल गयी। जिस समय वह नालन्दा में योगशास्त्र पढ़ रहा था उसकी प्रसिद्धि आसाम के राजकुमार तक पहुंची। उसने इसे अपने यहां बुला भेजा। ह्वेनसांग अभी आसाम में थोड़ा अर्सा ही रहने पाया था कि हर्ष ने उस की प्रसिद्धि सुन कर उसे अपने यहां बुला लिया।

हर्ष ने चीनी विद्वान का बड़ा आदर सत्कार किया। ह्यूनसांग महायान सम्प्रदाय का बड़ा भारी प्रचारक था। महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रचार तथा उसकी और सम्प्रदायों से तुलना करने के लिये हर्ष ने कन्नौज में एक भारी सभा बुलायी। (६४३ ई.) इस सभा में सब सम्प्रदायों के विद्वानों को निमन्त्रण दिया गया था। कामरूप के राजकुमार ने भी इस में खूब हिस्सा लिया। और भी कई राजे इस सभा में सम्मिलित हुए। इस सभा में चार सहस्र भिक्षु आये। जिन में एक सहस्र केवल नालन्दा विश्वविद्यालय के थे। तीन सहस्र ब्राह्मण और जैन पंडित थे। गंगा के किनारे एक विशाल मण्डप रचा गया था। उसके बीच में लकड़ी का एक ऊंचा बुर्ज बनाया गया था। उस के ऊपर भगवान बुद्ध की एक सोने की मूर्ति-जो ऊंचाई में राजा के डील के बराबर थी-रखी गयी थी। उसके साथ एक तीन फुट ऊंची मूर्ति और तैय्यार की गयी, जो कई दिन तक बराबर जलूस में लायी जाती रही। सवारी के जलूस में बीस राजा और तीन सौ हाथी होते थे। हर्ष ने शक्र देवता का वेष धारण किया और छतरी स्वयं हाथ में ली। आसाम का कुमार, जिस ने ब्रह्मा का वेष धारण किया था, चँवर करता था। राजा हर्ष मार्ग में सोने के सिक्के मोती और फूल बखेरता जाता था। मण्डप के द्वार पर जलूस ठहर गया। राजा ने स्वयं अपने हाथ से मूर्ति को स्नान कराया। फिर उसे लेजाकर सिंहासन पर स्थापित किया, और उसके ऊपर सहस्रों बहुमूल्य हीरे मोती से जड़े हुए रेशमी वस्त्र भेंट किये। सब साधुओं को खाना खिलाने के पश्चात ह्यूनसांग को सभा का प्रधान बनाया गया। ह्यूनसांग ने उपस्थित लोगों

को ललकारा कि जो मेरी युक्ति को काट देगा उसे मेरा सिर उतार लेने का अधिकार होगा। परन्तु मालूम होता है कि राजा के डर से किसी को शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं हुआ। चीनी यात्री लिखता है कि ऐसा अठारह दिन तक होता रहा, और कोई सामने नहीं आया। परन्तु मालूम होता है कि कुछ लोगों को राजा का यह पक्षपात अच्छा नहीं लगा। और उन्हों ने इससे खिज कर मंडप में आग लगा दी। परन्तु शीघ्र ही यह आग बुझा दी गयी। हर्ष इसे देखने के लिये स्तूप के ऊपर चढ़ा, परन्तु जिस समय वह नीचे उतर रहा था तब एक मनुष्य ने तलवार लेकर उस पर वार किया। परन्तु वह आदमी पकड़ लिया गया। उस से अच्छी तरह जिरह की गयी; जिस में उसने स्वीकार किया कि उसे कुछ ब्राह्मणों ने इस काम के लिये उकसाया था। इस पर ५०० ब्राह्मण अपराध में पकड़े गये—जिन्हों ने अन्त में अपराध स्वीकार किया, और उन्हें देशनिर्वासन का दण्ड दिया गया।

इस के बाद हर्ष ने एक और उत्सव प्रयाग (अलाहाबाद) में किया। ह्यूनसांग यद्यपि घर जाने के लिये उत्सुक था, परन्तु वह हर्ष के आग्रह को अस्वीकार न कर सका। यह उत्सव हर्ष हर पांचवें वर्ष कराया करता था। लगभग ५ लाख मनुष्य इस में एकत्र हुए। यह उत्सव ढाई मास तक रहा। पहले दिन बुद्ध की मूर्ति स्थापित की गयी। दूसरे दिन सूर्य की और तीसरे दिन शिव की। प्रतिदिन खूब धन और वस्त्र बांटा गया। इसके बाद प्रतिदिन भिक्षुओं और ब्राह्मणों, जैनों तथा अन्य धर्मों के पुजारियों को दान मिलता रहा। इस

के बाद फ़कीरों और दरिद्रों को दान मिला। अन्तिम दिन राजा ने अपनी सारी सम्पत्ति दान करदी, और अपनी बहिन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र मांग कर मूर्ति के सामने अन्तिम पूजा की। कहते हैं कि उपस्थित राजाओं ने वह सारी सम्पत्ति फिर खरीद कर हर्ष की भेंट कर दी, और हर्ष ने उसे फिर दुबारा दान कर दिया।

इसके बाद हर्ष ने ह्यूनसांग को बड़े सन्मान के साथ विदा किया। जाते हुए उसे बहुत सा सोना चांदी और धन दिया। मार्ग व्यय के लिये भी बहुत सी सामग्री साथ दी। मार्गरक्षा के लिये उदित नामी राजा को साथ में भेजा, जो सीमान्त तक उसे पहुंचा आवे। ह्यूनसांग अपने साथ लगभग ६५७ पुस्तकें भी लेगया। इस सारे सामान के साथ वह ६४५ ई. में चीन पहुंचा। वहां उस ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं, अपनी भारतयात्रा का विस्तृत वृत्तान्त भी लिखा। ६६१ ई. तक वह लेख तथा प्रचार का काम करता रहा।

थोड़े समय में ही चीन में उसकी विद्वत्ता की बड़ी प्रसिद्धि फैल गयी, वह अपने समय में चीन का सब से बड़ा विद्वान गिना गया। इसके बाद उसने लिखने का काम बन्द कर दिया, और अपनी आयु के अन्तिम तीन वर्ष शान्ति से गुज़ार कर ६६४ ई. में परलोक सिधारा।

देश की सामान्य अवस्था ह्यूनसांग ने अपनी भारतयात्रा का वर्णन करते हुए—भारतीय लोगों की अवस्था का बड़ा उत्तम चित्र खींचा है। लोग समृद्ध, सुखी और सन्तुष्ट थे। देश में शान्ति थी। देश में भिन्न भिन्न धर्मों

के मानने वाले लोग थे, परन्तु साधारणतया वे आपस में शान्ति और प्रेम से रहते थे। ह्यूनसांग ने भारतीयों के शील-स्वभाव की बड़ी प्रशंसा की है। वे सदाचारी, सुशिक्षित, विद्या-व्यसनी और अतिथियों का बड़ा सत्कार करने वाले थे। वे हाथ और हृदय के साफ थे। उनका जीवन सरल और पवित्र था *। वे मितव्ययी थे। रहनसहन खाने पीने में शुद्धता का बहुत ख्याल रखते थे। प्राय. लोग निरामिषभोजी थे। धनी होने पर भी लोग सादा लिबास ही पसन्द करते थे।

स्त्रियों को उस समय बहुत स्वतन्त्रता थी, और उन में शिक्षा का प्रचार था। स्वयं हर्ष की बहन राज्यश्री पढ़ी लिखी और सुशिक्षिता थी, और खुली सभा में हर्ष के साथ बैठकर ह्यूनसांग के व्याख्यानों को सुनती थी। उस समय के प्रसिद्ध कवि 'बाण' की कादम्बरी से भी पता लगता है कि स्त्रियां समाज में स्वतन्त्रता पूर्वक मिलती जुलती थीं। परन्तु ह्यूनसांग के लेखों से यह मालूम होता है कि विधवाओं का पुनर्विवाह समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सती प्रथा भी प्रचलित थी, यद्यपि इसके लिये स्त्री को बाधित नहीं किया जाता था। हर्षचरित्र से हमें मालूम होता है कि जातिबंधन बहुत कठोर न था। 'हर्षचरित्र' का लेखक 'बाण' स्वयं ब्राह्मण था परन्तु उसका 'बन्दी, संपेरा, पनवाड़ी, लुहार, नट, कुम्हार और बाजीगर आदि लोगों के साथ खुला उठना बैठना था।'

* स्मरण रखना चाहिये कि ह्यूनसांग से बहुत पहले यूनानी दूत मैगस्थनीज़ ने भी भारतीयों के सम्बन्ध में ऐसी सम्मति प्रकट की थी।

इस समय भारत का व्यवसाय और व्यापार भी खूब उन्नत था। विदेशों से स्थल और जलमार्गों से खूब आना जाना बना हुआ था।

हर्ष की मृत्यु और उसके बाद

६४६ या ६४७ ई. में ४० या ४१ वर्ष राज्य करने के पश्चात हर्ष की मृत्यु हो गयी। मालूम होता है कि हर्ष का कोई लड़का न था। हर्ष के बाद सिंहासन पर उसके एक मन्त्री अर्जुन या अरुणाश्व ने अधिकार कर लिया। हम पहले लिख आये हैं कि हर्ष का चीन से राजनीतिक सम्बन्ध था। ६४१ में हर्ष ने चीन दरबार में अपना एक दूत भेजा था, और ६४३ ई. में चीन दरबार ने उस के यहां अपना दूत भेजा। यह दूत ६४५ ई. तक भारत में रहा। अगले वर्ष चीन दरबार ने एक और दूत भेजा। यह भारत में ६४७ ई. में पहुंचा। परन्तु उस समय हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी। इस समय देश में गड़बड़ सी मची हुई थी। अर्जुन ने इन दूतों के साथ बुरा वर्ताव किया। उनके साथियों को मार डाला, और उनकी सम्पत्ति को लूट लिया। चीनी राजदूत 'वांग-ह्युन-से' ने नैपाल में भाग कर शरण ली।

तिब्बत और नैपाल की सहायता से अर्जुन को पराजय

इस समय तिब्बत में "संरोगसन गैम्पो" राज्य करता था। वह चीन के सम्राट का सम्बन्धी था। इसने चीन सम्राट की तरफ से नैपाल के राजा की सहायता लेकर 'वांग-ह्युन-से' के साथ सेना भेजी। 'वांग-ह्युन-से' सेना लेकर आया, और उसने तिर्हुत के समीप अर्जुन

को पराजय दी। अर्जुन भाग गया। परन्तु थकी लोगों पर बड़ा अत्याचार किया गया। कहा जाता है कि चीनी दूत ने युद्ध में कैद हुए आदमियों में से दस हज़ार को नदी में डुबो कर मरवा डाला, और तीन हज़ार को और और तरीकों से मरवा दिया। अर्जुन नयी सेना लेकर फिर मुकाबले के लिये आया। इस बार वह स्वयं कैद होगया। 'वानहून' ने फिर हज़ारों आदमियों को मरवा दिया, और सारे राज-परिवार को भी पकड़ लिया। अर्जुन को पकड़ कर वह चीन लेगया।

परन्तु इस आक्रमण का कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं था। यह आक्रमण केवल एक अन्तर्राष्ट्रीय सद्व्यवहार की रक्षा के लिये था। प्राचीन समय के अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों में भी यही उचित समझा जाता था कि दूसरे राष्ट्र के राजदूत का उचित सन्मान किया जाय, और उसकी सब प्रकार से रक्षा की जाय। इस आक्रमण से चीन या तिब्बत का भारत के किसी प्रदेश पर कोई राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित नहीं हुआ।

इसके लगभग दस साल बाद ६५७ ई. में यही राजदूत 'वांग हून' फिर भी भारत में आया। परन्तु इस बार वह तीर्थयात्री के रूप में आया था, और वैशाली, बुद्ध गया आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा कर के वापस लौट गया।

हर्ष कालीन राजनीतिक विभाग

ह्यूनसांग के लेखों से हमें उस समय के राजनीतिक मानचित्र का भी पता मिलता है। उस समय भारत में जो मुख्य राज्य थे उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं।

१. कपिशा—(काबुल) यहां का राजा क्षत्रिय था, और बौद्धधर्म का अनुयायी था। इस के राज्य के अन्दर आस

पास का लम्पाक प्रदेश (वर्तमान लघमान), नगर (जलालाबाद), और गांधार (काबुल से दक्षिण-पूर्व सिंध तक का इलाका, जिस में पेशावर भी शामिल था) के प्रदेश सम्मिलित थे।

२. उदयन—(स्वात) यहां महायान सम्प्रदाय का बहुत ज़ोर था।

३. काश्मीर—यह उस समय एक शक्तिशाली राज्य था। पुंछ, तक्षशिला, नमक की पहाड़ियां तथा और और आस पास के पहाड़ी प्रदेश उसके अधीन थे। लोगों को विद्या का बड़ा शौक था। यहां का राजा इस समय दुर्लभवर्धन था, जो काश्मीर के कर्कोट वंश का संस्थापक हुआ। काश्मीर का विस्तृत इतिहास कल्हण की राजतरङ्गिणी में मिलता है। अशोक के समय यह मौर्य साम्राज्य में था। कनिष्क के समय में भी इसे मुख्यता मिली। परन्तु काश्मीर का प्रामाणिक इतिहास सातवीं सदी के प्रायः बाद से ही संग्रहीत किया जा सका है; अतएव इसका विस्तृत वृत्तान्त हम दूसरे भाग में देंगे।

४. तसेहक—(उत्तरीय पंजाब) ह्यूनसांग ने इस राज्य का नाम 'तसेहक' लिखा है। इसकी राजधानी स्यालकोट के समीप थी। यह राज्य जेहलम से व्यास तक तथा दक्षिण में मुलतान तक फैला हुआ था।

५. सिंध—सिंध शूद्र जाति के एक बौद्ध राजा के अधीन था। स्मिथ की सम्मति में यह बौद्ध राजा वही सिहरासराय था जिसका उल्लेख 'चचनामे' में है। यहां बहुत से बौद्ध भिक्षु थे। परन्तु ह्यूनसांग लिखता है, 'यहां के बौद्ध असली धर्म से बहुत पतित हो गये थे'। वह लिखता है कि 'यहां के भिक्षु ज्यादातर आलसी, आरामपसंद और आचारभ्रष्ट हो गये थे'। आगे चल कर हम देखते हैं कि यही भिक्षु सिंध के पतन का कारण बने।*

नमक की पहाड़ियों के दक्षिण से लेकर सारा इलाका सिंध के अधीन था। बिलोचिस्तान भी उस समय सिंध के अधीन था। सिंध की राजधानी वर्तमान रोड़ी के समीप 'अलोर' थी। उस समय सिंध बहुत समृद्ध और शक्तिशाली था, और आज कल की अपेक्षा बहुत उपजाऊ था। यही समय था जब अरब इसलाम की दीक्षा

* ७१०—११ ई. में मुसलमानों ने जब सिंध पर आक्रमण किया उस समय सिंध के राजा दाहिर ने बड़ी धीरता से मुसलमानों का सामना किया। परन्तु मुसलमानों ने बौद्ध भिक्षुओं को अपनी तरफ फोड़ लिया। इन्होंने जाकर दाहिर से कह दिया कि हमारे धर्म में लड़ना निषिद्ध है, और नगर के द्वार खोल दिये। इस प्रकार इन देशद्रोहियों के विश्वासघात से राजा दाहिर को पराजय हुई।

लेकर पश्चिमी एशिया में अपनी शक्ति बढ़ाता हुआ एक के बाद दूसरे देशों को विजय कर रहा था। इसी समय अरब लोगों ने भारत की तरफ मुंह फेरा। मुसलमानों के आक्रमण का विस्तृत इतिहास हम पुस्तक के दूसरे भाग में लिखेंगे। परन्तु प्रसंगवश इतना यहां लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ६४४ ईसवी में अरबों ने 'मकरान' पर अधिकार कर लिया। सिंध का राजा सिहरासराय इनके हाथों मारा गया। उसका पुत्र मुसलमानों से लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। मकरान पर इसके बाद हमेशा के लिये मुसलमानों का अधिकार होगया*।

६. वल्लभी—पूर्वीय काठियावाड़ में वल्लभी राज्य था। इसका राजा ध्रुवभट्ट था। यह हर्ष का दामाद था। यह हर्ष के अधीन था।

७. गुर्जर—यह राज्य राजपूताना में था। इसकी राजधानी भीनमाल थी। यहां का राजा संभवतः व्याघ्रमुख था, जिसके समय में प्रसिद्ध ज्योतिषी 'ब्रह्मभट्ट' (६२८ ई.) हुआ। यह संभवतः नाममात्र के लिये हर्ष के अधीन था।

* इस समय सम्राट हर्ष भी जीवित था। यह जानना मनोरञ्जक होगा कि मुसलमानों की इस उठती हुई शक्ति को हर्ष किस दृष्टि से देखता था। परन्तु इस विषय में हमें कुछ भी निर्देश नहीं मिलता। संभवतः हर्ष ने इसे बहुत चिन्ताजनक नहीं समझा।

८. वल्लभी के दक्षिण में एक 'गुर्जर' राज्य था। इसकी राजधानी भरूकच्छ (भड़ोच) थी। इसे भी हर्ष ने जीता।
९. पश्चिमी मालवा—इसकी राजधानी 'माही' नदी पर थी।
१०. उज्जैन—पूर्वीय मालवा-इसका राजा भी हर्ष के अधीन था।
११. थानेश्वर } दोनों राज्य इस समय हर्ष के सीधे निरीक्षण में थे।
१२. कन्नौज { कन्नौज बहुत ही प्राचीन नगर था। महर्षि पातञ्जलि ने भी उसका उल्लेख किया है। गुप्तकाल में इसकी बड़ी उन्नति हुई। हर्ष के समय कन्नौज उन्नति के शिखर पर था। उस समय इसमें एक सौ बौद्ध विहार थे। महायान तथा हीनयान के सब मिला कर दस सहस्र भिक्षु यहां निवास करते थे। हिन्दूधर्म भी काफी उन्नति पर था। नगर बहुत मज़बूत था, और गंगा के पूर्वीय तट पर ४ मील तक फैला हुआ था। नगर में बड़े बड़े उद्यान और तालाब थे। लोग धनाढ्य थे, कला कौशल और विद्या की बड़ी चर्चा थी। राजपूत काल में कन्नौज को बहुत ही महत्व प्राप्त हो गया।

यद्यपि गंगा यमुना के अन्तर्वेद में ह्यूनसांग ने कई और राज्यों का भी वर्णन किया है, परन्तु वे सब प्रायः हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत थे।

कर्णसुवर्ण के राजा शशांक और आसाम के राजा भास्कर-वर्मन का वर्णन पहले हो चुका है। भास्कर वर्मन यद्यपि बौद्ध नहीं था, परन्तु विद्वानों का सत्कार करता था, और हर्ष का

बड़ा मित्र था। पूर्व में कलिंग का राज्य भी उस समय कोई स्वतन्त्र राज्य न रहा था। उसका कुछ भाग चालुक्य राजा पुलिकेशी २ य तथा कुछ भाग हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत था। उत्तर में नैपाल का राज्य भी संभवतः हर्ष के ही अधीन था।

दक्षिण में पुलिकेशी २य का विस्तृत साम्राज्य था। उसकी राजधानी 'बादामी' थी। पुलिकेशी के साम्राज्य में वर्तमान महाराष्ट्र का बहुत सा हिस्सा, कलिंग का दक्षिणी भाग दक्षिण कोशल (रामपुर), आन्ध्र (वारंगल), धनकक्ष या धनकटक या वेंगी; नेल्लोर (चोल राज्य), कांची, मलयकूट मदुरा), वर्तमान माइसूर का कुछ हिस्सा, पश्चिमी घाट का उत्तरीय भाग (जिसका मुख्य नगर 'वनवासी' था), सम्मिलित थे। इन्हें पुलिकेशी ने ६१०-६२० ई. में जीता था। हर्ष के साम्राज्य के साथ साथ ही पुलिकेशी के साम्राज्य का भी अन्त हो गया, और कांची के नरसिंहवमन ने बादामी पर अधिकार कर लिया।

इन दोनों साम्राज्यों के टूटने के पश्चात भारतवर्ष छोटे छोटे राजपूत राज्यों में विभक्त हो गया। इन राज्यों में शक्ति के लिये परस्पर संघर्ष होते रहे। इन के इतिहास तथा इन पर मुसलमानों के आक्रमण आदि का वर्णन हम दूसरे भाग में करेंगे।

चीनी यात्री इत्सिंग सातवीं सदी में ही चीनी यात्री इत्सिंग भारत में आया। (६७१-६९५ ई.) यह चीन का बड़ा भारी विद्वान था।

यह महान सन्यासी चीन के बौद्ध जगत में ह्युनत्सांग से किसी भी तरह कम प्रसिद्ध न था। जिन चीनी यात्रियों की

रचनायें हमें उपलब्ध होती हैं, उनमें से यह संस्कृत का एक बड़ा विद्वान हो चुका है। यह हिन्दू उपनिवेश सुमात्रा के शिक्षाकेन्द्रों में ठहरा था, और इसने नालन्दा विश्व-विद्यालय में, उस काल के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों के नियंत्रण में रहकर, दस वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की थी। इसलिये यह संस्कृत और इस समय के प्रचलित पाठ्यक्रमों की शिक्षण विधि से भलीभांति परिचित हो गया था, और प्रत्येक विषय को ठीक ठीक सविस्तर समझाने की योग्यता रखता था। उसने इस सम्बन्ध में एक अलौकिक रचना की है जो "भारत में बौद्ध कृतियों का संग्रह" नामक पुस्तक के पैंतीसवें अध्याय में दी गयी है। उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "भारत तथा मलाया द्वीप (६७१-६५ ई०) के व्यावहारिक बौद्धधर्म का संग्रह" का अनुवाद जे. ताकाकासु ने बहुत ही विद्वत्ता से किया है। यह पुस्तक बौद्ध धर्म के इतिहास तथा संस्कृत साहित्य पर एक अमूल्य कृति है, परन्तु इससे राजनैतिक इतिहास के अध्ययन में बहुत कम सहायता मिलती है।

सत्ताईसवां अध्याय

दक्षिण के राज्य

अब तक हम ने प्रायः उत्तरीय भारत के इतिहास का ही विशेष वर्णन किया है, यद्यपि प्रसंगवश कहीं कहीं दक्षिण भारत का भी वृत्तान्त दे दिया गया है। वस्तुतः दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास का अभी तक पूरी तरह संकलन नहीं किया जा सका। पुस्तक के इस भाग में हमने जिस काल तक का वृत्तान्त लिखा है उसके बाद से दक्षिण भारत के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ अधिक सामग्री उपलब्ध होती है। उसका वर्णन हम पुस्तक के दूसरे भाग में करेंगे। परन्तु इस अध्याय में हम दक्षिण भारत के सातवीं सदी तक के इतिहास के सम्बन्ध में जो थोड़ा बहुत वृत्तान्त मिलता है उसे लिखना चाहते हैं।

संस्कृत-साहित्य में नर्मदा नदी से दक्षिण के सारे प्रदेश को प्रायः 'दक्षिण' नाम से पुकारा गया है। यह प्रदेश त्रिकोणाकार है, और जैसा कि पहले भूगोल के वर्णन में कह आये हैं, भारत की प्राचीन बस्ती इसी प्रदेश में थी, और ठेठ भारत अर्थात आर्यावर्त्त के बड़े भाग में समुद्र लहरें मारता था। उस समय के इतिहास का किसी को ज्ञान नहीं।

संस्कृत साहित्य में दक्षिण का सब से प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में है। (१०, ६१.-) इस में 'दक्षिणा पदा' शब्द है। परन्तु बहुत से ऐतिहासिकों के अनुसार इस 'दक्षिणा पदा' से अभिप्राय 'दक्षिणापथ' या वर्तमान दक्षिण नहीं है। 'दाक्षिणात्य' शब्द पाणिनीय व्याकरण में आता है; और बौधायन सूत्र में 'दक्षिणापथ' का जिक्र सौराष्ट्र के साथ आता है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि "ऐतिहासिक काल" के प्रारम्भ होने से पहले आर्य लोग विंध्याचल को पार कर चुके थे।

दक्षिण में हिन्दू-सभ्यता

यद्यपि दक्षिण में आर्य-सभ्यता बहुत देर में पहुंची, परन्तु यह प्रकट है कि मुसलमानी काल में दक्षिण भारत आर्य्य सभ्यता और हिन्दू धर्म का आश्रय-स्थान रहा, और यद्यपि सम्भव यही है कि वैदिक धर्म इस देश में अपने वास्तविकरूप में कभी नहीं फैला, फिर भी हिन्दू-धर्म और जैन-धर्म ने वहां पर अपने विशुद्धरूप को बहुत अंश तक बनाये रखा। इस समय भी संस्कृत का प्रचार जितना दक्षिण में है उतना उत्तर में नहीं। भारत के मध्यकाल के बहुधा धर्म-सुधारक और विद्वान दक्षिण में उत्पन्न हुए। दक्षिण-भारत में शंकराचार्य और रामानुज का जन्म हुआ। पौराणिक काल में बहुत से शास्त्रकार, टीकाकार और दार्शनिक दक्षिण में उत्पन्न हुए। वेदों की रक्षा भी अधिकतर दक्षिण के पण्डितों ने की। दक्षिण के वेद-पाठी प्रसिद्ध हैं। यज्ञों का क्रम भी न्यूनाधिक दक्षिण में जारी रहा। हिन्दू-संस्कार अपने वास्तविकरूप में अब तक दक्षिण में

मौजूद हैं, इसलिये दक्षिण के इतिहास का अध्ययन उत्तर भारत के निवासियों के लिये भी नीरस न होगा। परन्तु दुर्भाग्य से अभी तक इस प्रदेश का पूरा इतिहास तैयार नहीं हुआ। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वर्त्तमान काल में भी दक्षिण ने हमारी प्रगति को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

दक्षिणकी बांट

दक्षिण की बांट प्रायः दो भागों में की जाती है। प्रथम भाग में वह प्रदेश है जो उत्तर में नर्म्मदा तथा दक्षिण में कृष्णा और तुङ्गभद्रा के बीच है। दूसरे भाग में वह त्रिकोणाकार भूभाग आता है जो कृष्णा और तुङ्गभद्रा नदी से आरम्भ होकर कुमारी अन्तरीप तक जाता है। इस दूसरे भाग को साधारणतया ऐतिहासिकों ने तामिल देशका नाम दिया है। ठेठ दक्षिण में हैदराबाद राज्य का प्रायः सारा इलाका और महाराष्ट्र मिले हुए हैं। ऐतिहासिक प्रयोजनों के लिये मैसूर को भी दक्षिण में गिना जाता है।

ईसा पूर्व दूसरी सदी में दक्षिण में आंध्र लोगों ने अपनी प्रबल राजनैतिक शक्ति स्थापित की। कुछ काल पीछे आंध्र लोगों ने उत्तर भारतवर्ष में भी अपनी शक्ति फैलायी। उसके बादका दक्षिण का इतिहास अभीतक पूर्णरूप से तैयार नहीं हुआ। दक्षिणका नियमबद्ध इतिहास छठी शताब्दी में चालुक्य वंश से आरम्भ होता है।

कादम्ब

कहा जाता है कि ईसा की तीसरी से छठी शताब्दी तक उत्तरीय और दक्षिणी प्रान्त के जिले और पश्चिमी मैसूर कदम्बों के अधिकार में रहे। उनकी

राजधानी वनवासी थी। इसको जयन्ती भी कहा है। इसका उल्लेख अशोककी राजाज्ञाओं में मिलता है। यह वंश वास्तव में ब्राह्मण था। परन्तु राजपद को पाने के कारण उनको क्षत्रिय गिना गया है।

गङ्गवंश

दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक मैसूर में गङ्गवंश ने राज्य किया। दसवीं शताब्दी में गङ्ग-नरेश जैन-धर्म्म के बड़े प्रतिपालक थे।

जैन-धर्म्म दक्षिण में ईसा की चौथी शताब्दी से फैला हुआ है। गोमाता की महत्तायुक्त मूर्त्ति श्रवणबेलगोला में पहाड़ी में से काटकर बनायी गयी है। यह ऊंचाई में ५६॥ फुट है। यह अपनी कारीगरी और डीलडौल में भारत में अद्वितीय है। कहते हैं कि सन् ६८३ ई. में यह मूर्त्ति गङ्गराज के मन्त्री चामुण्डरायने पत्थर को कटवाकर बनवायी थी।

चालुक्य

चालुक्य जाति के राजपुत्रों ने सन् ५५० ई. में वत्नापि नगर पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित किया। वातापिका नाम अब बादामि है। यह बीजापुर के जिले के अन्तर्गत है। इस के शासक का नाम पुलिकेशिन प्रथम था। इसने अश्वमेध यज्ञ भी किया। इसके पुत्र कीर्त्तिवर्म्मन और मङ्गलेश ने इसके राज्य को पूर्व और पश्चिम की ओर बहुत बढ़ाया। मङ्गलेश की मृत्यु पर उससे और कीर्त्तिवर्म्मन के पुत्र से झगड़ा हो गया। अन्त को कीर्त्तिवर्म्मन के पुत्र को सफलता हुई, और उसने सन् ६०८ ई. में पुलिकेशिन द्वितीय के नाम से अपना राज्याभिषेक किया। उसने अपने राज्य का चारों ओर विस्तार किया। सन् ६१५ ई. में पुलिकेशिन के भाई कुब्ज विष्णुवर्धन ने पूर्वीय चालुक्य वंशकी स्थापना की।

पुलिकेशी द्वितीयने कन्नौज-नरेश हर्ष को भी नर्मदा पार करने से रोका। यह वंश सन् १०७० ई. तक शासन करता रहा।

ईरानके साथ सम्बन्ध

पुलिकेशी द्वितीय ने ईरान-नरेश खुसरो द्वितीय के साथ मैत्री उत्पन्न की। दोनों राजाओं ने एक दूसरे के दरबार में दूत भेजे। ऐसा प्रतीत होता है कि अजन्ता की प्रसिद्ध गुहाएं, जो अपनी चित्रकारी और आलेख्य के लिये संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिनी जाती हैं, इसी राजा के समय में निर्मित हुई। चीनी यात्री ह्युनसाङ्ग सन् ६४१ ई. में पुलिकेशिन के दरबार में आया। उस समय अजन्ता की गुहाएं तैयार हो चुकी थीं। पुलिकेशी को सन् ६४२ ई. में कांची के पल्लव राजा नरसिंह वर्मन ने पराजित किया। परन्तु तेरह वर्ष पश्चात पुलिकेशी के पुत्र विक्रमादित्य ने अपने बाप का बदला लिया, और कांची पर अधिकार कर लिया। पल्लवों और चालुक्यों के बीच आठवीं शताब्दी के मध्यतक लड़ाइयां जारी रहीं। फिर सन् ७५३ ई. में राष्ट्रकूट जाति के एक सरदार ने चालुक्यों के राज्य को उखाड़ दिया। यद्यपि चालुक्यवंश के राजपूत अपनी वंशावली श्रीरामचन्द्रजी के साथ मिलाते हैं, पर कहा जाता है कि ये किसी दूसरी जाति के थे।

धार्मिक परिवर्तन

इन दो सौ वर्षों में बौद्ध-धर्म के पतन पर जैन और पौराणिक हिन्दु-धर्म ने बहुत उन्नति की। विष्णु, शिव और अन्य देवी देवताओं के अगणित मन्दिर इस काल में तैय्यार किये गये। बादामि में छठी शताब्दी की जो पौराणिक गुफाएं मौजूद हैं वे तत्काल-

विद्या और आलेख्य के अतीव महत्तायुक्त उदाहरण हैं। दक्षिण महाराष्ट्र देश में जैनधर्म बहुत जनप्रिय होगया था।

(१) पांड्य और चेर-राज्य

हम ऊपर कह आये हैं कि उस प्रदेश का नाम तामिल है जो कृष्णा और तुङ्गभद्रा के दक्षिण में है, और कुमारी अन्तरीपतक पहुंचता है। महाराज अशोक के शिलालेखों में इस प्रदेश के चार बड़े राज्यों का उल्लेख है—एक पांड्य, दूसरा चेरया केरल, तीसरा चोल और चौथा सातियपुत्र।

महाराज अशोक के समय में पांड्य राज्य में मदुरा और तिनावली के जिले और चेर राज्य में मालाबार, आज कल के कोचीन और ट्रावङ्कोर का प्रदेश मिला हुआ था। चोल राज्य कैरोमण्डल पर था। कहते हैं कि ईसा के सन् के आरम्भ में इस सारे प्रान्त की भाषा तामिल थी, और मदुरा उसका साहित्यिक केन्द्र था। उस समय तक मलयालम भाषा उत्पन्न न हुई थी।

ईसाके संवत की पहली शताब्दी में रोमन ऐतिहासिक प्लीनीने पांड्य राज्य का उल्लेख किया है। उस समय इस राज्य की राजधानी मदुरा थी। परन्तु इस से प्राचीन काल में वास्तविक राजधानी कोरकाई के स्थल पर थी। यह अब तिनावली जिले में ताम्रपर्णी नदी के तट पर एक छोटा सा गांव है। अपनी महत्ता के समय में यह स्थान दक्षिणी सभ्यता का केन्द्र था, और मोतियों के व्यापार के लिये बहुत प्रसिद्ध था। जब राजधानी मदुराको स्थानान्तरित की गयी तब भी कोरकाई अपने व्यापारिक महत्व के कारण प्रसिद्ध रहा। उसका नया बन्दर-

गाह कायल में शताब्दियों तक पूर्वीय व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र रहा। तेरहवीं शताब्दी में मारकोपोलो एक से अधिक बार इस बंदरगाह में उतरा। वह वहां के लोगों और राजा की महत्ता से बहुत प्रभावित हुआ। परन्तु जब कायल का बन्दरगाह कोरकाई के सदृश सूख गया तो पुर्तगालवालों ने अपने व्यापार का केन्द्र ट्यूटीकोरिन को बनाया। यह इस समय कुमारी अन्तरीप का प्रसिद्ध बंदर है। यहां से लंका और पूर्वीय तथा पश्चमी सागर तटों को जहाज जाते हैं। पाण्ड्य राज्य का उल्लेख संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन के ग्रन्थों में मिलता है। कात्यायन का समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी है। पाण्ड्य राज्य अति प्राचीन काल से रोमवालों के साथ व्यापार करता था, और अनेक रोमन पुस्तकों में पांड्य देश के भिन्न भिन्न बंदरगाहों और मण्डियों का वर्णन आता है। कहा जाता है कि पांड्य राजा ने सन २० ई. पू. में आगस्टस सीज़र के दरबार में दूत भेजे। रोमन ग्रन्थकार प्लीनी को इस बात का दुख था कि कुछ रोमन स्त्रियां भारतीय वस्त्र पहनकर निर्लज्जता की दोषी होती हैं। वह भारत की मलमल को 'बुनी हुई पवन' के नाम से पुकारता है। प्लिनी शिकायत करता है कि रोमन साम्राज्य से प्रति वर्ष ७६ लाख* की पूंजी भारत को जाती है। थॉमन (?) ने इसकी संख्या ७॥ करोड़ बतायी है। प्लीनी के शब्दों में यह सारा मूल्य उन

* यह राशि भिन्न भिन्न रीति से बतायी गयी है। पीछे एक स्थान पर हमने इसी पुस्तक में १५ करोड़ लिखा है। अभिप्राय प्रचुर धन से है।

विलासिता की वस्तुओं का था जिनका उपभोग रोमन रमणियां करती थीं।

उस समय रुई, ऊन और रेशम के कपड़े बनते थे। ऊनके वस्त्रों में सब से नफीस चूहों की ऊन गिनी जाती थी। रेशम के कपड़ों के तीस प्रकार थे, जो चीन के रेशमी कपड़े से सर्वथा भिन्न थे। रूई के कपड़े की प्रशंसा में यह कहा जाता था कि "वह सांप की केंचली और दूध के धुएं के सदृश सूक्ष्म थे, और उनका तागा आंख से नहीं पहिचाना जा सकता था।" अनेक अंगरेज यात्रियों ने ईसा की अठारहवीं शताब्दी में भी भारतीय मलमल की बारीकी की (जो उत्तर और दक्षिण दोनों प्रदेशों में बुनी जाती थी) प्रशंसा में लगभग ऐसे ही प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे कि रोमन लेखकों ने किया है *।

पश्चिमी समुद्रतट के बन्दरगाह मुज़िरिस से आगे लिखी वस्तुएं पश्चिम को जाती थीं:—

काली मिर्च, मोती, हाथी दांत, रेशम, पान, हीरा, लाल, कछुए की खाल, अन्य प्रकार के बहुमूल्य और चमकीले पत्थर और दारचीनी।

पूर्वीय सागर-तटके व्यवहार बंदर में आगे लिखी वस्तुएं बिकने के लिये आती थीं:—समुद्र पारसे घोड़े, काली मिर्च, सोना और बहुमूल्य पत्थर, उत्तरीय प्रदेश से चन्दन, मोती दक्षिणी सागर से मोती और पूर्वीय सागरों से मूंगे।

---

* इसका सविस्तर वर्णन बेन महाशय की पुस्तक में है। यह रूई के शिल्प का इतिहास है।

तामिल लोग जहाज़ चलाने की विद्या में निपुण थे और अपने जहाज़ आप बनाते थे। इसी प्रकार दुर्गों और शस्त्रों के बनाने में वे चरम उन्नति पर पहुंचे हुए थे। मदुरापर आक्रमण हुआ तो उसकी रक्षा में २४ प्रकार के शस्त्रों का वर्णन मिलता है।

तामिल जातियोंके राजनीतिक नियम

तामिल जातियों के राजनीतिक नियम भी अधिकांश में ऊंचे थे। राजा के अधिकारों का निरीक्षण करने के लिये पांच प्रकार की सभाएं थीं, अर्थात मन्त्रियों की सभा, पुरोहितों की सभा, सैनिक अधिकारियों की सभा, राजदूतों की सभा और भेदियों की सभा। पण्डितों और सामान्य विद्वानों को अधिकार था कि जिस समय चाहें अपनी सम्मति प्रकट करें। श्री कृष्णस्वामी आयङ्गरने, जिन के इतिहास से हमने ये घटनाएं ली हैं, अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि बड़े बड़े राजाओं ने पण्डितों और विद्वानों के कहने पर अपने निर्णय बदल दिये। न्याय का जो आदर्श राजाओं के सामने रहता था उसका अनुमान आगे लिखी कहावतों से हो सकता है—यदि समय पर वर्षा न हो तो राजा के पापों का फल है, यदि स्त्रियां व्यभिचारिणी हो जायं तो भी उसका उत्तरदायित्व राजा पर है।

तामिल राजाओं के समय में शिक्षा का खूब प्रचार था, और विद्या का बहुत सम्मान होता था। स्त्रियां स्वतन्त्रता-पूर्वक विद्याध्ययन करती थीं। बहुत सी योग्य स्त्रियां कवयित्री हुई हैं। विद्वत्ता केवल ब्राह्मणों तक परिमित न थी। विद्वानों

के सम्मान और निरीक्षण के लिये आजकल के यूरोपीय नमूने पर एक समाज या 'संगम्' था। उसके सदस्य उच्चकोटि का साहित्य उत्पन्न करते थे। वह समाज प्रमाण-पत्र आदि देता था।

चीनी यात्री ह्यूनसाङ्गके भ्रमण-वृत्तान्त में दक्षिणी राज्यों का उल्लेख

ह्यूनसाङ्ग सन् ६४० ई. में दक्षिण भारत में आया, और उसने कांचीमें चतुर्मास्य किया। कांची उस समय राजा नरसिंहवर्म्मन पल्लवकी राजधानी थी। वह उस समय दक्षिणका बहुत बड़ा राजा गिना जाता था। चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्तको भी कांचीके एक पल्लव राजासे युद्ध करना पड़ा था। खयाल किया जाता है कि पद्दूकोटा का राजा इस वंश का प्रतिनिधि है। पद्दूकोटा त्रिचनापली, तञ्जोर और मदुरा के जिलों के समीप एक छोटा सा देशी राज्य है।

मलकूट

ह्यूनसांग ने पांड्य राजाओं के प्रदेश का भी वर्णन किया है। वह उसे मलकूट के नाम से पुकारता है। मलकूट में उस समय बौद्धधर्म नष्ट भ्रष्ट हो चुका था। हिन्दुओं के मन्दिर सैकड़ों की संख्या में थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन भी सहस्रों थे।

कून का जैनोंपर अत्याचार

पाण्ड्यवंश के कून नामक एक राजा ने (जिस को सुन्दर या नेदुमारण पाण्ड्य भी कहा गया है) जैनों को बहुत सताया। पहले यह राजा स्वयं बड़ा कट्टर जैन था, परन्तु पीछे से वह अपनी रानी की प्रेरणा से शैव हो गया। कहते हैं उसने आठ सहस्र

जैनों का चमड़ा उतरवाकर उनको अतीव वेदना से मारा।

लङ्का के आक्रमण

पाण्ड्यवंश के राजत्वकाल में लङ्का से दक्षिण भारत पर दो आक्रमण हुए। महावंशका प्रणेता लिखता है कि लङ्कावाले जीत गये, परन्तु स्थानीय इतिहास साक्षी देते हैं कि आक्रमणकारी को पीछे हटना पड़ा।

पाण्ड्य राज्य का अंत

सन् ९९४ ई. में पाण्ड्य राज्य चोल राज्य का करद हो गया। परन्तु यह छोटे मोटे राजाओं के रूप में लगभग सोलहवीं शताब्दी तक जीवित रहा।

चेर या केरल राज्य की राजनीतिक संस्थाएं.

चेर या केरल राज्य के इतिहास में जो बात विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतीत होती है वह यह है कि उनके राजत्वकाल में देहात का शासन अधिकांश में प्रजातन्त्र नियमों पर चलाया जाता था, इसका प्रभाव सारे राज्य पर पड़ता था। गांवों में भिन्न भिन्न सभाएं * प्रबन्ध और विचार सम्बन्धी अधिकारों का उपयोग करती थीं। इस राज्य का इतिहास भी ईसा के संवत् की आरम्भिक दो शताब्दियों तक पहुंचता है। एक समय में ट्रावङ्कोर का प्रदेश भी इस राज्य में था। इसके इतिहास पर सर्वोत्तम पुस्तक श्रीयुत सुन्दरम पिल्ले की है।

(२) चोल राज्य

ऐतिह्यों के अनुसार चोल प्रदेश का नाम चोलमण्डल था, जिसका अपभ्रंश कोरोमण्डल हो गया †। इसके उत्तर में पेन्नार और दक्षिण में

* देखो विंसेण्ट स्मिथ का इतिहास, तीसरा संस्करण, पृष्ठ ४२६।
† विंसेण्ट स्मिथ पृष्ठ ४६०।

तल्लारु नदी थी, पश्चिम में यह राज्य कुर्ग की सीमा तक पहुंचता था। अर्थात इस प्रदेश में वर्तमान मदरास, मैसूर का बहुत सारा इलाका और पूर्वीय-समुद्र तटपर स्थित बहुत से अन्य ब्रिटिश जिले मिले हुए थे। प्राचीनकाल में इस राज्य की राजधानी उरईपूर या पुरानी त्रिचनापल्ली थी। महर्षि पाणिनि के ग्रंथों में इस राज्य का कोई उल्लेख नहीं, यद्यपि कात्यायन मुनि के व्याकरण ग्रन्थों में इसका उल्लेख आता है। महाराज अशोक ने इस राज्य को स्वाधीन और स्वतन्त्र स्वीकार किया है।

प्राचीनकाल का व्यापार — प्राचीन तामिल-साहित्य और यूनानी तथा रोमन इतिहासकारों के लेखों से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में चोल राज्य के साथ पश्चिम का बहुत विस्तृत व्यापार था। तामिल लोगों के जहाज भारत-महासागर तथा बङ्गाल की खाड़ी में दूर दूर तक जाते थे। कावेरी के उत्तरी मुहाने पर काविरिपट्टिनम इस देश का बड़ा बन्दरगाह था। यह नगर किसी समय बड़ा ऐश्वर्यशाली था। राजा के भवन बहुत विशाल थे, और विदेशी व्यापारी बड़ी शान और सम्मान से यहां रहते थे।

करिकाल — इस जाति का पहला राजा करिकाल हुआ है। यह लङ्का पर आक्रमण कर के वहां से कावेरी का बांध बांधने के लिये सहस्रों कुली लाया था। कुछ काल के पश्चात इस वंश का अधःपात हुआ, क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि समुद्रगुप्त के राज्यकाल में उनके प्रदेश पर पल्लववंश के राजा राज्य करते थे।

ईसा की नवीं शताब्दी के मध्य में इस वंश की उन्नति प्राम

हुई और राजा विजयालय चोलने ३४ वर्ष तक राज्य किया। उसके पुत्र आदित्य के समय में पल्लववंश के राज्य की समाप्ति हो गयी।

* आदित्य के उत्तराधिकारी परान्तक के समय की बहुतसी लिखित साक्षियां यह सिद्ध करती हैं कि उसके राज्य के ग्रामों में पञ्चायती प्रबन्ध पूर्ण था। ग्रामों में भिन्न भिन्न कमेटियां बड़े पैमाने पर प्रबन्ध और मुकदमों का फैसला करने के अधिकार रखती थीं। इस सिलसिले का संगठन इस प्रकार था:—

कतिपय ग्रामों को मिलाकर एक कुड्डम बनाया जाता था। इस कुड्डम का प्रबन्ध एक महासभा के सपुर्द था। इस महासभा के सदस्य नियमपूर्वक निर्वाचित होते थे और एक वर्ष तक अपने पद पर रहते थे। प्रत्येक कुड्डम का अपना कोष था। उसको अपने इलाके में भूमियों के बेचने का भी अधिकार था। प्रबन्ध के भिन्न भिन्न विभाग—सिंचाई, उद्यान, कोष, और अभियोगों का निर्णय आदि—भिन्न भिन्न कमेटियों के सुपुर्द थे। इन महासभाओं में सब ही श्रेणियों के लोग सदस्य हो सकते थे, यहां तक कि नीच जातियों के लोग और स्त्रियां भी सदस्या हो सकती थीं।

कुड्डमों की एक विशेष संख्या के समूह का नाम ज़िला या नेड्डू था। कतिपय ज़िलों का एक विभाग कोट्टयम होता था, और कोट्टयमों के समूह का नाम प्रान्त था। चोल राज्य में छः प्रान्त थे। चोलमण्डल उस इलाके का नाम था जो अब त्रिचनापली और तञ्जोर के ज़िलों में मिला हुआ है।

राजकर की दर उपजका ⅙ भाग थी। और कर

(Cesses) आदि को मिलाकर सारा ⅙ का अनुमान किया गया है। राजकर नगद या अन्न के रूप में दिया जा सकता था। सिक्का सुवर्ण का था। प्राचीन काल में चांदी के सिक्कों का दक्षिण में चलन न था। सिंचाई और वास्तुविभाग (भवन निर्माण) का अतीव पूर्ण प्रबन्ध था। चोल राज्य ने अतीव विशाल मन्दिर और भवन निर्माण किये। तञ्जोर के मन्दिर में चोटी की एक २५॥ घन फुट शिला तौल में ८० टनकी है।

यह राज्य अपने सामुद्रिक बेड़े के लिये विशेषरूप से प्रसिद्ध था।

धर्म — चोल राजाओं का धर्म शैव था। परन्तु उनके शासन-काल में दूसरे धर्मों के साथ किसी प्रकार का कोई हस्ताक्षेप न होता था।

कला — इन राजाओं के राजत्वकाल में वास्तुविद्या, आलेख्य और पत्थर काटने के शिल्प ने बहुत उन्नति की। परन्तु उनका सविस्तर वर्णन इस पुस्तक में नहीं किया जा सकता।

(२) पल्लव वंश का शासन — पल्लव-वंश के राजाओं के मूल का वृत्तान्त निश्चयात्मकरूप से कुछ भी ज्ञात नहीं। ऐतिहासिक काल में उनका वर्णन पहले पहल समुद्रगुप्त के वृत्तान्त में मिलता है; जिसने पल्लव राजा विष्णुगोप को सन् ३५० ई. में पराजित किया था। तत्पश्चात लगभग दो सौ वर्ष तक वे दक्षिण भारत की भिन्न भिन्न शक्तियों से लड़ते रहे। फिर दो सौ वर्ष तक वे दक्षिण के मद से प्रबल राजा रहे। अपने उत्कर्ष के समय में उनके

राज्य की उत्तरीय सीमा नर्मदा थी, और दक्षिणी पन्नार नदी। दक्षिण में पूर्वीय समुद्र से पश्चिमीय समुद्र तक उनका राज्य था। उनका पहला प्रसिद्ध राजा सिंहविष्णु था। उसका यह दावा था कि उसने दक्षिण के तीनों राज्यों के अतिरिक्त लङ्का को भी विजय किया है।

महेन्द्रवर्म्मन

उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र महेन्द्र-वर्मन प्रथम हुआ। उसकी ख्याति पहाड़ों से काटी हुई गुफाओं के उन अगणित मन्दिरों में है जो त्रिचनापली, विङ्गलपुट, उत्तरीय अर्काट और दक्षिणी अर्काट में मिलते हैं। उसने महेन्द्रवाड़ी नाम का एक बड़ा नगर बसाया, और उसके समीप एक बड़ा तालाब अपने नाम पर खुदवाया। इनके खंडहर उनकी महत्ता के प्रमाण हैं। यह राजा आरम्भ में जैन था परन्तु फिर उसने शैवमत ग्रहण कर लिया, और जैनों के प्रसिद्ध पाटलिपुत्तिम को नष्ट किया। यह मठ दक्षिणी अरकाट में था।

नरसिंहवर्म्मन

इस वंश का सब से नामी राजा नरसिंह वर्मन था। इसने पुलिकेशिन को पराजित करके सन् ६४२ ई. में वातापि (बादामि) पर अधिकार प्राप्त किया, और चालुक्य वंश की पहली शाखा की समाप्ति कर दी।

ह्यूनसांग का पर्यटन

इस घटना से दो वर्ष पहले चीनी यात्री ह्यूनसाङ्ग पल्लव राज्य की राजधानी कांची में आया। उसने यहां के निवासियों की वीरता, सत्यप्रियता, विद्यारसिकता और परोपकार-भाव की बहुत प्रशंसा की।

कांची नगर का मानचित्र और प्रोफेसर गेडसकी सम्मति

अध्यापक गेडस नाम के एक अंगरेज विशेषज्ञ ने कांची नगर के मानचित्र की प्रशंसा आगे लिखे शब्दों में की है :—

"यहां पर ऐसा नगर बसा हुआ है जो केवल अपने बड़े बड़े धनाढ्य और भिन्न भिन्न प्रकार के मन्दिरों के लिये ही स्मरणीय नहीं, परन्तु इसकी जिस बात से मैं प्रसन्न हुआ हूं वह यह है कि इस नगर का नक्शा अतीव उपयुक्त और पूर्ण है। वह ऐसे स्केल पर है जिसमें विशाल महत्ता के साथ व्यक्तिगत और शिल्पसम्बन्धी स्वतन्त्रता को ऐसा मिलाया गया है कि मुझ इस प्रकार का नमूना न केवल भारत में वरन और कहीं भी नहीं मिला।

मन्दिर

ह्यूनसाङ्ग के समय में इस नगर में लगभग एक सौ मठ थे जिनमें दस सहस्र से अधिक भिक्षु थे। लगभग इतने ही मन्दिर जैनों के थे।

धर्मपाल का जन्म-स्थान

कांची हिन्दुओं के सात पवित्र नगरों में गिना जाता है। यहीं धर्मपाल नामक एक विख्यात बौद्ध प्रचारक उत्पन्न हुआ था। यह शीलभद्र से पहले नालन्दा विश्वविद्यालय का आचार्य या चांसलर था।

इस वंश का शेष इतिहास चालुक्य, राष्ट्रकूट और गङ्ग राजाओं से लड़ाई भिड़ाई का वृत्तान्त है। सन् ९७५ ई. के लगभग इस वंश की महत्ता नष्ट हो गयी।

जगन्नाथ का मन्दिर

गङ्गवंश के एक राजा अनन्तवर्म्मन चोदगङ्ग ने पुरी में जगन्नाथ का मन्दिर बनाया।

धर्म

इस वंश के राजाओं का धर्म्म पहले बौद्ध था, पीछे से कई राजा वैष्णव हो गये, और कई राजा पहिले जैन थे और फिर शैव मत के अनुयायी हो गये। परन्तु साधारणतया सभी धर्म्मों के लोग उनके राज्य में शान्तिपूर्वक रहते थे। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ राजाओं ने जैन होने के कारण शैव मतवालों को और कुछ ने शैव होकर जैन धर्म्मवालों को दुःख दिया, परन्तु यह पीड़न अपवादरूप है। सामान्यतया कोई किसी धर्म्मका हो, राजा लोग किसी के धर्म्म में हस्तक्षेप न करते थे।

अठाइसवां अध्याय

भारतीय सभ्यता का विस्तार और भारतीय उपनिवेश

हम पहिले इस बात का जिक्र कर चुके हैं कि किस प्रकार मौर्य काल में भारत का सम्बन्ध यूनान, मिश्र तथा सीरिया आदि से स्थापित हुआ, किस प्रकार इन देशों तथा भारत में परस्पर राजनीतिक सम्बन्ध दृढ़ हुआ। महाराज अशोक ने बुद्ध धर्म के प्रचारक विदेशों को भेजे, जिन्होंने बुद्ध धर्म व भारतीय सभ्यता का प्रचार विदेशों में किया। मौर्य काल के बाद उत्तर पश्चिमी जातियों के साथ भारत का किस प्रकार सम्बन्ध बना रहा और किस प्रकार भिन्न भिन्न जातियां समय समय पर भारत में प्रविष्ट होती रहीं, और भारत की सभ्यता, धर्म व भाषा आदि को अपना कर सम्पूर्ण रूप से भारतीय बनती गयीं, इन सब बातों का बहुत कुछ जिक्र पहले पृष्ठों में हो चुका है। भारत के विश्वविद्यालयों में मध्यएशिया तथा चीन आदि आदि सुदूर देशों से बहुत से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। परन्तु ईसा की पहली सदी से भारतीय इतिहास का एक और गौरव पूर्ण अंश हमें उपलब्ध होता है,

जिसके वर्णन किये बिना भारतीय इतिहास का वर्णन पूर्ण नहीं कहा जासकता। यही काल था जब हिमालय, कराकोरम, और क्युनलुम की ऊंची चोटियों को, तथा बंगसागर और चीनसागर को लांघकर भारतीय अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा और लिपि को तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान तथा अन्नाम, स्याम, कम्बोडिया, जावा और सुमात्रा के प्रदेशों में लगये। दक्षिण पूर्वीय द्वीपों में तो भारतीय सभ्यता, धर्म और भाषा के अतिरिक्त भारतीयों ने अपनी राजनीतिक सत्ता भी स्थापित की और इन द्वीपों में अपने उपनिवेश बसाये। भारतीय सभ्यता व राजनीतिक प्रभुत्व के विस्तार का इतिहास अभी तक अपूर्ण होने पर भी बहुत लम्बा है। हम यहां उसका बहुत संक्षेप में वर्णन करेंगे।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार

भारत और चीन में परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध सम्भवतः बहुत देर से था। कुछ प्रमाण ऐसे हैं जिनके आधार पर कह सकते हैं कि कम से कम दूसरी सदी ई. पू. में भारत और चीन का परस्पर सम्बन्ध था। ईसा की पहली शताब्दि में इण्डो-चाइना के मार्ग से चीन के साथ सम्बन्ध का उल्लेख पेरिप्लस के लेखक ने किया है। ऐसी अनुश्रुति प्रचलित है कि महाराज अशोक ने अठारह बौद्ध भिक्षु चीनमें बुद्ध धर्म के प्रचार के लिये भेजे। एक और अनुश्रुति के अनुसार ६७ ई. में चीन सम्राट मिंग-ति ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया, और उसके प्रयत्न से भारत के दो बौद्ध भिक्षु काश्यपमातंग और धर्मरत्न चीन में लाये गये। उन्होंने सब से पहिले बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का

अनुवाद चीनी भाषा में किया। इन्होंने ऐसी पुस्तकें भी लिखीं जिन में बौद्ध धर्म के मोटे मोटे सिद्धान्त सरल चीनी भाषा में समझाये गये थे। ईसा की प्रथम शताब्दि में बौद्ध धर्म ने एक नया रूप प्राप्त किया, और सम्राट कनिष्क की संरक्षा में महायान सम्प्रदाय की स्थापना हुई। सम्राट कनिष्क के साम्राज्य में मध्य एशिया का भी बहुत कुछ इलाका शामिल था; और सम्राट कनिष्क का सुदूर पश्चिमीय देशों व पूर्व में चीन से राजनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित था। इस समय मध्यएशिया और चीन में बहुत से बौद्ध प्रचारक महायान सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिये गये। इन प्रचारकों में अधिकतर यूची और पार्थव जातियों के लोग थे, जो बौद्ध धर्म में दीक्षित होचुके थे। ईसा की पहली सदी से पांचवीं सदी तक हम बहुत से ऐसे प्रचारकों को चीन में जाकर बौद्धधर्म का प्रचार तथा बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत व पाली भाषा से अनुवाद करते हुए पाते हैं। हमें बहुत से ऐसे भिक्षुओं के नाम मिलते हैं, जिनमें से कुछ का हम यहां वर्णन करेंगे। १४७ ई. में लोकक्षेम नामी भिक्षु, जो यूची जाति का था, चीन में गया। वह १८८ ई. तक वहां बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करता रहा। १४४ ई. में एक पार्थव राजकुमार बहुत से बौद्ध ग्रन्थों के साथ चीन पहुंचा। इसका नाम सम्भवतः लोकोत्तम था। यह वस्तुतः एक राजकुमार था, और अपने चाचा को राज्य देकर स्वयं भिक्षु होकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने निकल पड़ा था। बहुत देर तक बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद वह चीन पहुंचा, और वहां उसने बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। इतना ही नहीं, संस्कृत और पाली ग्रन्थों के अनुवादकों के लिये एक

हीनयान सम्प्रदाय प्रचलित किया, परन्तु इस बात की साची उपस्थित की गयी है कि इस से पहले महायान सम्प्रदाय के प्रचारक वर्मा में पहुंच चुके थे। वर्मा में बुद्ध धर्म अब तक प्रधान धर्म है; और बेशुमार मन्दिर मौजूद हैं जिनमें सोने, चांदी, पीतल, तांबे, लकड़ी आदि की मूर्तियां हैं। वहां बेशुमार विहार हैं, जहां बौद्धधर्म की शिक्षा दी जाती है। अंग्रेजी राज्य से पहले वहां शिक्षा आम थी, और कोई व्यक्ति अपढ़ न था। वर्मा के इतिहास के अनुसार वहां के राजवंश भी हिन्दुस्तानी नसल के थे।

भारतीय उपनिवेश

अब तक हमने भारत के विस्तार के इतिहास के एक ही भाग का उल्लेख किया है। हमने जिन देशों का ऊपर उल्लेख किया है उनमें भारतवासियों ने केवल नैतिक विजय प्राप्त की। भारतीय धर्म, सभ्यता और साहित्य ने इन देशों पर विजय प्राप्त की। यद्यपि भारत के बुद्धिबल की इस विजय ने भारत के गौरव को बहुत बढ़ा दिया, और एशिया के अन्तर्जातीय जगत में भारत का स्थान स्वभावतः बहुत ऊंचा हो गया होगा, परन्तु फिर भी यह राजनैतिक विजय न थी। परन्तु दक्षिण पूर्वीय द्वीपों में भारतीयों ने अपनी सभ्यता, संस्कृति, धर्म, व भाषा के अतिरिक्त राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया। वर्तमान स्याम, अनाम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा और बोर्नियो भारत के प्रसिद्ध उपनिवेश थे *।

* उपनिवेश स्थापन का निर्देश हमें कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी मिलता है। जहां कहा गया है कि राजा को चाहिये कि 'पहले बसे हुए अथवा न बसे हुए प्रदेशों को अपने आदमी भेज कर बसा ले'।

हम पहले कह आये हैं कि ईसा की पहली सदी में भारत और चीन का समुद्र मार्ग से सम्बन्ध था। इसी समय से इस मार्ग के इन द्वीपों में भारतीय उपनिवेश बनने आरम्भ हो जाते हैं।

चम्पा

ईसा की पहिली सदी या दूसरी सदी के अन्तिम भाग में वर्तमान अनाम के दक्षिणी तट पर इस भारतीय उपनिवेश की स्थापना की गयी। प्रोफेसर 'रिस डेविड्स' का ख्याल है कि पूर्व में वर्तमान भागलपुर के समीप प्रसिद्ध राज्य 'चम्पा' के अधिवासियों ने यह उपनिवेश स्थापित किया, और अपनी जन्मभूमि के स्मरण में इसे यह नाम दिया। परन्तु बाकी कुछ लोगों का ख्याल है कि वे गोदावरी व कृष्णा के मध्यवर्ती प्रदेश से गये थे। चम्पा के मूल निवासी चाम लोगों ने भारतीय राजनीतिक प्रभुत्व के साथ साथ भारत की सभ्यता, धर्म, लिपि सब कुछ स्वीकार कर लिया। हिन्दू राजाओं ने चम्पा में हिन्दू मन्दिर और हिन्दू देवताओं की मूर्तियां स्थापित कीं। स्वयं 'चाम' लोगों ने भी हिन्दूधर्म में दीक्षित होकर बहुत से मन्दिरों व मूर्तियों की स्थापना की। इस समय तक चम्पा में बौद्ध धर्म का प्रवेश नहीं हुआ था। तीसरी सदी में संस्कृत ही वहां की प्रधान भाषा, और हिन्दू धर्म ही वहां का राजधर्म प्रतीत होता है। तीसरी सदी का एक शिलालेख शुद्ध संस्कृत भाषा में यहां से उपलब्ध हुआ है; जिसके आधार पर यह खयाल किया जाता है कि यहां के प्रथम भारतीय राजा का नाम 'श्रीमार' था। इस के बाद के सब राजाओं के नाम भारतीय हैं—उदाहरणार्थ भद्रवर्मन (३८०-४१३) जयवर्मन (४८४), रुद्रवर्मन (५२९) इत्यादि। चम्पा के भारतीयों ने अपनी मातृभूमि के साथ सम्बन्ध बनाये रखा। इस बात का प्रमाण

हमें चम्पा के एक शिलालेख से मिलता है। इसके अनुसार गंगराज नामी एक राजा ने राज्य छोड़कर भारत की यात्रा की, और गंगा नदी के दर्शन किये। चम्पा में चौदहवीं सदी के आरम्भ तक हिन्दू राजा राज्य करते दिखाई देते हैं। उसके बाद यह उपनिवेश अनाम की अधीनता में आजाता है। इस प्रकार लगभग एक हज़ार वर्ष से अधिक चम्पा एक हिन्दू उपनिवेश रहता है। इस काल में हिन्दू सभ्यता ने वहां बहुत अधिक उन्नति की। चम्पा के राजा भारतीय थे। उनके दरबार में हिन्दू पण्डित और विद्वान थे। राजकाज सारा हिन्दू रीति के अनुसार होता था, और लोग हिन्दू, शैव और वैष्णव धर्मों के अनुयायी थे। शिव, उमा (पार्वती) और विष्णु की असंख्य मूर्तियां और मन्दिर अब भी वहां मौजूद हैं। गणेश और कुबेर की भी मूर्तियां मिलती हैं। सातवीं सदी में बौद्ध धर्म का भी कुछ प्रचार होगया, परन्तु बौद्ध धर्म बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ। वर्णभेद की सत्ता भी उपलब्ध होती है। परन्तु वर्णभेद वैसा कठोर न था जैसा भारत में। विवाह आदि संस्कार भारतीय ढंग पर होते थे। मुर्दों के जलाने की प्रथा थी। चम्पा के नगरों के नाम भी भारतीय थे-अमरावती, विजय, पाण्डुरंग मुख्यनगर थे। शैव और वैष्णव संप्रदायों के साथ हिन्दू शिल्प और कला का भी यहां प्रवेश हुआ। परन्तु चम्पा में हमें भारतीयशिल्प के वैसे उत्तम उदाहरण नहीं मिलते जैसे जावा या कम्बोडिया में मिलते हैं। फिर भी चम्पा का शिल्प भारत का अनुकरण है। भारतीय पद्म, मकर गरुड़ और नन्दी की मूर्तियां और चित्र 'चाम' शिल्प में बहुतायत से हैं। शिल्प के साथ भारतीयसाहित्य का प्रचार हुआ। भारतीय शास्त्रों और

जावा में प्राप्त ज्ञान की देवता की बौद्ध मूर्ति

with Bacon and Aristotle.

आख्यानों तथा रामायण महाभारत का चम्पा में खूब प्रचार था।

यह सब इस बात की साक्षी हैं कि भारतीय सभ्यता, धर्म, शिल्प-कला, साहित्य, शिक्षा आदि का प्रचार किस प्रकार भारतीयों ने इस सुदूर उपनिवेश में किया।

कम्बोडिया या कम्बोज

चीनी लेखों के अनुसार ईसा की पहली सदी में 'कौण्डिन्य' नामी ब्राह्मण ने भारत से आकर कम्बोडिया में अपना उपनिवेश स्थापित किया। उस समय यह उपनिवेश "फुनान" के नाम से प्रसिद्ध था। चीनी लेखों में यह भी लिखा है कि ब्राह्मण कौण्डिन्य ने वहां के सारे रीति रिवाज और कानून भारतीय पद्धति के अनुसार बदल दिये। परन्तु कम्बोडियन लोग अपना प्रथम पुरुष 'कम्बुस्वायम्भुव' को मानते हैं। उनके अनुसार यह 'आर्यदेश' (भारतवर्ष) से आया था। उसी के नाम से वहां का नाम कम्बोज या कम्बोडिया हुआ। कम्बोडिया के इतिहासों में यह भी लिखा है कि "इन्द्रप्रस्थ के राजा 'आदित्यवंश' ने नाराज़ होकर अपने पुत्र को देश से निर्वासित कर दिया। राजपुत्र कुछ उत्साही साथियों के साथ कम्बोडिया आया, और वहां नागवंश की राजकुमारी से विवाह करके वहां का राजा होगया"।

उपर्युक्त सभी अनुश्रुतियों में से किसे सत्य माना जाय यह तो कहना कठिन है, परन्तु इनसे इतना तो स्पष्ट होजाता है कि इस उपनिवेश को पहली सदी ईसवी के लगभग पहले पहल किसी भारतीय ने बसाया। जैसा कि हमने ऊपर कहा

है, उस समय इसका नाम 'फुनान' था। चीनी लेखों के अनुसार यह बड़ा भारी हिन्दू उपनिवेश था, इसकी जलसेना बड़ी प्रबल थी, और भारत से इसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध थे। इसमें कोचीनचाइना, कम्बोडिया, स्याम और मलय प्रायद्वीप अन्तर्गत थे। फुनान के इतिहास के सम्बन्ध में अभी बहुत ज्यादा सामग्री प्राप्त नहीं। ४८४ ई. में वहां हम कौण्डिन्य जयवर्मन को राज्य करते पाते हैं। उसने नागसेन नामी दूत को चीन भेजा। इस समय फुनान में शैव सम्प्रदाय प्रबल था। छठी सदी के आरम्भ में फुनान की शक्ति क्षीण होगयी, और कम्बोडिया ने फुनान का स्थान ग्रहण कर लिया। संस्कृत शिलालेखों के अनुसार-जो कि कम्बोडिया में बड़ी भारी संख्या में मिले हैं—श्रुतवर्मन कम्बोडिया की शक्ति का प्रथम संस्थापक हुआ। श्रुतवर्मन के बाद चम्पा की तरह यहां भी हमें कई हिन्दू राजवंश राज्य करते दिखाई देते हैं। इन सब राजाओं के लेख विशुद्ध संस्कृत में हैं। चम्पा की तरह यहां पर भी विशुद्ध हिन्दूधर्म का प्रचार था। लोग दुर्गा, शिव, विष्णु, त्रिविक्रम, अश्विनी, और सूर्य की पूजा करते थे। रामायण, पुराण और महाभारत का बहुत प्रचार था। जातिबन्धन यहां भी बहुत दृढ़ न था। राजा वीरवर्मन की लड़की का विवाह एक ब्राह्मण से हुआ, जिसके विषय में लिखा है कि वह 'सामवेद' का बड़ा ज्ञाता था। भारतीय प्रवासियों ने वहां पुरानी संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। वैदिक आश्रमों की प्रणाली को भी प्रचलित किया। 'आर्य विद्यादेव' ने अपना वैदिक आश्रम स्थापित किया। एक ब्राह्मण 'भद्रदिवाकर' के विषय में हमें पता

लगता है कि वह यमुना के किसी प्रदेश से आया, और वहां के स्मरण में अपने आश्रम का नाम 'मधुवन' रखा।

६४४ ई. तक कम्बोज में हिन्दूधर्म प्रबल रहा। उसके बाद राजा राजेन्द्रवर्मन ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस समय से हमें बौद्ध मूर्तियां भी उपलब्ध होती हैं। परन्तु साथ साथ हिन्दू धर्म भी प्रचलित रहा। राजा राजेन्द्रवर्मन के विषय में शिलालेख में लिखा है कि वह पाणिनीय व्याकरण का बड़ा पण्डित था। कम्बोज के शिल्प और भवनों के दो उदाहरण हमें 'अंगकोरथाम' और 'अंगकोरवत' में मिलते हैं। प्रथम को राजा यशोवर्मन (८८६ ई.) ने बनवाया। उसने इसका नाम यशोधरपुर रखा। ये भवन बहुत ही सुन्दर हैं। इनमें बहुत उत्तम हिन्दू देवी देवताओं तथा राजाओं के चित्र भी हैं। 'अंगकोरवत' के मन्दिर १२वीं सदी के हैं। इन्हें सूर्यवर्मन द्वितीय ने बनवाया। इसमें हिन्दू देवी देवताओं के अतिरिक्त रामायण और महाभारत की कथाओं के दृश्य खुदे हुए हैं। यद्यपि यहां के चित्र 'बोरोबुदार' आदि के मुकाबले के नहीं हैं, परन्तु कम्बोडिया के ये मन्दिर भवन-निर्माण-कला के सर्वोत्तम नमूनों में से हैं। इस प्रकार इस उपनिवेश में भी भारतीय प्रवासियों ने अपने धर्म, संस्कृति, अपनी भाषा, अपने शिल्प और साहित्य आदि का यहां के मूलनिवासी 'खमेर' लोगों में प्रचार किया। खमेर लोगों ने भारतीय साहित्य, दर्शन, व्याकरण, पुराण, शिल्पकलाको ग्रहण कर लिया। भारतीय स्मृतियों के कानून, व्यवहार, रीति, संस्कार सबको खमेर लोगों ने अपना लिया। कम्बोडिया का वर्तमान कानून अब तक मानव-धर्म-शास्त्र के आठवें तथा नवें अध्याय के आधार पर

है। यद्यपि खमेर लोगों ने अपनी भाषा को भी रखा, परन्तु उसमें बहुत से संस्कृत शब्दों को सम्मिलित कर लिया। खमेर भाषा में राजशासन, कानून, विज्ञान, दर्शन और धर्मशास्त्र विषयक प्रायः सब के सब शब्द संस्कृत भाषा के ही हैं। इन विषयों की शिक्षा 'खमेर' लोगों ने भारतीयों से ही प्राप्त की, इसलिये यह स्वाभाविक ही था। 'खमेर' भाषा में संस्कृत शब्द इतने अधिक हैं कि एक विद्वान ने लिखा है कि 'खमेर भाषा का सारा कोष संस्कृत शब्दों से ही बन सकता है। लिपि भी वहां भारत से ही गयी। भारत की उत्तरीय नागरी और दक्षिणी दोनों लिपियां वहां गयीं। 'खमेर' लिपि दक्षिण भारत के पल्लव या पूर्वीय चालुक्य लोगों की लिपि के आधार पर प्रचलित की गयी। भारतीय सभ्यता और संस्कृत का यहां इतना ज़ोर था कि १० वीं सदी में अरब यात्री इब्नरोस्ता इसे तथा अन्य भारतीय उपनिवेशों को भारत का ही एक हिस्सा लिखता है।

जावा और बालि — जावा भारतीयों का बहुत ही महत्वपूर्ण उपनिवेश था। सम्भवतः ईसा की पहली और दूसरी सदी में भारतीय वहां गये थे। जावा का प्राचीन नाम 'यवद्वीप' था। सिकन्दरिया के प्रसिद्ध ज्योतिषी और भूगोलवेत्ता 'टाल्मी' (२ य सदी) ने 'यवद्वीप' के नाम से जावा का निर्देश किया है। परन्तु इन द्वीपों में सबसे प्राचीन अभिलेख चौथी सदी का प्राप्त हुआ है। यह लेख पूर्वीय बोर्नियो से मिला है। इसमें राजा मूलवर्मन के एक यज्ञ का वर्णन है। इसके यज्ञस्तम्भों के कुछ अवशेष भी साथ प्राप्त हुए हैं। इस अभिलेख की लिपि दक्षिणी भारत के पल्लव तथा चम्पा और कम्बोज के प्राचीन संस्कृत

अभिलेखों मे मिलती है। पांचवीं सदी का एक और लेख पूर्ण-वर्मन का मिलता है। इसने दो नहरें खुदवायीं। भारतीय नदियों के नाम पर उनके नाम चन्द्रभागा और गोमती रखे। पांचवीं सदी में भारतीय इस उपनिवेश से पूर्णतया परिचित थे, इस बात का प्रमाण हमें प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्य्यभट्ट के लेख से मिलता है। वह लिखता है " जब सूर्य्य लंका में उदय होता है उस समय जावा में मध्याह्न और रोम में आधी रात होती है।" लगभग इसी समय जावा में बौद्धयात्री फाहियान आया। परन्तु उस समय यहां बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार नहीं था। बौद्ध धर्म का प्रचार सम्भवतः पहले पहल काश्मीर के राजकुमार गुणवर्मन ने किया, जो ४२३ ई. में यहां आया, परन्तु कुछ देर ठहर कर, जैसा कि हम पहले लिखे आये हैं, चीन चला गया। आठवीं सदी तक जावा में भारतीय हिन्दू-शैव सम्प्रदाय का प्रचार रहा। आठवीं सदी में यह श्रीविजय (सुमात्रा) के महायान शासकों के नीचे आगया। श्रीविजय में उस समय शैलेन्द्र वंश का राज्य था, और उस समय सुमात्रा अपने पूर्ण वैभव पर था। उसका साम्राज्य प्रायः सारे मलय प्रायद्वीप पर, तथा चम्पा और कम्बोडिया तक विस्तृत हो गया था। 'श्रीविजय' के शासकों के शासन में जावा की अवनति नहीं हुई। जावा के शिल्प और कला की उन्नति का यही वह काल था, जिस समय 'बोरोबुडार' और 'प्रेमबनम्' के प्रसिद्ध मन्दिर बनवाये गये। यहां हमें शिल्प और चित्र कला के बहुत ही उत्तम नमूने मिलते हैं और वे बिलकुल भारतीय ढंग के है। 'बोरोबुदार' में महायान बौद्ध कथाओं को बहुत ही सुन्दर रीति से चित्रित किया गया है।

'प्रम्बनम्' के मन्दिरों पर 'अंगकोरवत' के मन्दिरों की तरह रामायण की कथा दीवारों पर चित्रों में लिखी हुई है। जावा की रामायण की कथा वाल्मीकि रामायण की कथा से कई बातों में भिन्न है। जावा में रामायण का बहुत प्रचार था, और अब भी है। जावा में बहुत से स्थानों के नाम भी रामायण के नामों के आधार पर रखे गये। अब भी वहां की मुख्य नदी का नाम 'सरयू' है। लगभग इसी समय वहां की भाषा भी संस्कृत साहित्य की सहायता से बहुत उन्नत होगयी। जावा की मूल भाषा का नाम 'कवि' है। कवि भाषा में आधी संस्कृत मिला हुई है। इस भाषा में जावा के लोगों ने भारतीय ग्रन्थों, रामायण महाभारत आदि के अनुवाद किये। संस्कृत के संसर्ग से इस भाषा की कविता को भी उस समय प्रोत्साहन मिला। इसी के साथ जावा के व्यापार और व्यवसाय को भी प्रोत्साहन मिला। अरब के यात्रियों से पता लगता है कि जावा के लोग सुदूर अफ्रीका के दक्षिणी सिरे तक व्यापार करते थे। ईस्वी सम्वत् के प्रारम्भिक काल में ही मेडागास्कर को जावा और सुमात्रा के हिन्दू प्रवासियों ने बसा लिया था।

पन्द्रहवीं सदी में यद्यपि इस्लाम ने आकर भारतीय संस्कृति को नष्ट किया परन्तु हिन्दू संस्कृति जावा के लोगों में इतनी घुस गयी था, कि जावा के शिल्प और भाषा पर भारत की जो छाप लग चुकी थी, तथा भारत ने उसे जो लिपि दी थी, उसके चिन्ह अब भी स्पष्ट दिखायी देते हैं।

श्रीविजय सुमात्रा के मध्य में भारत का यह उपनिवेश ईसा की पहिली सदी के आस पास ही स्थापित हुआ प्रतीत होता है। श्रीविजय बड़ा भारी उपनिवेश था। परन्तु यहां के

हिन्दू राज्य का विशेष परिचय पांचवीं सदी में मिलता है। कुछ देर बाद यहां शैलेन्द्र वंश का राज्य स्थापित हो जाता है। इस काल में इसकी बहुत उन्नति हुई। सातवीं सदी में जब इत्सिंग यहां पर आया उस समय हिन्दू और बौद्ध सभ्यता का यहां खूब प्रचार था। इत्सिंग ने अपने दो ग्रन्थ श्रीविजय में ही लिखे। इत्सिंग के अनुसार श्रीविजय उस समय बौद्ध साहित्य और संस्कृत के अध्ययन का बड़ा भारी केन्द्र था। यहां के रहन सहन और रीति रिवाज भारत की तरह ही थे। उसने यह भी लिखा कि जो लोग चीन से भारतीय धर्मशास्त्र और अन्य विषयों का अध्ययन करने जाना चाहते हैं उन्हें पहिले एक दो साल श्रीविजय में ठहर कर कुछ अध्ययन कर लेना चाहिये, और भारत के रीति रिवाज सीख लेने चाहियें, और तब भारत में जाना चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि सातवीं सदी में श्री विजय भारतीय सभ्यता और अध्ययन का कितना बड़ा केन्द्र बन चुका था। कहा जाता है कि नालन्दा का प्रसिद्ध विद्वान धर्मपाल ३० साल नालन्दा में अध्यापन कार्य करने के बाद सुमात्रा चला आया था।

शैलेन्द्र वंश के राजा स्वयं महायान सम्प्रदाय के बौद्ध थे। ये राजा बहुत पराक्रमी थे। इनकी सामुद्रिक शक्ति भी बड़ी प्रबल थी। समुद्री मार्ग का एक नाका होने के कारण समुद्री तटों की रक्षा का पूरा प्रबन्ध था। अरब के एक यात्री ने लिखा है कि समुद्र तट की रक्षा के लिये आस पास समुद्र में एक तरह की जंजीरें फैलायी हुई थीं, और ऐसी तरकीब की हुई थी कि इन्हें जब चाहे डाला और उठाया जा सकता था।

इस प्रकार हमने देख लिया कि भारतवर्ष में पहली सदी

आठवां खण्ड

सिंहावलोकन

उनतीसवां अध्याय

हिन्दुओंकी राजनीतिक पद्धति

आजकल यह फैशन हो गया है कि कुछ हिन्दू विद्वान राजनैतिक विज्ञान अर्थात पालिटिक्सको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं, और सब राजनीतिक काम करनेवाले एजीटेटर (आन्दोलनकारी) समझे जाते हैं। अंगरेजी का यह शब्द आजकल बुरे अर्थों में प्रयुक्त होता है। अर्थात साधारणतया यह उन लोगों के लिये उपयोग में लाया जाता है जो जनता के हृदयोंमें अशान्ति और संक्षोभ उत्पन्न करें। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि जब तक मनुष्यों की प्रकृति में अपनी वर्तमान अवस्था के विरुद्ध अशान्ति उत्पन्न न हो तब तक उन्नति असम्भव है। जो मनुष्य अपने मन में यह समझे हुए हैं कि मैं सर्वांगपूर्ण हूं, मुझमें कोई त्रुटि नहीं, वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। उन्नति करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यों की प्रकृतियोंमें संक्षोभ और मानसिक अशान्ति उत्पन्न हो। इसलिये प्रत्येक सुधारकका यह पहला काम है कि वह लोगों के मनमें सुधार और उन्नतिकी चाह उत्पन्न करे। अतएव एजीटेटर होना वास्तव में एक सुधारक का लक्षण है। परन्तु सब सरकारें उन लोगोंको बदनाम करनेका उद्योग करती हैं जो वर्तमान राज्यव्यवस्था

के दोष बतलाकर उसमें परिवर्त्तन करनेका यत्न करते हैं। कुछ शान्तिप्रिय प्रकृतियां या वे लोग जिनको राज्यकी वर्तमान व्यवस्थासे लाभ पहुंचता है इस प्रकार के सुधारकोंको एजीटेटर कहकर लोगोंकी दृष्टिमें गिराने का यत्न करते हैं। आश्चर्य का विषय है कि जहां एक ओर गवर्नमेंट और गवर्नमेंटके सहायक राजनीतिक काम करनेवालोंको एजीटेटर कहकर कलङ्कित करने का यत्न करते हैं वहां उसीके साथ हिन्दुओंपर यह दोष लगाते हैं कि उनके अन्दर यथेष्ट राजनीतिक बुद्धि नहीं है। वे यहांतक कहते हैं कि यह पहले भी कभी न थी। कहा जाता है कि हिन्दू इस बातकी कुछ परवाह नहीं करते कि उनपर कौन राज्य करे। वे केवल यह चाहते हैं कि उनको शान्ति से रहने दिया जाय, और शान्ति से अपना निर्वाह करने दिया जाय। यहांतक कि स्वराज्यके अधिकार के विरोध में यह युक्ति दी जाती है, और कहा जाता है कि भारतीय सामान्यरूप से और हिन्दू विशेषरूपसे इस कारण स्वराज्यके अयोग्य हैं कि उनके अन्दर न राजनीतिक बुद्धि है और न राजनीतिक योग्यता है। वास्तवमें ये दोनों कथन मिथ्या हैं। इतना ठीक है कि कुछ काल से भारतीयों की राजनीतिक बुद्धि दुर्बल हो गयी है। परन्तु यह अवस्था प्रत्येक जातिकी हो जाती है जो चिरकाल तक राजनीतिक दासत्वमें रहे।

भारतमें दो बड़े धार्मिक समाज, अर्थात हिन्दू और मुसलमान, बसते हैं। इन दोनों जनसमुदायोंके प्राचीन इतिहास और सभ्यता के समय में इन दोनोंमें राजनीतिक चैतन्य पर्याप्त रूपमें मौजूद था, और ये लोग राजनीतिकी विद्याको अत्युच्च स्थान देते थे। मुसलमानोंके राजनीतिशास्त्र और राजनीतिक

विचारोंके विषय में हम इस समय कुछ नहीं लिखेंगे। इनका वर्णन पुस्तक के उस भाग में होगा जिसमें मुसलमानों के राज्यका इतिहास लिखा जायगा। इस भागमें अभी संक्षिप्त रूप में हम हिन्दुओं के प्राचीन राजनीतिशास्त्रके सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

राजनीति विज्ञान का महत्व

महाभारत के शान्तिपर्व में यह कहा गया है। कि यदि राजनीति की विद्या लुप्त हो जाय तो तीनों वेद और शेष सब प्रकार के धर्म नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार मानव सूत्रोंमें भी राजनीतिको उन तीन विद्याओं में से बताया गया है जिनका ज्ञान प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। वे तीन विद्याएं ये हैं—वेद, अर्थशास्त्र और राजनीति। बृहस्पति के सूत्रों में भी विशेष रूप से दो विद्याओं का उल्लेख है, अर्थात अर्थशास्त्र और राजनीति। औशनस सूत्रों में तो राजनीतिविद्या को ही विद्या कहा गया है, क्योंकि विद्या की शेष सारी शाखाओंका आधार इसी पर है। हिन्दूशास्त्रों में राजनीतिको प्रायः दण्डनीति कहा गया है। महाभारतके शान्तिपर्व में दण्डनीति की बहुत महिमा वर्णन की गयी है, और कहा गया है कि स्वयं ब्रह्मा ने इस विद्याकी शिक्षा दी। स्वयं राजनीति की पुस्तकों में दण्डनीतिका महत्व भली भांति वर्णित है। हिन्दुओं के साहित्यमें कोई पुस्तक भी ऐसी न मिलेगी जिसमें देशकी राजनीतिक अवस्थाओंका थोड़ा बहुत उल्लेख न हो। धर्मशास्त्रोंमें से प्रायः प्रत्येक शास्त्रमें राजनीतिक विषयोंका वर्णन है, और राज्यप्रबन्ध के सम्बन्धमें सविस्तर उपदेश मौजूद हैं। मनु, गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, बौद्धायन, विष्णु, याज्ञवल्क्य, और नारद के नामसे जो स्मृतियां

प्रसिद्ध हैं, उनमें राजाओं के कर्त्तव्यों, फौजदारी और दीवानी कानूनों, सरकारी करों और अदालती प्रबन्धके विषयमें सविस्तर उपदेश दिये गये हैं। पुराणों में भी राजनीतिशास्त्र तथा शासनविज्ञान की बहुत कुछ सामग्री है। अग्निपुराणमें विशेष रूपसे बहुत विस्तार के साथ इस विषयपर, विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त हिन्दुओं के प्रत्येक प्रकार के दूसरे साहित्य में ऐसे वृत्तान्तों और विवादोंका उल्लेख है जिनसे तत्कालीन राजनीतिक विचारोंका अनुमान किया जा सकता है।

हम ऊपर कह चुके हैं प्राचीन समय के हिन्दू राजनीतिशास्त्र को बहुत महत्व देते थे। राजनीतिशास्त्र को उन्होंने एक विज्ञान का रूप दे दिया था। राजनीतिशास्त्र के कई प्रसिद्ध आचार्य हुए, उन्होंने राजनीतिशास्त्र पर बहुत सी पुस्तकें भी लिखीं, यद्यपि इस समय हमें इस विषय पर बहुत पुस्तकें उपलब्ध नहीं होतीं, परन्तु उनके निर्देश हमें मिलते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में अठारह या उन्नीस 'अर्थशास्त्र के सम्प्रदायों और आचार्यों (पूर्वाचार्याः) का उल्लेख मिलता है।

इस समय हिन्दू राजनीतिशास्त्र पर जो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं उनमें कौटिल्य अर्थशास्त्र बहुत महत्वपूर्ण है। कामन्दक का नीतिसार कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर लिखा गया है। शुक्राचार्य का राजनीतिशास्त्र पर मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, पर शुक्रनीतिसार उपलब्धहोता है। जो संभवतः शुक्राचार्यादि के मूलग्रन्थ के ही आधार पर लिखा गया है। महाभारत में भी विशेषतः शान्तिपर्व में राजनीतिशास्त्र के बहुत से सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। 'बृहस्पति सूत्र'

नाम से भी एक छोटी सी पुस्तक उपलब्ध हुई है। सोमदेव सूरि (दसवीं सदी ईसवी) ने भी राजनीति शास्त्रपर "नीतिवाक्यामृत" नाम से एक ग्रन्थ की रचना की। धर्मसूत्रों और स्मृति ग्रन्थों में भी जैसा हम ऊपर कह आये हैं, राज्यधर्म के विषय पर विचार करते हुए बहुत से राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त लिखे गये हैं। बाक़ी संस्कृत साहित्य में तथा काव्यों आदि में भी राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्देश मिलता है।

ऊपर हमने जितने ग्रन्थों का मोटे तौर पर उल्लेख किया है उतने से ही यह स्पष्ट होजाता है कि प्राचीन हिन्दू राजनीतिशास्त्र को बहुत महत्व देते थे।

राजनीतिविज्ञान

वर्तमान समय में भी राजनीतिविज्ञान को हम दो भागों में बांट सकते हैं। राजनीतिवैज्ञानिक एक तो सिद्धान्तों की दृष्टि से विचार करते हैं। इस में राज्य की उत्पत्ति, राज्य का स्वरूप, राज्य के कर्तव्य आदि बातों पर सिद्धान्तरूप से विचार किया जाता है। दूसरा क्रियात्मक दृष्टि से राज्य के शासन-विधान (Constitution) आदि पर विचार होता है।

प्राचीन हिन्दू राजनीतिवैज्ञानिक भी राजनीति-शास्त्र पर दोनों दृष्टियों से विचार करते थे।

राज्य का आरम्भ

यूरोपीय साहित्य में इस बात पर बहुत विचार किया गया है कि संसार में स्टेट अर्थात राज्य की बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई। ऐतिहासिकों का सामान्यतः यह कथन है कि जब संसार में मनुष्यों की संख्या बढ़ गयी, और उनके बीच सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में झगड़े

उत्पन्न हुए, और समाज परिवारों और वंशों से अधिक विस्तृत होने लगा, तब जनता को राज्य की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उदाहरणार्थ महाभारत के शान्तिपर्व में यह बताया गया है कि पहले कृतयुग में न कोई राजा था, न सरकार, न शासक। सब लोग धर्मानुसार रहते थे, और किसी शासन की आवश्यकता न थी। परन्तु जब धर्म का बल हीन हो गया, और जनता के हृदयों पर लोभ और क्रोध ने अधिकार पाया तब उनके अन्दर धर्माधर्म का विचार निर्बल हो गया। उस समय देवताओं ने ब्रह्मा से रक्षा और शिक्षा के लिये प्रार्थना की, और उसने अपने पुत्र विराट को जगत का राजा बना दिया।

यूरोपीय राजनीतिशास्त्र के कुछ विचारकों ने भी 'अराज्यक' अवस्था से ही राज्य की उत्पत्ति का वर्णन किया है। हिन्दू राजनीतिशास्त्रों ने इस अराज्यक अवस्था को "मात्स्य न्याय" का नाम दिया है। अर्थात जिस प्रकार जल में बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को खाजाती हैं, इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति से पहले अराज्यक अवस्था में प्रबल और शक्तिशाली लोग निर्बल मनुष्यों को मार कर या दबा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे। पश्चिमीय विचारकों ने इस अवस्था को "पक्षियों और हिंस्र प्राणियों का कानून" यह नाम दिया है। तात्पर्य दोनों का एक ही है।

राजा के दैवीय अधिकार का सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति' के उपर्युक्त सिद्धान्त से राज्य के स्वरूप और राजा के अधिकारों के सम्बन्ध में

भी भिन्न भिन्न सिद्धान्त निकाले हैं। जैसा हमने ऊपर कहा है कुछ हिन्दू और पश्चिमीय विचारक इस से यह सिद्ध करते हैं कि इस "अराज्यक" अवस्था के दोषों से संसार को बचाने के लिये परमात्मा ने ही राज्य और राजा की नियुक्ति की, और इस् लिये राजा के अधिकारों में जनता का हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं। इसे पाश्चिमीय विचारक "दैवीय अधिकार का सिद्धान्त (Devine Right) कहते हैं। यूरोप में बहुत देर तक राजा लोग इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने अपरिमित अधिकारों की घोषणा करते रहे। हिन्दू शास्त्रों में इस 'दैवीय अधिकार' के सिद्धान्त का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु उसके साथ यह भी कहा गया है कि जहां परमात्मा की तरफ से राजा को शासन के अधिकार दिये गये हैं वहां "राजा का धर्म" अर्थात कर्तव्य भी परमात्मा द्वारा ही निश्चित है। इस लिये वेद, स्मृति और धर्मशास्त्रों में वर्णित राजधर्म का उल्लंघन राजा नहीं कर सकता। स्मृतिग्रन्थों में यह लिखा है कि 'राजधर्म को उल्लंघन करने वाला राजा प्रजाओं और देवताओं का अप्रिय बन जाता है, और अपने परिवार और राज्य सहित नष्ट हो जाता है।'

शुक्रनीति में जहां राजा के "दैवत्व" या दैवीय अधिकारों को स्वीकार किया गया है, वहां यह भी कहा गया है कि "राजा अपने राजधर्म के कारण ही राजा है। नहीं तो राजकीय चिन्हों से सजाकर तो एक कुत्ते को भी हाथी पर बिठाया जा सकता है।" शुक्रनीति में यह भी कहा गया है कि राजधर्म से गिरे हुए राजा को राज्य से च्युत करने का प्रजा को अधिकार है।

राजा परमात्मा का स्वरूप है इसका यथार्थ अर्थ

मनुस्मृति कहती है कि जब 'अराजकता के कारण लोग मारे डरके चारों ओर बिखर गये तो ब्रह्मा ने संसार की रक्षा के लिये राजा को उत्पन्न किया, और निम्नलिखित देवताओं के अंश उसके अन्दर प्रविष्ट कर दिये, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर। महाभारत में यह भी कहा गया है कि राजा भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। वह कभी अग्नि हो जाता है, कभी आदित्य कभी मृत्यु और कभी वैश्रवण (कुबेर)।

राजाओं को परमात्मा का स्वरूप वर्णन करने में हिन्दू शास्त्रों का प्रयोजन यह है कि उनके उच्च कर्तव्यों की ओर सदा उनका ध्यान दिलाया जावे। बीसियों स्थलों पर वेदों में, महाभारत में, रामायण में, सूत्रों और नीतिशास्त्रों में इस बात का उल्लेख है कि यदि राजा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करे तो वह इस बात का अधिकारी नहीं रहता कि लोग उसको राजा समझें, और उसकी अधीनता स्वीकार करें। जिन अर्थों में यूरोप के राजा अपने आपको ईश्वर की ओर से नियुक्त किया हुआ समझते थे वे सिद्धान्त हिन्दूशास्त्रों ने कभी स्वीकार नहीं किये। यूरोप के राजाओं ने स्पष्ट रूप से यह दावा किया था कि वे अपने पुण्य और पाप के लिये किसी व्यक्ति के सामने उत्तरदाता नहीं हैं, और उनके कर्मों पर कोई व्यक्ति आपत्ति नहीं कर सकता; क्यूंकि राजा परमात्मा का नियुक्त किया हुआ प्रतिनिधि है। उदाहरणार्थ, इंगलैंड नरेश प्रथम जेम्स ने सन् १६०३ ई. में प्रगट रूप से यह कहा था कि जिस प्रकार यह किसी का अधिकार नहीं कि ईश्वर के

अधिकारों पर आपत्ति करे, और जिस प्रकार परमेश्वर को न मानना नास्तिकता है, उसी प्रकार यह प्रश्न करना उचित नहीं कि राजा क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता। यूरोप के अन्य राजाओं ने भी भिन्न भिन्न समयों में इसी प्रकार के दावे उपस्थित किये, और इसके उत्तर में फ्रांस के दार्शनिक रूसो ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि वास्तव में राजाओं के अधिकार उस आभ्यन्तर प्रतिज्ञा से उत्पन्न होते हैं जो प्रत्येक राजा अपनी प्रजा के साथ करता है। उसकी सम्मति में राज्य का मूल प्रतिज्ञा से है। हिन्दूशास्त्रों में किसी राजा को ऐसे अधिकार नहीं दिये गये जिनसे उसके लिये अत्याचार या पाप करना भी उचित हो। डाक्टर बन्द्योपाध्याय के कथनानुसार भारत में राजा का पद एक राजनीतिक पद था। राजा जाति का मुखिया समझा जाता था न कि देश का स्वामी। राज्य का अस्तित्व जनता के कल्याण के लिये था। राजा उस समय तक राज्य का अधिकारी या अफ़सर गिना जाता था जब तक कि वह उस के कल्याण का ध्यान रखता था। वेद में राजा को विशाम्पति, अर्थात जनता का रक्षक कहा गया है। महाभारत में यह भी लिखा है कि जो राजा रक्षा नहीं कर सकता उससे कुछ लाभ नहीं। यदि राजा अपने कर्त्तव्यपालन में त्रुटि दिखलाये तो दूसरा व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो, राजपद को ग्रहण करले *।

हिन्दू राजनीति शास्त्र में राजा के 'दैवीय अधिकार' के

* शान्तिपर्व, अध्याय ७८, श्लोक ३६; मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक १११–१२।

सिद्धान्त के सम्बन्ध में श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल की सम्मति है कि—

"राजा के दैवीय अधिकार का सिद्धान्त यूरोप की तरह भारत में भी अवश्य स्थान प्राप्त कर लेता, यदि लोग राज्य सम्बन्धी बातों में उदासीन होते, और उन्हें राजाओं के इस अनुचित दावे को खास सीमा के भीतर परिमित रखने की फिक्र न होती। 'राजा के दैवीय अधिकार' के इस सिद्धान्त को हिन्दू राजनीतिज्ञों ने 'स्वेच्छाचारिता' का रूप नहीं धारण करने दिया।"

राजा और प्रजा के बीच में समझौते का सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त को लेकर 'दैवीय अधिकार' के सिद्धान्त के स्थान पर फ्रांस के दार्शनिक रूसो ने एक और सिद्धान्त की स्थापना की। इसे उसने "सोशलकन्ट्राक्ट" या 'पारस्परिक समझौते' के सिद्धान्त का नाम दिया। उसने कहा कि राजा को अधिकार परमात्मा की तरफ से प्राप्त नहीं हुए, किन्तु प्रजा की तरफ से प्राप्त हुए हैं। 'अराजकता' की अवस्था से तंग आकर लोगोंने मिलकर अपने में से एक को राजा चुन लिया। राजा और प्रजा के बीच में समझौता हुआ कि एक तरफ राजा प्रजा की इच्छानुसार उस की रक्षा का प्रबन्ध करेगा, और दूसरी तरफ प्रजा उसकी आज्ञा मानेगी, और आय का कुछ हिस्सा राज्य-प्रबन्ध के लिये देगी। इस समझौते से राजा के अधिकारों की उत्पत्ति हुई। रूसो के कथनानुसार जब राजा उक्त समझौते का पालन न करे तो यह प्रजा का अधिकार और कर्तव्य है कि उससे शासन के अधिकार वापस लेले।

भारतीय राजनीतिशास्त्र में भी यह सिद्धान्त पाया जाता है। "मात्स्य न्याय" से दुखी प्रजाओं ने "समय" (समझौता) कर के अपने में से एक व्यक्ति को राजा चुन लिया। इस सिद्धान्त के आधार पर हिन्दू राजनीतिशास्त्र में "प्रजा का यह अधिकार समझा गया कि वह योग्यतम व्यक्ति को राजा निर्वाचित करे, और अयोग्य व्यक्ति को राज्य से हटा दे। यद्यपि पीछे से वंशानुगत राजा नियुक्त करने की प्रथा चल पड़ी, किन्तु प्रायः हरएक राजनीतिशास्त्र के आचार्य ने प्रजा के इस अधिकार को स्वीकार किया है।

महावंश में एक कथा आती है। उसमें लिखा है कि जब लोगों के अन्दर व्यक्तिगत सम्पत्ति का या पारिवारिक स्वामित्व का भाव उत्पन्न होगया तब एक व्यक्ति ने दूसरे का कुछ धन चुरा लिया। उस समय लोगों ने इकट्ठे होकर यह मन्त्रणा की कि इस कुप्रबन्ध और अव्यवस्था को दूर करने के लिये यह अच्छा होगा कि हम अपने में से कुछ शक्तिशाली, सुन्दर और योग्य पुरुषों को अपना शासक नियुक्त करलें, ताकि वे दण्डनीति से लोगों को पाप और अपराध से अलग रख सकें। इस प्रकार सलाह करके उन्होंने अपने में से एक मनुष्य को चुन लिया। उसे अपने खेतों और सम्पत्ति का रक्षक बनाया, और उसे दण्ड देने के अधिकार दिये। उसकी सेवाओं के बदले में उन्होंने उसे अपने खेतों की उपज का एक निश्चित भाग देना स्वीकार किया। इस व्यक्ति का नाम लोगों ने महासम्मत रक्खा। उसको वे क्षत्रिय कहने लगे। 'महासम्मत' का अर्थ यह है कि इसको सबने स्वीकार किया है। यह क्षत्रिय

इसलिये कहलाया कि वह उनके खेतों की रक्षा करता था। क्योंकि वह धर्म्म के अनुसार सबको चलाता था और आप भी धर्म्मात्मा था, इसलिये उसको राजा कहा गया। इस कथा से भी स्पष्ट विदित होता है कि राज्य का आरम्भ और पहले राजाओं की नियुक्ति जनता की स्वीकृति से हुई। राजा उसी समय तक राजा समझा जाता था जबतक कि वह धर्म्म के अनुसार अपने कर्त्तव्यों को पूरा करे। अधर्म्म का आचरण या कर्त्तव्य की उपेक्षा करने, या पाप, व्यभिचार या दुराचार का अपराधी होने की अवस्था में लोगों का धर्म्म न था कि वे राजा की आज्ञाओं का पालन करें, वरन उनको यह भी अधिकार था कि उसको स्थायी या अस्थायीरूप से सिंहासनच्युत करके उसके स्थान में नवीन राजा नियुक्त कर दें। बौद्धायनसूत्रों में स्पष्टरूप से वर्णित है कि राजा जाति का सेवक* है। उस का कर्त्तव्य है कि प्रजा की रक्षा करे, और बदले में उपज का छठा भाग वेतन के रूपमें प्राप्त करे। चाणक्य † कहता है कि चूंकि प्रजा राजाओं को वेतन देती है, इसलिये उनका कर्त्तव्य है कि वे राज्य का निरीक्षण करें। शुक्रनीति में भी यही विचार प्रकट किया गया है कि ब्रह्मा ने राजा को अपनी प्रजा का सेवक बनाया है, और उपज का एक अंश उसका वेतन नियत किया है।

जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन समय में राज्य राजा की सम्पत्ति समझा जाता था वे गलती पर हैं। राजा लोग राज्य के कोश से बिना किसी से पूछे खर्च नहीं कर सकते थे।

---

* बौद्धायन सूत्र, प्रथम भाग, अध्याय दस, अंक पहला।

† अर्थशास्त्र, द्वितीय अध्याय।

नियमानुसार राज्य के आय व्यय का हिसाब रखा जाता था। और राजा के निजू खर्च के लिये वेतन निश्चित था। भिन्न भिन्न राजनीतिशास्त्रज्ञों ने राजा के लिये भिन्न भिन्न वेतन नियत किया है। आपस्तम्ब के अनुसार राजा का वेतन प्रधानमन्त्री और पुरोहित से ज्यादा न होना चाहिये। कौटिल्य के अनुसार मन्त्री, सेनापति और युवराज के वेतन से तिगुना वेतन राजा को दिया जाता था।

राजा को वेतन इसी लिये दिया जाता है कि वह प्रजा की रक्षा करे।

राजा का निर्वाचन

हमने ऊपर कहा है कि हिन्दू राजनीतिशास्त्रज्ञों ने प्रजा के इस अधिकार को स्वीकार किया है कि वे अपने में से योग्यतम व्यक्ति को राजा निर्वाचित करें।

वेद में हमें राजा के निर्वाचन के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद में (१३.१७३) तथा अथर्व वेद में (६, ८७, ८८) राजा के निर्वाचन का स्पष्ट वर्णन है। वहां पर राजा को संबोधन करके कहा गया है—"तू प्रसन्नतापूर्वक हमारे अन्दर आ, स्थिर होकर राज्य कर, तुझे इसी प्रकार सारी प्रजा चाहती रहे, और तुझ से यह राज्य छीना न जाय"। अथर्व वेद (३, ४, २) में एक राजा के पुनर्निर्वाचन का वर्णन है * जिसे पहले लोगों ने राज्य से हटा दिया था। उस में कहा गया है कि 'तुम्हें सब दिशाओं के लोग निर्वाचित करते हैं।

* देखो, जायसवाल, ' हिन्दू पोलिटी ' भाग २ पृ० ८।

तू इस राष्ट्र के उच्चासन पर स्थिर हो।' ऋग्वेद १०. १२४,८ में राजा को चुनने वाली प्रजाओं का निर्देश है। इसी प्रकार और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। पश्चिमीय विद्वान ज़िमर, वीवर और वलूमफील्ड इस बात को स्वीकार करते हैं कि वैदिककाल में राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित होता था।

राज्याभिषेक की प्राचीन विधि से यह पता लगता है कि जिस समय यह विधि प्रचलित की गयी उस समय राजा का नियमानुसार निर्वाचन होता था, और उसे प्रजा के साथ कुछ "समय" (प्रतिज्ञा या समझौता) करना पड़ता था। ऐतरेय ब्राह्मण ने राजा के लिये यह प्रतिज्ञा नियत की है—"यदि मैं तुम पर अत्याचार करूं तो मैंने जो भी पुण्य कर्म अपने जीवन में किये हैं, उनका फल मुझे न मिले, और मेरा अगला जीवन और मेरी सन्तान भी मुझ से छिन जाय।" महाभारत में भी हमें इस प्रतिज्ञा का उल्लेख मिलता है। "राजा मन वचन और कर्म से यह प्रतिज्ञा करे कि मैं सदा देश को अपने लिये ईश्वरस्वरूप समझ कर उस के कल्याण के लिये प्रयत्न करूंगा। जो कुछ धर्म और कानून है, और जो कुछ आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में कर्तव्य कहे गये हैं उन पर मैं आचरण करूंगा, और कभी स्वच्छाचारी न बनूंगा।"*

यह ठीक है कि पीछे से राजा का निर्वाचन प्रायः वंशानुसार ही होने लगा, और राज्याभिषेक की 'प्रतिज्ञा' और शेष सारी विधि एक रीतिमात्र रह गयी, परन्तु हिन्दू राज-

* महाभारत, शान्ति पर्व, ५९, १०६–१०७।

नीतिशास्त्र में सदा प्रजा के अधिकारों और राजा के कर्तव्यों पर बल दिया जाता रहा। कौटिल्य जो कि 'पूर्ण राजसत्ता' (Monarchy) का पक्षपाती था, और राज्य का सब कुछ राजा पर ही निर्भर मानता था * वह भी 'राज्यधर्म' को राजा से ऊपर मानता है। कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को अपने अधिकार और शक्ति का प्रयोग बहुत विचार और न्याय पूर्वक करना चाहिये, नहीं तो राष्ट्र में "प्रकृतिकोप" उत्पन्न हो जाता है, अर्थात राष्ट्र के सब लोग यहां तक कि वानप्रस्थ और सन्यासी भी राजा के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं। कौटिल्य ने सब उपद्रवों से "प्रकृतिकोप" को ज्यादा भयंकर माना है।†

राजा के निर्वाचन की प्रथा हमें पीछे भी उपलब्ध होती है। रुद्रदामन (१५० ई.) के लेख में लिखा है कि "रुद्रदामन को सब लोगों ने राजा चुना"। पालवंश के संस्थापक 'गोपाल' के खलीमपुर के लेख में लिखा है कि "मात्स्य न्याय' अर्थात अराजकता से बचने के लिये प्रजा ने उसे अपना राजा चुन लिया "‡

प्रजा किसी व्यक्ति को राजा मानने से इनकार कर सकती थी

महाभारत से हमें पता लगता है कि 'वंशानुगत' राजा को भी राजा बनाने से इनकार करने का प्रजा को अधिकार था, और प्रजा की सम्मति इस विषय में अन्तिम समझी जाती थी। "जिस समय

* देखो कौटिल्य, अधि० ८ प्रकरण, १२७।

† "प्रकृतिकोपः सर्व कोपेभ्यो गरीयान्"।

‡ "मात्स्य न्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्या करं ग्राहितः।"

राजा प्रतीप ने अपने पुत्र देवापि को अभिषिक्त करने की तैय्यारियां करलीं, तो राज्य के ब्राह्मण, वृद्ध लोग तथा अन्य नगरवासी मिलकर राजा के पास गये, और उन्हों ने देवापि को राजा मानने से इनकार कर दिया। उन्हों ने कहा कि यद्यपि देवापि धर्मात्मा है, सत्यवादी और लोकप्रिय है, परन्तु वह रोगी है।" यह सुन कर राजा को रोना आगया, परन्तु प्रजा की इच्छा के सामने वह कुछ कर न सकता था*।

इसी प्रकार जिस समय ययाति अपने छोटे लड़के 'पुरु' को राज्य देने लगा तो प्रजा ने आपत्ति की। इस पर ययाति ने उन्हें 'पुरु' को राज्य देने के कारण बतलाये, और पुरु को राज्य देने की प्रार्थना की। (भवतोऽनुनयाम्येवं पुरू राज्येऽभिषिच्यताम्) और जब लोगों ने सन्तुष्ट होकर अनुमति दे दी तब राज्याभिषेक किया गया (पौरजानपदैस्तुष्टैः)।

कौटिल्य भी इस बात को आवश्यक नहीं मानता कि बड़ा लड़का अवश्य ही राजगद्दी का उत्तराधिकारी हो। यदि "राजपुत्र योग्य न हो तो उसे राज्य पर किसी हालत में भी न बिठाना चाहिये"†। कौटिल्य ने राजपुत्रों की शिक्षा के विषय में इसीलिये बहुत बल दिया है, और राजनीतिशास्त्र के आचार्यों से मतभेद प्रकट करते हुए उसने लिखा है कि

* "तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह,
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम्।
स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेक निवारणं,
अश्रुकण्ठोऽभवद्राजा पर्यशोचत चात्मजम्।"

† 'न चैक पुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत्'

राजपुत्र योग्य हों, प्रजाप्रिय हों, और विनीत हों, इसका उपाय उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध ही है।

राजा को राज्यच्युत करने का अधिकार

शुक्रनीति में कहा गया है कि "जो राजा अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार नहीं चलता वह 'दस्यु' है। उसने राजा का भेष धारण कर लिया है, परन्तु वास्तव में वह अपनी प्रजा के धन का चोर है। ऐसे राजा को राज्य से वञ्चित करके राज्य से बाहर निकाल देना चाहिये।" एक और स्थान पर शुक्रनीति में ही कहा गया है "यदि राजा आचार, धर्म और नीति का शत्रु हो तो लोगों को चाहिये कि उसे राज्य का नाश करने वाला समझ कर निकाल दें।" इस काम में लोग शत्रु की भी सहायता ले लें तो भी उसे बुरा नहीं समझा गया। "ऐसे राजा को राज्यच्युत करने के पश्चात पुरोहित को चाहिये कि उसके स्थान पर जनता की स्वीकृति लेकर राजपरिवार के किसी और धर्मात्मा पुरुष को गद्दी पर बिठा दे।"

अत्याचारी राजा के विरुद्ध क्रान्ति करने के इस अधिकार को महाभारत में भी स्वीकृत किया गया है। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि जो राजा देश की रक्षा नहीं करता, और देश को अनुचित रूप से लूटता है उस दुष्ट राजा को प्रजा इकट्ठी होकर निर्दयतापूर्वक मार दे। जो राजा प्रजा को यह कह कर कि मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा फिर रक्षा नहीं करता उसे पागल कुत्ते की तरह समझना चाहिये, और एक दम मार देना चाहिये।'

अत्याचारी राज्य के विरुद्ध क्रान्ति का यह अधिकार केवल सिद्धान्त रूप से ही न माना जाता था, किन्तु इतिहास में हमें ऐसे राजाओं के नाम मिलते हैं, जिन्हें प्रजा ने अयोग्य समझ कर पदच्युत किया। अथर्ववेद में "वैतहव्य" लोगों के पदच्युत किये जाने का वर्णन मिलता है। पुराणों और महाभारत में वेन, और नहुष आदि राजाओं के पदच्युत किये जाने का वृत्तान्त है। मृच्छकटिक में राजा पालक के राज्यच्युत किये जाने का वृत्तान्त लिखा है। उसे केवल इस लिये पदच्युत किया गया, क्योंकि उसने आर्यक को विना कारण वन्दीगृह में रखा था।

राजा कानून के अधीन था

हिन्दू राजनीतिशास्त्रज्ञ राजा के लिये भी कानून और शास्त्राज्ञा का पालन करना वैसा ही अनिवार्य समझते थे जैसा साधारण मनुष्यों केलिये। राज्याभिषेक की प्रथा का उल्लेख करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "राजसिंहासन पर विठलाने के बाद राजा की पीठ पर धीरे धीरे राजदण्ड से प्रहार किया जाता है। राजदंण्ड से प्रहार करने का प्रयोजन यह है कि राजा को भी कानून और दण्ड के अधीन लाया जाना है। इसलिये अपराध करने पर राजा को भी दण्ड दिया जाना है।"

मनुस्मृति में लिखा है कि जिस अपराध पर और आदमियों को एक 'कार्षापण' (एक विशेष सिक्का) दंण्ड हो उसी अपराध पर राजा को हजार कार्षापण का जुर्माना होना

चाहिये" * । इस का अर्थ यह है कि साधारण लोगों की अपेक्षा राजा को हज़ार गुणा दण्ड मिलना चाहिये ।

चीनी पर्यटक ह्यूनसांग ने मौर्य राजा बिम्बिसार के सम्बन्ध में यह कथा लिखी है—"राजा ने जब देखा कि राजधानी में आग बहुत लगती है तो उसने आग से अपने नगर को बचाने के लिए यह नियम किया कि जिस घर में पहले आग लग जायगी उसको वनवास का दण्ड दिया जायगा । दैवयोग से एक बार राजभवन में आग लग गयी । तब राजा ने अपने मंत्रियों से कहा कि मुझे भी वनवास होना चाहिये; और वह अपने पुत्र को राज्य सौंप कर वन को चला गया। यह कथा ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य हो या न हो, परन्तु इस से यह स्पष्ट है कि हिन्दू राजाओं के सामने कानून की पाबन्दी का कितना ऊंचा आदर्श था ।

राजा को कानून बनाने का अधिकार न था

हिन्दू राजनीतिशास्त्रों के अनुसार राजा को कानून बनाने का कोई अधिकार न था। कानून बनाना या कानून की व्याख्या करना शास्त्रज्ञ विद्वानों का काम था । राजा का काम केवल यह था कि वह धर्मशास्त्र के कानून के अनुसार प्रबंध कायम रखे, और यह देखे कि लोग कानून का पूरा तरह पालन करते हैं । प्रबन्ध की सुविधा के लिये वह आवश्यकतानुसार विशेष आज्ञाएं (ordinances) निकाल सकता था, परन्तु वे आज्ञाएं कानून के अनुकूल होनी चाहियें ।

* देखिये, मनु० ८, ३३६ "कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः । तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ।

विचित्र प्रकार की शासनप्रणाली थी। और यह आश्चर्यजनक बात है कि व्यावहारिक रूप में इस प्रणाली से भी भली भांति काम होता था। यह और भी विचित्र बात है कि यह प्रणाली देर तक नैपाल में प्रचलित रही। दोनों राजवंशों में परस्पर कोई खून का रिश्ता न था। वे केवल शासनविधान द्वारा ही परस्पर संयुक्त थे। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल की सम्मति में यह शासनप्रणाली भारत में बहुत असाधारण (Rare) नहीं समझी जाती थी।

७. अराजक—यह एक आदर्श शासनप्रणाली समझी जाती थी, जिस में कोई व्यक्ति शासक न होता था, बल्कि 'कानून' को ही लोग शासक समझ कर स्वयं नियमों में रहते थे। आधुनिक युग में रूस के प्रसिद्ध विचारक 'टालस्टाय' ने भी इसी आदर्श का समर्थन किया है।

इन प्रणालियों के अतिरिक्त श्रेणीतन्त्र (Aristocratic) प्रणाली के उदाहरण भी मिलते हैं। इस में सब लोगों को शासन में अधिकार नहीं होता था। या तो खास कुल के लोग मिल कर शासन करते थे, या शासन का अधिकार विशेष विशेष श्रेणी के लोगों को होता था, और उसके लिये सम्पत्ति, धन, विद्या आदि की योग्यता आवश्यक होती थी। उन्हें अर्थशास्त्र में 'कुलसंघ' नाम दिया गया है।

राजतन्त्र प्रणाली में तथा उपर्युक्त सब शासनप्रणालियों में राज्याभिषेक की प्रथा को पूरा करना आवश्यक था। शासक

चाहे निर्वाचित हो या वंशानुगत उसे निश्चित प्रतिज्ञा अवश्य करनी पड़ती थी। यहां तक कि 'वैराज्य' प्रणाली में जहां कोई शासक न होता था वहां भी खास विधि के अनुसार राष्ट्र के सारे लोगों का अभिषेक होता था*।

उपर्युक्त वर्णन से पता लगता है कि प्राचीन हिन्दू राजनीतिज्ञ शासन प्रणाली (Constitution) के विषय में काफी दिलचस्पी लेते थे, और उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार की प्रणालियां प्रचलित की थी। ये प्रणालियां काफी राजनीतिक अनुभव और परीक्षणों के बाद प्रचालन की गयी होंगी।

जनतन्त्र शासन-प्रणाली

हम अपनी पुस्तक में बहुत से जनतन्त्र राष्ट्रों का पहले ज़िक्र कर आये हैं। साधारणतया इन राज्यों को 'गणराज्य' या 'संघराज्य' कहते थे। श्रीयुत जायसवाल महोदय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दु पालिटी' में इकासी जनतन्त्र राष्ट्रों के नाम दिये हैं। यूनानी लेखकों ने कई जनतन्त्र राष्ट्रों का वर्णन किया है, और उन्हें 'डिमाक्रेसी' जनतन्त्र का नाम दिया है।

जनतन्त्र राज्यों में शासन, कानून और न्याय का बहुत उत्तम प्रबन्ध था। लोग नियन्त्रण में रहते थे। उनके नेता लोकप्रिय होते थे। महाभारत में एक स्थान पर नारद ने कृष्ण को इस बात का उपदेश दिया है कि "अंधक-वृष्णि संघ के तुम मुखिया हो, इस लिये तुम्हें लोगों के साथ ज्यादा नम्रता

* देखिये ऐतरेय ब्राह्मण

का वर्ताव करना चाहिये, और औरों के कठोर वचन सहने का अभ्यास डालना चाहिये।" जैसा हमने ऊपर कहा है, इन गणराष्ट्रों में सब व्यक्तियों को समान समझा जाता था, और जन्म की ऊंच नीच का भी कोई भेद भाव न था। महाभारत से हमें पता लगता है कि इन गणराज्यों का शासन बड़ा सफल शासन था। वेतनभोगी सैनिकों के स्थान पर राष्ट्र का हर एक व्यक्ति अपने आप को सैनिक समझता था, और अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये लड़ना अपना धर्म समझता था। इस लिये इन राष्ट्रों की सेनाएं बड़ी शक्तिशाली होती थीं। जिस समय कुछ गणराष्ट्र मिल कर अपना एक संगठन बना लेते थे उस समय उन्हें जीतना बड़ा कठिन हो जाता था। यूनानी लेखकों ने इन राष्ट्रों की समृद्धि का विशेष वर्णन किया है, और महाभारत में भी गणराष्ट्रों की समृद्धि का निर्देश करते हुए लिखा है कि ये गणराष्ट्र आर्थिक दृष्टि से बहुत प्रबल होते थे। राज्य का हर एक काम भिन्न भिन्न विभागों के अधीन बंटा हुआ होता था। इन गणराष्ट्रों का निर्वाचित राष्ट्रपति या राजा गणदास (गण का सेवक) कहा जाता था। महाभारत में एक स्थान पर श्रीकृष्ण ने कहा है, "कहने को मैं अपने संघ का शासक समझा जाता हूं, परन्तु वास्तव में मुझे इनके सेवक का काम करना पड़ता है।"

परन्तु इन गणराष्ट्रों में एक कमी थी और वह यह कि वे बहुत छोटे राज्य थे। यह ठीक है कि तत्कालीन यूनानी 'जनतन्त्रों' की अपेक्षा वे बहुत बड़े थे, परन्तु वर्तमानकाल के जनतन्त्र राष्ट्रों और उस काल के बड़े बड़े साम्राज्यों के मुकाबले में बहुत छोटे और इसी लिये निर्बल भी थे। इसी लिये जिस

समय कोई शक्तिशाली सम्राट अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता वह इन जनतन्त्र राष्ट्रों को या तो नष्ट कर देना या दबा देता था। मौर्य और गुप्त साम्राज्यों की स्थापना के समय ऐसा ही हुआ। 'कौटिल्य' ने-जो कि राजसत्तावादी था-इन जनतन्त्र राष्ट्रों को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लेना सम्राट के लिये आवश्यक बतलाया है। कौटिल्य ने ऐसे कई तरीके बतलाये हैं जिन से 'जनतन्त्र' राष्ट्रों में फूट डाल कर उन्हें जीता जा सकता है। हिन्दू राजनीतिशास्त्रज्ञों ने गणराष्ट्रों की इस कमज़ोरी को स्वीकार किया है, और लिखा है कि इन के लिये सब से बड़ा भय यही है कि कहीं शत्रु वहां के लोगों में परस्पर फूट न डाल दें। 'गणराष्ट्र' भी अपनी इस कमज़ोरी से परिचित थे, और उन्हें सदा इस बात का डर बना रहता था। एक जैन ग्रन्थ में लिखा है कि 'भिक्षू और भिक्षुणियों को इन राष्ट्रों में नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वहां के लोग भिक्षुओं को शत्रुओं का गुप्तचर समझ कर संदेह की दृष्टि से देखते हैं।"

(२)

राजसभाओं का वर्णन

राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों प्रकार के राज्यों में शासन प्रबन्ध का काम राजसभाओं की सहायता द्वारा होता था। वेद में कई स्थानों पर 'समिति' और 'सभा' का वर्णन मिलता है। 'समिति' में राज्य के सारे विशः (लोग) एकत्र होते थे। श्रीयुत जायसवाल के मतानुसार ग्रामों के प्रतिनिधि इस में बैठते थे। राजा का निर्वाचन भी वैदिककाल में 'समिति' द्वारा

ही होता था *। राज्य के भिन्न भिन्न प्रश्नों पर इस में विचार होता था। इस समिति में राजा भी उपस्थित होता था। वेद में ऐसे भी मन्त्र हैं जिन में वक्ता लोग प्रार्थना करते हैं कि हम 'समिति' में प्रभावशाली, भाषण कर सकें। (अथर्व० २, २७)

'सभा' को वेद में 'समिति' की बहिन कहा गया है। सभा के निश्चयों को तोड़ा न जा सकता था, वे अन्तिम समझे जाते थे। सभा संभवतः कुछ चुने हुए व्यक्तियों की होती थी, जो समिति के निर्णयों को कार्यरूप में परिणत करते थे। सभा का एक काम न्याय करना और मुकदमों का फैसला करना भी था।

वैदिककाल के बाद भी राजसभाओं और राज्यपरिषदों का बड़ा महत्व रहा। केन्द्रीय शासनसभाओं के अतिरिक्त भिन्न भिन्न श्रेणियों, समूहों, और व्यापारियों की अपनी सभाएं होती थीं। राजनीतिक आर्थिक और धार्मिक सब क्षेत्रों में हमें सभाओं और परिषदों द्वारा कार्य होना हुआ दिखाई देता है। बड़े सभा-भवनों का वर्णन भी मिलता है।

सभाएं कई प्रकार की होती थीं। बहुत गम्भीर और विचारणीय प्रश्नों का निर्णय सर्वसाधारण की सभा में नहीं किया जाता था, अपितु उसके लिये "वृद्धों की सभा" होती थी। पर परराष्ट्रनीति सम्बन्धी विषयों के लिये एक छोटी 'उपसमिति' का उदाहरण हमें 'यौधेय' गण में मिलता है। इस उपसमिति के सदस्यों को "मन्त्रधराः" कहा जाता था। 'यौधेय' लोगों के

* देखिये, जायसवाल 'हिन्दूपालिटी' भाग १. पृ. ११.

जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं उन में से कुछ "यौधेयगण" के नाम से हैं, और कुछ "यौधेय मन्त्रधराः" के नाम पर हैं।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि कई गणराष्ट्र मिलकर अपना एक संगठन बना लेते थे। इसे महाभारत में संघात (Federation) कहा है। इन संघातों की सभा का भी उल्लेख मिलता है। यह एक प्रकार की Federal council or senate समझनी चाहिये। जैन ग्रन्थों में लिच्छवि और मल्ल लोगों के संघात (Federation) का वृत्तान्त मिलता है। इस संघात की सभा (Federal Council) में अठारह सदस्य थे। दोनों गणों के बराबर बराबर सदस्य थे, और उन्हें गण राजा के नाम से पुकारा जाता था। यद्यपि मल्ल लोग राजनीतिक शक्ति में लिच्छवि लोगों के बराबर नहीं थे, परन्तु 'संघात' की सभा में उनको बराबरी का दर्जा प्राप्त था। जिस प्रकार वर्तमान समय में अमरीका की सेनेट (Federal Council) में सब राज्यों को समान स्थान प्राप्त है।

सभाओं की कार्य-शैली

सभाओं की कार्यशैली का थोड़ा बहुत वर्णन हमें बौद्धग्रन्थों से मिलता है। बौद्ध संघ में बहुमत से ही फैसला किया जाता था। वस्तुतः बौद्ध संघ की सारी कार्यप्रणाली उस समय के 'गणराष्ट्रों' की कार्यप्रणाली की ही नकल थी। 'संघ' की तरफ से एक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था, जिसे आसन प्रज्ञापक कहा जाता था। इसका काम सब सदस्यों के लिये पृथक् पृथक् बैठने के स्थानों का प्रबन्ध करना होता था।

'शलाका' और मत लेने की इस विधि को "शलाकाग्रहण" कहा जाता था। यह अवस्था और आवश्यकता के अनुसार कभी खुले रूप से और कभी गुप्तरूप से होता था। वोट लेने के लिये संघ की तरफ से ऐसे आदमी को "शलाकाग्राहक" नियुक्त किया जाता था, जिसमें पक्षपात, ईर्षा, भय आदि न हो और जो वोट लेने की सारी विधि से परिचित हो, परन्तु 'शलाकाग्राहक' चुनने की भी खास विधि थी। पहले ऐसे व्यक्ति से पूछा जाता था। यदि वह इस कार्य को करना स्वीकार करे तो एक व्यक्ति प्रस्ताव के रूप में उसका नाम पेश करता था, और प्रस्ताव नियमानुसार स्वीकृत होजाने पर उसे चुन लिया जाता था। 'शलाकाग्राहक' टिकटों को भिन्न भिन्न रंगों में रंग कर अपने पास लेकर बैठ जाता था, और एक एक सदस्य उठ कर उसके पास आता था। उसे संबोधन करके "शलाकाग्राहक" कहता, "यह टिकट अमुक सम्मति वाले सदस्य के लिये है, और यह दूसरा टिकट अमुक सम्मति वाले सदस्य के लिये है। जो टिकट तुम चाहो उठालो।" जब सदस्य टिकट उठा लेता था तो वह फिर कहता था, "इस टिकट को किसी और को मत दिखलाओ।" अन्त में दोनों पक्षों के टिकट इकट्ठे कर लिये जाते थे, और बहुमत का निर्णय उद्घोषित कर दिया जाता था।

वर्तमान समय में भी मत लेने की प्रायः ऐसी ही व्यवस्था है। 'कर्णोपजापकम्' नामी एक और विधि वोट लेने की थी। इसके अनुसार सभासद आकर वोट लेने वाले व्यक्ति के कानों में अपनी सम्मति बताते जाते थे, और वह गिनता जाता था, और अन्त में निर्णय सुना देता था।

उपसमिति नियुक्त करना

जिस विषय पर खुली सभा में बहुत विवाद हो उसे 'उपसमिति' या कमेटी के सपुर्द कर दिया जाता था*। कमेटी के सदस्यों का निर्वाचन उसी विधि से होता था जिस विधि से 'शलाका-ग्राहक' के निर्वाचन का वर्णन किया गया है। यदि कमेटी भी किसी निर्णय पर न पहुंच सके तो वह विषय फिर खुली सभा के सामने आता था, और उस का निर्णय बहुमत द्वारा किया जाता था। यदि कमेटी किसी निर्णय पर पहुंच जाय तो वह निर्णय स्वीकृत समझा जाता था। कमेटी में प्रत्येक पार्टी के प्रतिनिधि रखे जाते थे †।

यदि एक बार किसी विषय का नियमानुसार फैसला हो जाय तो उसे फिर सभा में पुनर्विचार के लिये न लाया जा सकता था।

यदि कोई सदस्य असम्बद्ध भाषण करे, या अनुचित शब्दों का प्रयोग करे, या निर्णीत विषय को फिर से सभा में पुनर्विचार के लिये लाने पर बल दे, तो वह निन्दनीय (पचित्तीय=liable to censure) समझा जाता था।

सभा की कार्यवाई का रिकार्ड

सभा की सारी कार्यवाई बाकायदा लिखी जाती थी। चार लेखक इस कार्य के लिये बिठाये जाते थे, जो सारे अधिवेशन में लगा-

* चुल्लवग्ग ४. ४. २०.

† देखो, जायसवाल, भाग, १ पृ० ११२.

तार उपस्थित रहते थे* ।

संघ और सभाओं की जिस प्रणाली का ऊपर वर्णन किया गया है उससे यह स्पष्ट पता लगता है कि सभाओं का कार्य कितनी उत्तम रीति से होता था। इन सभाओं के लिये कार्य-प्रणाली और विधान (Procedure) निश्चित था । प्रस्ताव, कोरम, शलाका, बहुमत, तथा उपसमितियों की रचना आदि से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनका विधान कितना पूर्ण था। यह सारा विधान अवश्य ही बहुत देर के अनुभव और परीक्षणों के बाद निश्चित हुआ होगा ।

जनसाधारण की सम्मति

एक जातक में एक नगर के लिये राजा के निर्वाचन का वर्णन है। उसमें लिखा है कि सब मन्त्रियों और 'नागर' लोगों (राज्य के नागरिकों) ने वोट देकर सर्वसम्मति से अपना राजा चुना। एक और स्थान पर "सकल नगर छन्दक" अर्थात सारे नगर के वोट (Referendum) का वर्णन है। जातकों से यह भी पता लगता है कि युद्ध के समय से पहले राजनीतिक सभाओं में प्रस्ताव उपस्थित करने की उपर्युक्त विधि प्रचलित थी। इसका वर्णन एक मनोरञ्जक कहानी द्वारा किया गया है। "पक्षी लोग अपना राजा चुन रहे थे। एक पक्षी ने राजा का प्रस्ताव उपस्थित किया। जब वह अपने प्रस्ताव को दो बार दुहरा चुका तो एक पक्षी ने कहा, 'ठहरो, मैं इस प्रस्ताव के विरोध में बोलना चाहता हूँ'। सभा ने प्रस्ताव के विरोध में बोलने की

* देखिये, हिन्दू पालिटी, भाग १ पृ. ११४.

इस शर्त पर अनुमति दी कि वक्ता वैय्यक्तिक बातों में न जाकर प्रस्ताव के विरोध में केवल राजनीतिक कारण ही बतलायगा*।

पौर जानपद

राजतन्त्र राष्ट्रों में "जानपद" या 'राष्ट्र-सभा' तथा 'पौर' 'नगर सभा' का उल्लेख मिलता है। 'पौर' और 'जानपद' सभाओं के नाम प्रायः साथ साथ आते हैं। राजा के लिये इन से सलाह लेना तथा इन्हें प्रसन्न रखना आवश्यक होता था। इनकी स्वीकृति के बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता था। 'जानपद' सभा सिक्कों का भी निरीक्षण करती थी†। ये लोग किसी राजपुत्र को राजा बनने से रोक सकते थे। प्रतीप के पुत्र 'देवापि' के राज्याभिषेक को "पौर जानपदों" ने रोक दिया था, इस का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। 'पौर जानपद' राजा को राज्यच्युत कर सकते थे। मन्त्रिपरिषद् (मन्त्रिमण्डल) में जो प्रस्ताव निश्चित होते उन्हें "राष्ट्रीय" अर्थात "राष्ट्र सभा' या जानपद के प्रधान के द्वारा 'राष्ट्रसभा' में विचारार्थ भेजा जाता था‡।

श्रीयुत जायसवाल के मतानुसार पौर और जानपद नियमानुसार स्थापित सारे राष्ट्र की "राष्ट्रसभा" थी। राजसभाओं की कार्यप्रणाली और अधिकारों के सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु यहां हमने संक्षेप से मुख्य

* देखिये, हिन्दू पालिटी, भाग 1, पृ. 116.

† देखिये, हिन्दू पालिटी, भाग २ पृ. ७६।

‡ वही, भाग २ पृ. ८२।

मुख्य बातों का ही ज़िक्र किया है। इतने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू राज्यप्रणाली में राजसभाओं का कितना महत्व समझा जाता था, राजसभाओं को कितने अधिकार प्राप्त थे, और जनता की सम्मति का कितना आदर किया जाता था।

(३)

मंत्रियों की व्यवस्था

हिन्दुशास्त्रों में मन्त्रियों के निर्वाचन के सम्बन्ध में बहुत विस्तारपूर्वक उपदेश दिये गये हैं। अधिक ज़ोर इस बात पर दिया गया है कि निर्वाचित व्यक्ति बहुत शुद्धाचारी और पुण्य-प्रकृति वाले होने चाहिये। अर्थशास्त्र का आगे लिखा उद्धरण उदाहरणार्थ उपस्थित किया जाता है :—

"मन्त्री वह होना चाहिए जो उसी देश का रहने वाला हो, कुलीन हो, प्रभावशाली हो, कला और साहित्य में निपुण हो, बुद्धिमान और समझदार हो, अच्छी स्मरणशक्ति रखता हो, योग्य हो, अच्छा वक्ता हो, सूक्ष्मदर्शी हो, सहनशील हो, ठाट-बाटवाला हो, पवित्र आचरणवाला हो, राजभक्त हो, बलवान, नीरोग, और साहसी हो, जो अधीर और विक्रमहीन न हो, जिसके स्वभाव में प्रेम हो, और जो अनर्थ-से रहित हो।"

यह स्पष्ट है कि यह बहुत उत्तम और अत्युच्च आदर्श है। केवल पूर्ण मनुष्यों में ही इस प्रकार के गुण मिल सकते हैं। विष्णुसूत्रों का प्रमाण देते हुए अर्थशास्त्र का रचयिता यह भी लिखता है कि ऐसे व्यक्तियों को मंत्री नियुक्त करना

चाहिये, जो अकुटिल हों, लोभी न हों, और सावधान हों। इसी प्रकार महाभारत और अन्य शास्त्रों में भी मंत्री का निर्वाचन करने के लिये सविस्तर उपदेश दिये गये हैं। ये उसी प्रकार के सद्गुण हैं जैसे यूनान के तत्त्ववेत्ता अफलातून ने अपनी "रीपब्लिक" नाम की पुस्तक में वर्णन किये हैं, और अरस्तू ने अपनी राजनीति में लिखे हैं। यूनानी दूत मैगस्थनीज़ चन्द्रगुप्त के राजत्वकाल के विषय में लिखता है कि "मन्त्रियों का निर्वाचन सामान्यतः ब्राह्मण विद्वानों में से किया जाता है।" वह लिखता है कि "संख्या की दृष्टि से यह जन-समाज बहुत परिमित है, परन्तु उच्चकोटिकी बुद्धिमत्ता और न्याय के गुणों से अलंकृत है। इसीलिये उसको यह अधिकार है कि गवर्नर, प्रान्तों के उच्च पदाधिकारी, डिपुटी गवर्नर, कोषाध्यक्ष, स्थल सेनापति, सागर-सेनापति, कंट्रोलर और कमिश्नरों की नियुक्ति करे।"

मन्त्री कितने होने चाहिये, इस पर भी बहुत कुछ विचार किया गया है। चाणक्य की सम्मति में मंत्री केवल तीन या चार होने चाहिये। मनुस्मृति में सात या आठ की संख्या नियत की गयी है। *'नीति-वाक्यमृत' में तीन, या पांच या सात* की संख्या लिखी है। शुक्रनीति में दस मुख्य मंत्री इस प्रकार वर्णित हैं:—

(पहला) पुरोहित, (दूसरा) प्रतिनिधि, (तीसरा) प्रधान, (चौथा) सचिव, (पांचवां) मंत्री, (छठवां) प्राड्-विवाक अर्थात चीफ जज, (सातवां) पण्डित अर्थात कानूनी मंत्री, (आठवां) सुमन्त्रक अर्थात युद्ध-मन्त्री, (नवां) अमात्य

अर्थात स्टेट सेक्रेटरी, (दसवां) दूत।

'मिलिन्द न्याय' में राज्य के छः उच्च पदाधिकारियों का उल्लेख है। उन में से 'प्रधान' अर्थात महामन्त्री सब से उच्च कोटि का गिना जाता था। परन्तु पुरोहित भी अत्युच्च स्थान रखता था। चाणक्य ने राजा का यह कर्त्तव्य ठहराया है कि वह पुरोहित की आज्ञाओं का उसी प्रकार पालन करे जैसे पुत्र पिता की या सेवक स्वामी की आज्ञा मानता है। नीतिवाक्यामृत में प्रधान को राजा का पिता, पुरोहित को उसकी माता कहा गया है। इन मंत्रियों के अतिरिक्त अर्थ-सचिव और कोषाध्यक्ष का भी बहुत उच्च स्थान था। अर्थसचिव या कलक्टर जनरल का काम यह था, कि वह नगदी, बहुमूल्य पत्थरों, सोना-चांदी और अन्य आभूषणों की रक्षा करे, और राज्य-सम्पत्ति या राजकीय कोष में किसी प्रकार का गोलमाल या गबन न होने दे। युद्ध और शान्ति के मन्त्री का काम था कि वह दूसरे राष्ट्रों से पत्र व्यवहार करके परराष्ट्र-नीति का निरीक्षण करे। हिन्दु-शास्त्रों में सेना के अधिकारियों को मन्त्री बनाने का निषेध है। पर कुछ शास्त्रों में सेनापतिको इस बंधन से अपवाद स्वरूप रखा गया है। शुक्रनीति और नीतिवाक्यामृत में उसका नाम मंत्रियों की सूची से बाहर रखा गया है। कभी कभी एक पृथक मन्त्री राजकीय मुद्रा के अध्यक्ष के रूप में नियत किया जाता था। इस कारण से उसका पद बड़े गौरव और महत्त्व का समझा जाता था।

प्रत्येक मंत्री अपने अपने विभाग का ज़िम्मेदार था, और सारे मंत्री मिलकर सम्मिलित रूप से राज्य के प्रबंध के उत्तर-

दाता थे। चाणक्य मंत्रीपरिषद में, जिसको आजकल के-विनट कहते हैं, और अमात्यमंडल जिसे आज कल मन्त्रि-मंडल या मिनिस्ट्री कहते हैं, भेद करता है, वह इन दोनों सभाओं को पृथक पृथक बताता है।

मंत्रियों का उत्तरदायित्व

मंत्री अपने अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिये न केवल राजा के सामने, वरन जनता के सामने उत्तरदाता समझे जाते थे। हिन्दू-इतिहास में अनेक ऐसी घटनाएं आती हैं कि मंत्रियों ने राजा की आज्ञा नहीं मानी, और यह कह दिया कि वह आज्ञा राज्य या प्रजा के लाभ के लिये न थी। कई स्थानों पर यह लेख मिलता है कि राजा की भूल की जवाबदेही मंत्री पर है। ह्यूनसाङ्ग लिखता है कि सरस्वती (?) के राजा विक्रमादित्य ने आज्ञा दी कि उसके कोष से पांच लाख स्वर्ण-मुद्राएं दरिद्रों और दीनों को प्रति दिन बांटी जायं। इस पर कोषाध्यक्ष ने राजा से यह कहा कि "ऐसा करने से आपका कोष रिक्त हो जायगा, और नये कर लगाने पड़ेंगे, जिससे प्रजा में असन्तोष फैलेगा। आपके दान की लोग प्रशंसा करेंगे परन्तु मेरा अपमान होगा।" इसी प्रकार अशोक के मन्त्री के सम्बन्ध में एक कहानी है। रुद्रदामन के मन्त्रियों ने भी सुदर्शन झील की मरम्मत के लिये खर्च की स्वीकृति देने से इनकार कर दिया। राज्यवर्धन की हत्या हो चुकने के पश्चात उसके मंत्रियों ने स्वीकार किया कि उसकी हत्या का उत्तरदायित्व उनके ऊपर है, क्योंकि उन्होंने राजा को शत्रु के शिविर में जाने से न रोका।

मन्त्रिमण्डल में मन्त्री और प्रधानमन्त्री उसे ही चुना जाता था जिस पर "राष्ट्रसभा" (पौर जानपद) को पूरा

विश्वास हो*। जब तक वे 'राष्ट्रसभा' के विश्वासपात्र रहें तभी तक वे अपने पद पर रह सकते थे।

मन्त्रियों के लिये यह भी आवश्यक था कि वे राजा को ऐसे कामों से रोक सकें जिन से देश की हानि होती है। शुक्रनीति में लिखा है कि "जिन मन्त्रियोंसे राजा डरता नहीं वे राज्य का क्या भला करेंगे। वे तो केवल उन औरतों की तरह हैं जिन्हें बहुत से गहने पहना दिये गये हैं।"

प्रधानमन्त्री का स्थान

प्रधानमन्त्री का स्थान राजा से उतर कर सब से ऊंचा गिना जाता था। भारद्वाज तो राजा की तुलना में भी प्रधानमन्त्री को अधिक उच्च स्थान देता है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि राजाओं की तरह मन्त्री भी सादा जीवन व्यतीत करते थे। चाणक्य ने लिखा है कि किसी मन्त्री को विलासिता का जीवन व्यतीत न करना चाहिये। चाणक्य स्वयं भी बड़ा सादा जीवन व्यतीत करता था। मुद्राराक्षस में लिखा है कि चाणक्य पुराने गिरे हुए झोंपड़े में रहता था। भारत के इतिहास में ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जहां प्रधानमन्त्रियों ने अपने कर्तव्यों का पालन करने में अत्यन्त जोखम के काम किये।

मन्त्रि-परिषद्

मन्त्रि-परिषद् मन्त्रियों की कौंसिल का नाम था। इस के सदस्यों की संख्या भिन्न

---

* देखिये, महाभारत, शान्ति०, ८३, ४५-४६
"तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डम धित्सता नृप।
पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः।"

भिन्न शास्त्रकारों ने भिन्न भिन्न लिखी है। वृहस्पति-सम्प्रदाय के सूत्रकार लिखते हैं कि मन्त्रि-परिषद के सभासद सोलह होने चाहिये। औशनस सम्प्रदायवाले उनकी संख्या बीस नियत करते हैं। मनुस्मृति में बारह संख्या दी गयी है। चाणक्य ने कोई विशेष संख्या नियत नहीं की, परन्तु यह सम्मति प्रकट की है कि संख्या पर्याप्त होनी चाहिये। राज्य के समस्त महत्व-पूर्ण प्रश्नों का निश्चय इस परिषद में होता था, और मतभेद की अवस्था में बहुमत से निर्णय किया जाता था। यही परिषद कभी स्वयं और कभी सर्वसाधारण की स्वीकृति से राजाओं के गद्दी पर बैठने के सम्बन्ध में निश्चय करती थी तथा नवीन राजा का निर्वाचन करती थी।

मन्त्रिमंडल की कार्य्यशैली

शुक्रनीति में मन्त्रिमंडल की कार्यशैली का विस्तार से वर्णन है। सारा काम लिखित होता था। प्रस्ताव को देखकर पहले मन्त्री, न्यायाधीश, कानून मन्त्री, और पराराष्ट्र सचिव उस पर यह लिख देते थे, "हमें इस में कोई विरोध नहीं", अर्थात उनके शासनविभाग को इस में कोई आपत्ति नहीं। इसके बाद लगान और कृषि-सचिव के पास वह प्रस्ताव जाता था; और यदि उसे स्वीकृत हो तो वह लिख देता था, "प्रस्ताव ठीक है"; प्रतिनिधि लिखता था "स्वीकार करने योग्य है।" युवराज लिखता था, "स्वीकार कर लेना चाहिये"। पुरोहित लिखता था, "यह लेख मेरे अनुकूल है"। इस प्रकार हर एक मन्त्री लिख कर अपनी अपनी मुहर साथ लगा देता था। अन्त में वह प्रस्ताव राजा के पास जाता था, और वह लिख देता था, "स्वीकृत" और अपनी मुहर लगा देता था।

पूर्ण शासनप्रणाली" के उसी सिद्धान्त पर पहुंचते हैं, जिस का इस समय हमारे देश में अभाव है, और जिस के लिये हमारे राजनीतिक नेता इतनी देर से प्रयत्न कर रहे हैं। यह दुख का विषय है कि अंग्रेज़ शासक यह समझते हैं कि भारतवासियों में अपना शासनविधान बनाने की न कभी बुद्धि थी, और न अब है, और प्रत्येक बात पर वह कहने लगते हैं कि भारतवासियों ने हमारी नकल करली है।

अधीनस्थ विभाग

प्राचीन समय में राज्यप्रबन्ध बहुत उत्तम रीति से होता था। भिन्न भिन्न कार्यों के लिये अलग अलग विभाग (Departments) बने हुए थे। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में इकतीस प्रबन्ध सम्बन्धी विभागों का वर्णन है। ये विभाग अमात्यों के अधीन थे। कौटिल्य ने अठारह अमात्यों का वर्णन किया है। (आवश्यकतानुसार ज्यादा अमात्य भी हो सकते थे) हर एक अमात्य के पास एक या एक से ज्यादा विभागों का प्रबन्ध था। अमात्यों की परिषद् (Ministry) मिलकर प्रबन्ध सम्बन्धी साधारण नीति पर विचार करती थी। इन्हीं अमात्यों में से कुछ ज्यादा योग्य व्यक्ति "मन्त्रिपरिषद्" या मन्त्रिमंडल (Cabinet) के लिये चुने जाते थे। अमात्यों के नीचे हर एक विभाग का एक एक अध्यक्ष था। उपर्युक्त इकतीस विभाग निम्नलिखित थे।

(१) भूमिकर इकट्ठा करने का विभाग 'समाहर्ता' के अधीन था। भूमि का माप तथा हर प्रकार का भूमि संबन्धी रिकार्ड रखना इस विभाग का काम था। कौन सी भूमि किस प्रकार की है, किस पर कितनी फसल होती है, किस किस तरह जोती

और बोयी जाती है, पानी का क्या प्रबन्ध है, कौन सी भूमि किसकी मिलकियत है, भूमि के क्रय विक्रय, इन सब बातों का रिकार्ड रखा जाता था। इसके सिवाय इस विभाग का यह भी काम था कि वह ग्रामों तथा नगरों की सीमा, उस में घरों की संख्या, प्रत्येक घर के निवासियों की संख्या—मर्द, औरतों और बच्चों की संख्या-उनकी जाति, पेशा, उनके पशुओं की संख्या, उनकी सम्पत्ति और हैसियत, इन सब बातों का भी लिखित रिकार्ड रखे* ।

(२) दूसरा विभाग 'सन्निधाता' का था। इस का काम राज्य की आय को खजाने में जमा करना, और उसका हिसाब रखना था।

(३) तीसरा विभाग 'अक्षपटल' का था। इस विभाग का काम राज्य के आय व्यय के हिसाब की जांच पड़ताल (Audit) करना था। सारा हिसाब बाकायदा रजिस्टरों में चढ़ाया जाता था। अर्थशास्त्र में यह भी लिखा है कि आषाढ़ मास में प्रत्येक विभाग के हिसाब जांच पड़ताल के लिये इस विभाग के मुख्य दफ्तर (अक्षपटल) में पहुंच जाने चाहिये। हिसाब के सारे कागज़ों पर बाकायदा भिन्न भिन्न विभागों की मुहर और 'मुद्रा, (Seal) होनी चाहिये। जांच पड़ताल का यह दफ्तर वह कार्य भी करता था जो आजकल क्लियरेंस (Clearance) आफ़िस का होता है। साल के बीच में भी इस विभाग के आयव्यय-

* अर्थशास्त्र, २. ३५.

(१४) 'मानाध्यक्ष' समय का हिसाब रखता था। प्राचीन समय के ज्योतिषी काल का ठीक हिसाब रखते थे। शुक्रनीति में 'जलघड़ी' (घटिका यन्त्र) का उल्लेख है, जिससे ठीक ठीक समय मालूम होता था। राज्य की तरफ से प्रामाणिक समय (Standard Time) भी निश्चित होता था।

(१५) 'शुल्काध्यक्ष' चुंगी इकट्ठा कराने का प्रबन्ध रखता था।

(१६) 'सूत्राध्यक्ष' कपड़े बुनने के कारखाने (factories) का निरीक्षण करता था। सम्भवतः राज्य की तरफ से वह कपड़ा सेना तथा राज्य की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तैयार कराया जाता था।

(१७) 'कृषि विभाग' 'सीताध्यक्ष' के नीचे था।

(१८) 'सुराध्यक्ष' के विभाग का काम शराब बनाने, शराब की बिक्री, तथा शराब की दुकानों का निरीक्षण और नियन्त्रण करना था।

(१९) 'सूनाध्यक्ष' का विभाग कसाइखानों का निरीक्षण करता था।

(२०) 'गणिकाध्यक्ष' वेश्याघरों का नियन्त्रण और निरीक्षण करता था।

(२१) 'नावाध्यक्ष'–नौ सेना के जहाज़ों, व्यापारिक जहाज़ों तथा नदियों पर नौकाओं आदि का प्रबन्ध करता था।

(२२) 'गोऽध्यक्ष'- राज्य के गौ मवेशीका,

(२३) 'अश्वाध्यक्ष'–अस्तबलका, तथा,

(२४) 'हस्त्यध्यक्ष' राजा के हाथियों का सब प्रबन्ध करते थे।

(२५) 'रथाध्यक्ष'—रथों तथा रथ-सेना के प्रबन्ध के लिये, और—

(२६) 'पत्यध्यक्ष' पैदल सेना के प्रबन्ध के लिये थे।

संख्या २१ से २६ तक के सब विभाग सेनाविभाग के थे, और स्वभावतः सेनापति के नियन्त्रण में होंगे। आयुधागाराध्यक्ष भी सेना-विभाग में ही था।

(२७) 'मुद्राध्यक्ष' का काम 'पासपोर्टों' का देना तथा विदेशियों के पासपोर्टों का निरीक्षण करना था। समुद्र या स्थलमार्ग से जाने के समय 'मुद्रा' या पासपोर्ट लेना आवश्यक था, और बिना 'मुद्रा' देखे इन मार्गों से किसी को आने न दिया जाता था।

(२८) चरागाहों के प्रबन्ध करने के लिये भी अलग विभाग था।

इसी प्रकार बंजर ज़मीनों के प्रबन्ध के लिये, व्यापारिक श्रेणियों (Guilds) के निरीक्षण के लिये, तथा बाज़ार की दुकानों के निरीक्षण के लिये तीन और विभाग थे।

ये सब विभाग राज्य के प्रबन्ध के लिये थे। शान्तिरक्षा का काम 'समाहर्ता' के अधीन था, और पुलिस और गुप्तचरों को भी वह नियुक्त करता था।

मेगस्थनीज़ ने भी उस समय राज्यप्रबन्ध के लिये भिन्न भिन्न विभागों का उल्लेख किया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि आजकल जो विभाग हैं, और उन के पास जो

जो कार्य हैं वे आजकल की आवश्यकता के अनुसार हैं। उस समय के विभाग उस समय की आवश्यकता के अनुसार थे। इस लिये उन्हें आजकल के विभागों (departments) के साथ मिलाना नहीं चाहिये। यद्यपि ये आपस में बहुत मिलते हैं।

इन विभागों में हर एक राज्यकर्मचारी को राज्य की ओर से निश्चित मान (Scale) के अनुसार वेतन मिलता था। चाणक्य ने वेतनों का मान भी लिखा है जो नीचे दिया जाता है:—

(१) गुरु, पुरोहित, महामन्त्री, सेनापति, युवराज, राज माता, महारानी, इन में से प्रत्येक को अड़तालीस सहस्र पण वार्षिक।

(२) दौवारिक, अन्तः पुर का अध्यक्ष, प्रशास्ता, समाहर्ता, और सन्निधाता को चौबीस सहस्र पण,

(३) दूसरे राजकुमार और राजकुमारों की माताएं, विभागों के उच्चपदाधिकारी, मन्त्रिपरिषद् के सदस्य, पुलिस के बड़े अफ़सर, हदबंदी के उच्चपदाधिकारी बारह सहस्र पण वार्षिक।

(४) कारखानों के अफ़सर, हाथियों और घोड़ों के अध्यक्ष और निरीक्षक आठ सहस्र पण वार्षिक।

(५) पलटन, अश्वारोही सेना तथा गाड़ियों के अधिष्ठाता, और वनों के अफ़सर चार सहस्र पण वार्षिक।

(६) हिसाब रखने वाले गणक, लेखक, आदि को पांचसौ पण।

(७) मुख्य डाक्टर और सर्जन को दो हज़ार पण वार्षिक।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः सब अधिकारियों की तनखाह बहुत बड़ी बड़ी रखी गयी थी, जिससे रिश्वतखोरी के लिये कोई कारण न रहे। (एक 'पण' लगभग बारह आने के बराबर होता था)।

एक विशेष काल के पश्चात राजकर्मचारियों को पैंशन मिल सकती थीं। जब कोई कर्मचारी सरकारी नौकरी में मर जाता था तो उसके परिवार का पालन राजकीय कोश से होता था।

(४)

न्याय प्रबन्ध

कानूनों का बनाना

हिन्दू काल में राज्य को कानून बनाने का खुला अधिकार न था। हिन्दू कानून का आधार—जैसा कि गौतम ऋषि ने लिखा है—"वेद, स्मृति और वेद जानने वाले धर्मात्मा पुरुषों का आचार" समझा जाता था। इसके अतिरिक्त गौतम ने यह भी लिखा है कि पुराण, देश की प्रथाएं, कुलधर्म या खास खास कुलों की प्रथाएं, किसानों, व्यापारियों, गडरियों, साहूकारों और शिल्पियों की भिन्न भिन्न प्रथाएं, और उनकी श्रेणियों (Guilds) के व्यावहारिक कानून ये सब भी जहां धर्म और सामान्य आचार के सिद्धान्तों के विरोधी न हों, वहां मान्य समझे जाने चाहिये। वेद को सारे कानून-शास्त्र का आधार समझा जाता था। क्यूंकि यह माना जाता था कि वेद में धर्म और आचारशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त बताये गये हैं। प्रथाएं और रीतिरिवाज देश काल के अनुसार धीरे धीरे बदलते रहते हैं, परन्तु राज्य को

उन्हें सहसा बदल डालने का अधिकार न था। वैदिक आज्ञाओं और लोकाचार और रीति रिवाजों को मिलाकर भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न स्मृतियों की रचना की गयी। उन्हीं के आधार पर हिन्दुओं का कानूनी भवन खड़ा हुआ। आरम्भ में ये स्मृतियां सूत्ररूप में लिखी गयीं। इन सूत्रों के आधार पर धर्मशास्त्र बनाये गये। इन धर्मशास्त्रों पर भी भिन्न भिन्न विद्वान अपनी टीकाएं और व्याख्याएं लिखते रहे, और पुराने कानूनों और नियमों की अपने समय के अनुसार नयी व्याख्याएं करते रहे। नयी स्मृतियां भी लिखी जाती रहीं। याज्ञवल्क्य में निम्न लिखित स्मृतियों का उल्लेख है:—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, औशनस, आङ्गिरस, यम, आपस्तम्ब, सम्वर्त, कात्यायन, वृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, और वसिष्ठ। इनके अतिरिक्त नारद स्मृति आदि भी स्मृतियां हैं। इस समय इनमें से कुछ स्मृतियां उपलब्ध नहीं होतीं। पौराणिक काल में मिताक्षरा, दायभाग आदि पुस्तकें संकलित हुईं।

इन स्मृतिग्रंथों से हमें हिन्दू कानून-शास्त्र के विषय में बहुत कुछ पता लगता है। फिर भी इन कानूनों को हम प्रसिद्ध कानूनशास्त्री 'आस्टिन' की परिभाषा में कानून नहीं कह सकते। हिन्दू न्यायालय इन सब शास्त्रों और देशकाल की अवस्थाओं को देख कर अभियोगों का फैसला करते थे। शुक्र-नीति में लिखा है कि "प्राड्विवाक (चीफ जस्टिस) न्यायालय के और सभासदों के साथ मिलकर साक्षी, पुराने लेख, न्याया-लयों के पुराने फैसले, युक्ति, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान, लोकाचार और धर्मशास्त्र सब को देख कर प्रत्येक कानून पर

विचार करे, और उसके आधार पर कानून की जो व्याख्या न्यायालय के सभासदों की बहुसम्मति से * निश्चित हो वह राजा को बतलाये" । इसी प्रकार पंडित (कानूनमन्त्री या (Minister of Law) का काम था कि वह यह देखे कि 'पुराने और नवीन कानूनों में से कौन कौन से कानून लोगों में प्रचलित हैं, कौन से धर्मशास्त्र सम्मत हैं, कौन से इस समय लोगों को मान्य नहीं, इन सब का निश्चय करके तथा न्यायालयों की नयी व्याख्याओं को देख कर वह राजा को नये कानून बनाने आदि की सलाह देता रहे। इस पर पहले मन्त्रिमंडल विचार करता था, और फिर 'पौरजानपद' या राष्ट्रसभा, की स्वीकृति से उन नियमों को प्रचलित करता था।

इस प्रकार पुराने नियमों में भी धीरे धीरे आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता था। धर्मशास्त्रों के व्यापक सिद्धान्तों के आधार पर आवश्यकतानुसार और नियम बना लिये जाते थे। इन्हें 'शासन' कहते थे। उदाहरणार्थ कौटिल्य-अर्थशास्त्र में कई ऐसे कानूनों का वर्णन है। जहाज़ों और बन्दरगाहों के लिये, बाजार में वस्तुओं के क्रय विक्रय के लिये, माप तौल के मानों तथा वस्तुओं की कीमतों को नियन्त्रित करने के लिये, स्वास्थ्यरक्षा और सफाई, तथा नगरों की आग आदि से रक्षा के लिये बाकायदा कानून बने हुए थे। श्रमियों की रक्षा तथा शिल्पियों और व्यापारियों की श्रेणियों (guilds)

---

* बहुसम्मति संसिद्धान् विनिश्चित्य सभाश्रितः ।
ससभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं संबोधयेत् सदा ॥

ये सब अदालतें ऐसी थीं जिनमें एक से अधिक जज होते थे। मनुस्मृति में एक अदालत के लिये तीन जज और एक चीफ जज नियत किये गये हैं। चाणक्य के अर्थशास्त्र में छः जजों का होना आवश्यक बतलाया गया है, जिनमें से तीन धर्मस्थीय अदालत में हों और तीन कण्टक शोधन में। बृहस्पति के शास्त्र में यह भी लिखा है कि अध्यक्ष अर्थात चीफ जस्टिस को चाहिये कि तीन सदस्यों की सहायता से अभियोगों का निर्णय किया करे। शुक्रनीति में लिखा है कि राजा को कभी अकेले अदालत का काम नहीं करना चाहिये। अदालत के लिये तीन या पांच या सात जजों का होना आवश्यक बताया गया है।

अर्थशास्त्र में दो प्रकार की अदालतों का वर्णन है। एक 'धर्मस्थीय' और दूसरी 'कण्टकशोधन'। इन दोनों प्रकार की अदालतों में किस किस प्रकार के विवादों पर विचार होता था, इस की लम्बी सूचि अर्थशास्त्र में दी हुई है। इस सूचि को देखने से मालूम होता है कि धर्मस्थीय न्यायालय बहुत कुछ वह कार्य करते थे जो आजकल दीवानी अदालतों का होता है; और कण्टकशोधन न्यायालय फौजदारी अपराधों का निर्णय करते थे। धर्मस्थीय न्यायालय में तीन जज होते थे, जिन्हें धर्मस्थ या व्यावहारिक कहा जाता था। कण्टकशोधन न्यायालय में भी तीन जज होते थे। इन्हें प्रदेष्टा कहा जाता था।

न्यायालय राजा के नाम पर न्याय करते थे

सिद्धान्तरूप से ऐसा माना जाता था कि प्रत्येक न्यायालय का प्रधान राजा ही है; यद्यपि राजा सब न्यायालयों

में उपस्थित न होता था। 'निर्णयपत्र' राजा की ओर से दिया जाता था। जब किसी व्यक्ति को कचहरी में बुलाया जाता तो कानूनी तौर से यही समझा जाता था कि उसे राजा ने बुलाया है। धर्मशास्त्रों में न्याय के संबन्ध में यद्यपि राजा का नाम आता है, परन्तु कई व्याख्याकारों ने बहुत स्थानों पर उस का अर्थ "राज्य की तरफ से उस कार्य के लिये नियुक्त पदाधिकारी" किया है*।

किस प्रकार के मनुष्य जज बनाये जायं

जजों के निर्वाचन या नियुक्ति के विषय में हिन्दुशास्त्रों में उसी प्रकार के नियम मौजूद हैं जैसे कि मन्त्रियों के विषय में हैं। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य ऋषि लिखते हैं कि राजा को ऐसे जज नियुक्त करने चाहिये जो वेदों तथा अन्य विद्याओं के पूर्ण पण्डित हों, जो धर्मशास्त्र के ज्ञाता हों, जो सत्यवादी हों, और जो शत्रु और मित्र का भेद न रखें। इस प्रकार के आदेश वृहस्पति और शुक्रनीति में मौजूद हैं। नारद की स्मृति में भी सविस्तर उपदेश दिये गये हैं। न्यायसभाओं के सदस्य प्रायः ब्राह्मण होते थे, परन्तु उनमें से कुछ दूसरे वर्णों में से भी लिये जाते थे। ऊंची अदालतें नीची अदालतों के निर्णय की अपील भी सुनती थीं। साधारणतया इन अदालतों में दीवानी फौजदारी दोनों प्रकार के अभियोग सुने जाते थे।

अदालत एक खुले मकान में होती थी जहां प्रत्येक को जाने की आज्ञा थी। शुक्रनीतिकार ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि न

* देखिये 'हिन्दूपालिटी' भाग २ पृ. १५६.

राजा को और न न्यायसभा के सदस्यों को कोई अभियोग गुप्त रूप से सुनना चाहिये। सरकारी पदाधिकारियों को अभियोगों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आज्ञा न थी (सिवा उनके जिनका प्रत्यक्ष रूपसे सम्बन्ध हो) मनुस्मृति में अठारह प्रकार के अभियोगों का वर्णन है। दीवानी अभियोगों का जो विधान बनाया गया है। वह साधारणतया बहुत अंशतक आज-कल के प्रचलित दीवानी जावते से मिलता जुलता है। उसमें अरजीदावा, जवाबदावा, साक्षी की सुनवाई, वादविवाद और निर्णय के सम्बन्ध में सविस्तर उपदेश दिये गये हैं। छोटी अदालत के निर्णय के विरुद्ध बड़ी अदालत में अपील भी हो सकती थी। अपील को 'पुनर्न्याय' कहा जाता था। अपील की दरख़ास्त किन अवस्थाओं में मंजूर करनी चाहिये और किन में नहीं, इस सम्बन्ध में भी 'याज्ञवल्क्य' आदि ने विस्तृत नियम बतलाये हैं।

नारदस्मृति में यह भी लिखा है कि यदि कोई प्रतिवादी भाग जाने की चेष्टा करे तो वादी को उसे गिरफ्तार करके अदालत में पेश करने का अधिकार था। परन्तु आगे लिखे व्यक्तियों को गिरफ्तार नहीं किया जाता;

(१) दुलहा।
(२) रोगी।
(३) जो यज्ञ में लगा हुआ हो।
(४) विपत्ति ग्रस्त।
(५) किसी दूसरे अभियोग का दोषी।
(६) राज्य का पदाधिकारी।

(७) गड़ेरिया।

(८) कृषिकार जो खेती के काम में रत हो।

(९) कारीगर जो अपने व्यवसाय में निमग्न हो।

(१०) अप्राप्त वयस्क।

(११) दूत।

(१२) जो व्यक्ति दान करने में लगा हो।

(१३) जो व्यक्ति किसी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर रहा हो।

(१४) जो कठिनाइयों में फंसा हुआ हो।

इसी प्रकार अभियोगों को सुनने के सम्बन्ध में, और इनके अतिरिक्त साक्षियों के सम्बन्ध में, अर्थात साक्षी किस प्रकार के होने चाहिये, किस प्रकार के आवेदन (बयान) लिये जावें, और किस प्रकार उनको शपथ दी जावे, शास्त्रों में सविस्तर उपदेश लिखे हुए हैं।

लिखित साक्षी का वर्णन करते हुए शास्त्रकार तीन प्रकार के निदर्शन-पत्रों का उल्लेख करता है :—

(१) वे जिन पर राजकर्मचारियों की सही हो, जैसा कि आजकल रजिस्टरी-विभाग में होता है।

(२) वे जिन पर प्राइवेट (निजी) साक्षियों की सही हो।

(३) वे जिन पर किसी की सही न हो।

मिथ्या साक्षी देनेवाले के लिये घोर दण्ड नियत थे। प्रतीत होता है कि अदालतों में झूठी गवाही बहुत कम गुजरती थी। मेगस्थनीज़ ने यह साक्षी दी है कि उसके अनुभव में यहां के अधिवासी प्रायः झूठ न बोलते थे। नारद-स्मृति में यह आज्ञा है कि निर्णय हो जाने पर निर्णय की एक

प्रति जीतनेवाले पक्ष को दी जाय। शुक्रनीति और नारद-स्मृति दोनों से मालूम होता है कि अभियोगों में मुख्तारों और कानून-पेशा लोगों को विवाद करने की आज्ञा थी।

अदालतों के कार्यविवरण का रिकार्ड

अदालतों की सारी कार्यवाई का बाकायदा लिखित रिकार्ड रखा जाता था। जातकों में इन्हें 'विनिश्चय पुस्तक' कहा जाता था। हर एक फैसले का भी रिकार्ड रखा जाता था।

'जूरी' द्वारा अभियोगों का निर्णय

अभियोगों का निर्णय 'जूरी' द्वारा होता था। तीन, पांच, या सात जूरी नियत किये जाते थे*। पाली ग्रन्थों में जूरी को उब्बाहिक लिखा है।

चीनी पर्यटक फाहियान, सुङ्गयुन और ह्यूनसाङ्ग जो ईसा के संवत् की पहली शताब्दियों में भिन्न भिन्न समयों में आये, तीनों इस बात को प्रमाणित करते हैं कि घोर से घोर फौजदारी अभियोगों में मृत्युदण्ड न दिया जाता था; यद्यपि धर्मशास्त्रों में मृत्युदण्ड का उल्लेख है।

न्यायाधीशों को न्याय किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय में हिन्दूधर्मशास्त्रों में बहुत से सविस्तर उपदेश लिखे हैं। उन में अत्याचार और अन्याय करने की दशा में अधिकारियों को दण्डनीय ठहराया गया है। चाणक्य ने यह भी लिखा है कि यदि कोई अदालत का अधिकारी किसी मुकदमे

* देखिये, 'हिन्दू पालिटी' भाग २ पृ. १२४. तथा 'सरकार' 'पोलिटिकल थ्योरीज़ पृ. ८१.

वाले को धमकाये, या चिढ़ाये, या उसे बोलने से रोके, या उसे अदालत से बाहर जाने पर विवश करे, तो उसे जुर्माना किया जावे। इसी प्रकार यदि कोई अदालत का अधिकारी किसी मुकदमेवाले का अपमान करे, अथवा प्रश्न पूछने में अनुचित रीति का अवलम्बन करे, अथवा किसी साक्षी को पढ़ावे, अथवा अनुचित रूप से किसी मुकदमे के सुनने में विलम्ब करे, अथवा इसी प्रकार कोई और अनुचित चेष्टा करे, तो जुर्माने के अतिरिक्त उसको अपने पद से पृथक कर दिया जावे। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में उन जजों के लिये दण्ड नियत है जो मोह या लालच या भय से कानून के विरुद्ध निर्णय दें। जहां जजों पर इस प्रकार की सख्तियां लगायी गयी थीं, वहां इसके साथ ही उनको एग्ज़ेक्टिव गवर्नमेंट के अनुचित प्रभाव से बचाया गया था।

पक्षपात छोड़ कर पूर्ण न्याय करने पर बहुत बल दिया गया है। न्याय में शत्रु, मित्र, पुत्रादि किसी की परवाह न करनी चाहिये। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है। "राजा का यह कर्तव्य है कि वह अपराध के अनुसार चाहे पुत्र हो या शत्रु पक्षपात रहित होकर न्याययुक्त दण्ड दे।" और सब शास्त्रों में भी इस बात पर बड़ा बल दिया गया है। हिन्दू राजनीतिशास्त्रज्ञों का यह भी विचार था कि बिना अपराध किसी को दण्ड न मिलना चाहिये। कहीं कहीं तो इसी के लिये अदालतों के छः दर्जे नियत किये गये थे, जिनमें से प्रत्येक अदालत दोषी को छोड़ सकती थी, परन्तु दण्ड देने का अधिकार किसी एक को न था। जब छहों दर्जे दण्ड का समर्थन करते थे तभी दण्ड मिलता था। ('बुधिस्ट इंडिया' पृ. १४८)

मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि इस देश में चोरी बहुत कम होती है। अभियोग बहुत कम होते हैं। रहन या निक्षेपों के सम्बन्ध में कोई अभियोग नहीं होते, और न उन पर छाप लगाने या साक्षी कराने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि लोगों को एक दूसरे पर पूर्ण विश्वास है। ये लोग अपने घरों और अपनी सम्पत्ति को प्रायः अरक्षित छोड़ जाते हैं।

मैगस्थनीज़ के भारतप्रवास के लगभग एक सहस्र वर्ष पीछे चीनी यात्री ह्यूनसाङ्ग इस देश में आया। उसकी साक्षी आगे दी जाती है:—

"इस देश के सर्वसाधारण निवासी यद्यपि हंसमुख हैं, परन्तु अतीव सत्यवादी और सत्यकर्म्मी हैं। रुपये पैसे के मामलों में वे एक दूसरे के साथ धोखा नहीं करते। न्याय करने में वे बहुत सावधान हैं। वे दूसरे जन्म से डरते हैं, और इस संसार के नश्वर पदार्थों की कुछ परवाह नहीं करते। वे अपने कर्म्म से कपटी और विश्वासघातक नहीं। वे अपनी शपथों और वचनों के पक्के हैं। उनकी शासनपद्धति में विचित्र प्रकार की सादगी और सफाई है। उनके वर्ताव में अत्यन्त सज्जनता और माधुर्य है"।

मुसलमान पर्यटकों और ऐतिहासिकों ने भी इस बात का समर्थन किया है, और स्थल स्थलपर हिन्दुओं की सत्यवादिता और निष्कपटता की प्रशंसा की है। इस पुस्तक के दूसरे भाग में हम उन उद्धरणों को नकल करेंगे।

(५)

राष्ट्रीय आयव्यय और कोष का प्रबन्ध

कौटिल्य अर्थशास्त्र और शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में राष्ट्र के आर्थिक प्रबन्ध (Financial administration) के लिये बड़े विस्तार से नियम दिये हुए हैं। राष्ट्र के आय व्यय का नियम पूर्वक हिसाब रखा जाता था, और हिसाब की जांच पड़ताल के लिये निरीक्षक नियुक्त थे।

कर लगाने के सिद्धान्त

हिन्दू राजनीतिशास्त्रों में प्रजा पर कर लगाने के निम्नलिखित सिद्धान्त बतलाये गये हैं:—

(१) राजा को चाहिये कि 'कर' इस प्रकार से न बिठाये जिस से प्रजा और राज्य को हानि हो। कर इस प्रकार से लगाने चाहिये कि लोग आगे भी करों का बोझ उठाने में समर्थ रहें, बल्कि आगे ज्यादा ज्यादा बोझ उठा सकें। जिस प्रकार गाय को बहुत निर्दयता से दुहा जाय तो वह दूध देना बन्द कर देती है, इसी प्रकार राष्ट्र को ज्यादा दुहा जाय तो वह निर्बल हो जाता है, और कोई बड़ा काम नहीं कर सकता*। बहुत कर वसूल करने वाले राजा से प्रजाएं द्वेष करने लगती हैं। एक और स्थान पर कहा गया है कि "जैसे शहद की मक्खी फूलों से थोड़ा थोड़ा रस इकट्ठा करती है, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा थोड़ा कर वसूल करना चाहिये।" "कर लगाते समय यह विचार कर लेना चाहिये कि कर कहां

* महा, ८७, २०-२१—"राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्"।

लगाना है, किस समय लगाना ठीक है, और किस रूप में लगाना ठीक है।

(२) शिल्पियों और शिल्पों पर कर लगाते समय पहले यह निश्चय करना चाहिये कि वस्तु की उत्पत्ति कितनी हुई है, उस पर कितना 'श्रम' खर्च हुआ है, श्रमी को उस पर कितनी पूंजी लगानी पड़ी है, कितना खर्च करना पड़ा है, (cost of production) और कितना समय लगाना पड़ा है। इसके बाद यह निश्चय करना चाहिये कि उस वस्तु से कितना लाभ होने की आशा है, और लाभ का कितना हिस्सा शिल्पी के पास बचा रहने से वह आगे उस शिल्प में लगा रहेगा। क्योंकि यदि लाभ का बड़ा हिस्सा राज्य 'कर' के रूप में ले लेगा तो शिल्पी को आगे उस काम में लगा रहने के लिये कोई उत्साह न होगा। कर ऐसा निश्चत करना चाहिये जिस से शिल्पियों और राज्य दोनों को लाभ हो *।

(३) आयात और निर्यात वस्तुओं पर कर लगाते समय ये बातें ध्यान में रखनी चाहियें; वस्तुओं की बाज़ार में कीमत (जिस कीमत पर वे बिकेंगी), उन्हें लाने के लिये लगायी हुई पूंजी, कितनी दूर से आयी हैं, लाने का खर्च, और सब मिला कर कुल खर्च, और इसके साथ लाने में जो कठिनाइयां (Risks) उठायी गयी हैं, † इन सब बातों का ख्याल

* महा० ८७, १६; १२ ३७, मनु० ७. १२६.

† मनु० ७. १२७.

विक्रयं, क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान्

कर के कर बिठाना चाहिये। जिन पदार्थों का आना राष्ट्र के लिये हानिकारक हो, या जो विलास की वस्तुएं (Luxuries) हों, उन पर ज्यादा कर बिठाना चाहिये *; परन्तु जो राष्ट्र के लिये उपयोगी चीज़ें हों उन पर से 'आयात कर' उठा लेना चाहिये। अर्थशास्त्र में निम्न लिखित वस्तुएं गिनायी गयीं हैं जिन पर 'निर्यात कर' (Export duty) लगानी चाहिये, पर आयात कर बिलकुल न लगाना चाहिये—

सब प्रकार के शस्त्र और कवच, धातुएं, रथ, अनाज, मवेशी और रत्न।

महाभारत में लिखा है कि राज्य को व्यापारियों के साथ बहुत अच्छा वर्ताव करना चाहिये, क्यूंकि देश की समृद्धि उन्हीं पर निर्भर है। इस लिये उन पर बहुत थोड़े कर लगाने चाहिये। "राष्ट्र में धनियों का बड़ा मान होना चाहिये। राजा कभी कभी उनके सम्मान में भोज दे, उन्हें खिताब दे, और उनका सम्मान करे; क्यूंकि 'धनी' लोग राज्य के बड़े उपयोगी अंग हैं।" † परन्तु कौटिल्य व्यापारियों के बहुत पक्ष में नहीं था। वह उन्हें "अचोरश्चौरः" (नाम 'चोर' न होने पर भी 'चोर') कहता है; क्यूंकि ये मनमाने दाम लगाकर लोगों को लूटते हैं। इस लिये वह इन पर कई तरह के 'कर' बिठाता है, वस्तुओं की विक्री

* अर्थश स्त्र. २. २१.

† महा०. ८८.-३०

"धनिनः पू॰येन्नित्यं पानच्छादन भोजनैः
अंगमेतन्महद्राज्ये धनिनो नाम भारत"

पर, वस्तुओं के आने जाने पर, और तोलने के बाटों पर कर थे।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह भी लिखा है कि जिस समय फसल नष्ट हो जाय, या और कोई आपत्ति आजाय उस समय किसानों को उदारतापूर्वक कर माफ कर दे। इतना ही नहीं उन्हें राज्य की तरफ़ से सस्ते सूद पर रुपया कर्ज़ मिलना चाहिये। महाभारत में इस प्रकार के कर्ज़ के लिये सूद की दर एक प्रतिशतक वार्षिक दी हुई है। (सभापर्व. अ. ५) निम्न लिखित व्यक्तियों पर कर माफ थे:—स्त्री, विद्यार्थी, अंधे, बहरे, रोगी, ब्राह्मण, सन्यासी आदि।

कर जनता की सलाह के बिना नहीं बढ़ाये जा सकते

शास्त्रकारों ने साधारण तौर से प्रत्येक वस्तु के लिये कर निश्चित किये हुए थे। 'भूमि की उपज का छठा भाग' कर के रूप में लेना उचित समझा जाता था। गौतम स्मृति के अनुसार किसानों से उपज का $\frac{1}{10}$, $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{6}$ लेना चाहिये। सोने पर $\frac{1}{50}$; व्यापार के माल पर $\frac{1}{20}$ और फल फूल, औषधियों, मधु, मांस, घास और लकड़ी पर $\frac{1}{60}$ लेना चाहिये। और शास्त्रकारों ने भी करों के भिन्न भिन्न मान दिये हैं। परन्तु यह साधारण नियम था कि राजा को सहसा कर बढ़ाने का अधिकार न था। महाभारत शांतिपर्व में लिखा है कि राजा को स्वयं न कर बढ़ाने का अधिकार है और न नये कर लगाने का। इसके लिये पौर-जानपद या 'राष्ट्र सभा' की स्वीकृति आवश्यक थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र ने 'कर ग्रहण' के लिये याचेत शब्द का प्रयोग

किया है, जिसका अर्थ है ' नम्रतापूर्वक मांग '। इतना ही नहीं विशेष अवस्थाओं में " धन की आवश्यकता बतला कर पौर-जानपदों से भिक्षा मांगे' जिस पर पौर जानपद या तो नये कर लगाने की आज्ञा दे दें; यदि देश की हालत अच्छी न हो तो वैय्यक्तिक रूप से अपनी हैसियत के अनुसार हर एक व्यक्ति राज्य को दान दें। अधिक देने वाले को राज्य की तरफ से खिताब आदि देकर सम्मानित किया जाय।" *

आय के स्रोत

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय व्यय का वार्षिक हिसाब (Balance sheet) तैय्यार करने के संबन्ध में निर्देश देते हुए आय और व्यय के भिन्न भिन्न अंगों (items) का उल्लेख किया है। कौटिल्य की परिभाषा में हिसाब के आय वाले भाग को आय शरीर और व्ययभाग (Expenditure side) को व्यय शरीर कहा गया है। यहां पर उसके आधार पर पहले आय शरीर के अंगों का वर्णन किया जाता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में सारे 'आय' को सात मुख्य भागों में बांटा गया है। इन सातों में से प्रत्येक को फिर छोटे उपविभागों (sub-heads) में बांटा गया है।

---

* अर्थ. ५.२.६०

" कार्यमादिश्य पौरजानपदान् भिक्षेत। यथोपकारं······स्थानच्छत्र वेषभूषार्चैषां.........प्रयच्छेत् "

७. 'वणिक्पथ'—इसके दो भाग थे—'स्थलपथ' और वारिपथ। 'वारिपथ' में नदियों और समुद्रों के अन्दर चलने वाली नौकाओं और जहाज़ों से होने वाली आय सम्मिलित होती थी। राज्य की ओर से भी समुद्रों में जहाज़ और नदियों में नौकायें चलायी जाती थीं*।

सामान पर (साधारण बोझ होने पर) लगभग दो पैसा महसूल लिया जाता था। इसी प्रकार पशुओं आदि पर भी महसूल लिया जाता था। नावाध्यक्ष राज्य की नौकाओं और जहाज़ों को किराये पर व्यापारियों को भी दे देता था।

इस प्रकार राजकीय आयके ये सारे विभाग थे। अर्थशास्त्र में प्रत्येक प्रकार के कर का परिमाण भी दिया हुआ है, परन्तु यहां विस्तारभय से हम उसे नहीं दे सकते। उपर्युक्त करप्रणाली का वर्णन हम ने कौटिल्य के आधार पर ही दिया है। विविध समयों में कर भी विविध प्रकार के होंगे।

राजा भूमि का स्वामी न था

भूमि करके उल्लेख के साथ साथ यह भी लिखना आवश्यक प्रतीत होता है कि राजा किसी हालत में भी भूमि का स्वामी न समझा जाता था। राज्य कृषकों से भूमि की 'लगान' वसूल नहीं करता था, किन्तु भूमि की आय पर 'कर' लेता था। मीमांसा-शास्त्र, जो प्रत्येक प्रकार के कानूनी विवादों में प्रायः अन्तिम प्रमाण समझा जाता है, हमारे इस कथन को पुष्ट करता है।

* सरकार 'हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज़' पृ. १३०. तथा अर्थ०. २. ८. ४५. "यात्रा वेतनं राजनौभिस्सम्पतन्तः"

'राजा भूमि का दान दे सकता है या नहीं' इस बात पर विचार करते हुए यह स्पष्ट कहा गया है, कि राजा को भूमि का दान करने का कोई अधिकार नहीं; क्यूंकि राजा भूमि का स्वामी नहीं, किन्तु भूमि पर बसने वाले मनुष्यों का रक्षकमात्र है। शबरस्वामी तथा नीलकण्ठ आदि भाष्यकार भी इसका समर्थन करते हैं। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ माधव ने भी लिखा है, "भूमि राजा का धन नहीं, किन्तु सारे मनुष्यों की साझी है।"* इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भूमि पर राजा का स्वत्व न माना जाता था, जैसा कि विंसेण्टस्मिथ आदि भारत में अंग्रेज़ी सरकार की नीति के समर्थक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं।

राष्ट्रीय व्यय (Public expenditure)

अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा तथा राज्याधिकारियों को राज्य के धन का उचित प्रकार से व्यय करना चाहिये। राष्ट्रीयव्यय या "व्यय शरीर" के पृथक् पृथक् अंगों (items) का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र में उतना स्पष्टरूप से नहीं है जितना राष्ट्रीय आय का। कौटिल्य ने व्यय के जिन अंगों का वर्णन किया है, उन्हें हम इस प्रकार से बांट सकते हैं।

१. राजकीय महल और अन्तःपुर, राजा के निवासगृह, उस की सजावट, राज्यपरिवार का पालन, राजा के निजू

---

* "न राज्ञो भूमिर्धनम्, किन्तु तस्यां भूमौ स्वकर्मफलं भुंजानानां सर्वेषां प्राणिनां साधारणं धनम्" व्यवहारमयूख; तथा "हिन्दू पालिटी" भाग २ अ. ३४. इस अध्याय में इस विषय पर श्रीयुत जायसवाल ने बहुत अच्छा विचार किया है।

कर्मचारिमंडल (जिस में प्रधान चिकित्सक, शरीर रक्षक, रसोई का निरीक्षक आदि होते थे) आदि सब का खर्च इस भाग में समझना चाहिये

२. धार्मिक संस्थाएं:—राजकीय पुरोहित का वेतन, ज्योतिषी, और यज्ञ कराने वालों का वेतन और खर्च तथा भिन्न भिन्न मन्दिरों और मठों को दान यह सब दूसरे विभाग में समझना चाहिये।

३. राज्यकर्मचारियों के वेतन तथा सैनिक खर्च। राज्य कर्मचारियों के वेतन का परिमाण हम पहिले लिख चुके हैं। राजा से लेकर छोटे से छोटे राजकर्मचारी तक का वेतन इस विभाग में आता है। सैनिक व्यय में सैनिकों के वेतन और भोजन के अतिरिक्त हाथी घोड़ों की पालना, शस्त्रागार, तथा हथियार बनाने का खर्च भी सम्मिलित था। श्रीयुत नारायणचन्द्र बंद्योपाध्याय के अनुसार मौर्य सेना में केवल पैदल सेना का खर्च तीस करोड़ पण (लगभग बाईस करोड़ रुपये) * था। प्रत्येक सैनिक का वेतन ५०० पण (लगभग ३६५ रुपये) था।

आय और व्यय की असली गणनाएं प्राप्त न होने के कारण यह निश्चय करना कठिन है कि राज्य अपनी कुल आय या

* मौर्यकाल में सैनिक व्यय के सम्बन्ध में श्रीयुत नारायणचन्द्र बंद्योपाध्याय ने लिखा है कि यह बहुत ज्यादा था। उन्होंने केवल पैदल सेना के खर्च का अनुमान तीस करोड़ 'पण' (लगभग बाइस करोड़ रुपये) लगाया है। यूनानी लेखकों से हमें पता लगता है कि मौर्य सेना में ३० हजार अश्वारोही, ३६ हजार गजारोही, और २४ हजार

कुल व्यय का कितना अंश सैनिक व्यय के लिये खर्च करता था *।

रथारोही थे। हम बहुत मोटे तौर से इनका भी हिसाब लगाते हैं। हाथी, घुड़सवार और रथ सेना के अध्यक्षों का ८ हजार पण वेतन लिखा है। पदातियों के अध्यक्ष तथा हाथियों के चराने वालों का चार हजार। हाथीसेना के सैनिकों का वेतन हम चार हजार पण भी मानलें तो वह १०,८०,००,००० रुपये बनता है। रथसवारों का वेतन दो हजार पण लिखा है, जिसका कुल मिलाकर ३,६०,०७,००० रुपये होता है। घुड़सवारों का वेतन स्पष्ट नहीं दिया गया, परन्तु इतना निश्चित है कि घुड़सवार सैनिक अपने अध्यक्षों से (जिन्हें चार हजार पण मिलता था) अवश्य निचले दर्जे में होंगे। इस लिये हम उनका वेतन २००० मान लेते हैं। जिसके अनुसार उनका खर्च ४,२०,००,००० रुपये होता है। इस प्रकार सब मिलाकर कुल खर्च ४०,६०,००,००० रुपये बैठता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि नौ सेना का इस से अलग बहुत खर्च न था, और युद्ध के समय को छोड़ कर राज्य सैनिकों को भोजन न देता था। इस लिये यदि ऊपरी खर्चों के लिये नौ दस करोड़ और भी जोड़ लें तो मुशकिल से पचास करोड़ सैनिक व्यय ठहरता है, जो वर्तमान समय से फिर भी कम है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि मौर्यसाम्राज्य एक शक्तिशाली साम्राज्य था। तो भी हम इतने ज्यादा सैनिकव्यय को उचित नहीं समझते।

* शुक्रनीति में इस संबन्ध में कुछ अधिक विस्तार से लिखा हुआ है।

४. खाने और कारखाने—खानों के खुदवाने तथा कारखानों को चलाने के लिये भी काफी खर्च होता था; यद्यपि यह सब उत्पादक व्यय (Productive expenditure) था।

५. कृषि और शिल्प—राजकीय भूमियों पर कृषि कराने में व्यय के अतिरिक्त इस मद में वह खर्च भी सम्मिलित थे जो राज्य में कृषि और शिल्प की उन्नति, आपत्तिकाल में कृषकों की सहायता, और शिल्पियों को पारितोषकादि देने के लिये किये जाते थे।

६. शिक्षाप्रचार—इस भाग में हम उन खर्चों को रख सकते हैं जो विविध शिक्षा-केन्द्रों, और विश्वविद्यालयों को सहायता देने के लिये किये जाते थे। इसी मद से विद्वानों को पारितोषक दिये जाते थे, और विद्यार्थियों की सहायता की जाती थी।

७. पैंशन—राज्यकर्मचारियों को वृद्ध होने पर पैंशन देना, तथा जो कर्मचारी सेवा करते हुए मरजांय उनके लड़के वाले और स्त्री आदि संबंधियों का पालन करना राज्य का कर्तव्य था।

८. निर्धनों की सहायता (Poor relief) अनाथ, विधवाएं, बीमार और वृद्ध जिनके पास धन न हो, उनका यथायोग्य पालन करना राजा का कर्तव्य था। शुक्रनीति में भी इस पर बहुत बल दिया गया है।

९. आपत्ति में सहायता (Famine relief) दुर्भिक्ष आदि आपत्तियों में लोगों की सहायता करना भी राज्य का कर्तव्य समझा जाता था। इन आपत्तियों में बड़ी आपत्ति 'दुर्भिक्ष' थी। दुर्भिक्ष के समय सरकार जिन उपायों का अवलम्बन करती थी उनकी तुलना किसी भी वर्तमान समय की

सरकार के तरीकों से की जा सकती है:—

क. कृषकों को बीज और अनाज बांटना, तथा कर्ज देना।

ख. राज्य की तरफ से दुर्भिक्ष पीड़ितों को भोजन वस्त्र बांटना।

ग. मित्रराष्ट्रों की सहायता से खाद्य, द्रव्य प्राप्त करना।

घ. धनी व्यापारियों ने खाद्य सामग्री का जो संग्रह पहले से कर रखा हो उसे सार्वजनिक हित के लिये सस्ते मूल्य पर बिकवा कर लोगों की सहायता करना।

ङ. आबादी के कुछ भाग को अन्य देशों में प्रवास (Emigration) के लिये प्रेरित करना।

च. कृषि को प्रोत्साहित करना, और जंगली वनस्पतियों में से खाने योग्य नयी व स्पतियों को ढूंढना, या, जंगल के हरिण आदि जानवरों और मछलियों के शिकार के लिये लोगों को प्रेरित करना।

छ. ऐसे समय में प्रत्येक व्यक्ति बाजार से निश्चित परिमाण में ही खाद्य द्रव्य खरीद सकता था।

राज्य की ओर से प्रतिवर्ष ऐसे अवसरों के लिये खाद्य सामग्री का बड़ा भारी संग्रह करके रखा जाता था। राजकर्मचारियों के लिये आज्ञा थी कि दुर्भिक्ष पीड़ितों के साथ सर्वत्र सहानुभूति और अत्यन्त कोमलता का वर्ताव करें।

१०. सार्वजनिक कार्य (Public Works) इस मद में भी राज्य को प्रतिवर्ष पर्याप्त धन व्यय करना पड़ता था। सड़कें और पुल बनवाना, नहरें, कुएं, और तालाब खुदवाना, सार्वजनिक सरायें, हस्पताल आदि बनवाना राज्य का कर्तव्य था।

राष्ट्रीय व्यय पर नियन्त्रण

राजा अपनी इच्छा से राष्ट्रीय धन का अपव्यय न कर सकता था। उस पर मन्त्रि-मंडल का नियन्त्रण था, और इसके लिये मन्त्रिमण्डल उत्तरदाता था। सम्राट अशोक को राजकीय कोष में से मनमाना खर्च करने से उसके मन्त्रियों ने रोक दिया था। इस का जिक्र पहले हो चुका है। रुद्रदामन के जूनागढ़ के लेख से मालूम होता है कि उसने "अपने मन्त्रिमंडल के सामने 'सुदर्शन झील' के बांध की मुरम्मत करवाने का प्रस्ताव रखा, परन्तु मन्त्रियों ने खर्च की मंजूरी देने से साफ इनकार कर दिया। इस पर रुद्रदामन ने अपने निजू खर्च से उसकी मरम्मत करवायी"। रुद्रदामन के इसी लेख में यह भी लिखा है कि यद्यपि वह मन्त्रिमण्डल के निश्चय के विरुद्ध "पौर जानपद" या 'राष्ट्रसभा' से प्रार्थना करके इस खर्च की स्वीकृति ले सकता था, परन्तु उसने उन पर ज्यादा बोझ डालना उचित नहीं समझा" *।

इस प्रकार हमने देख लिया कि प्राचीन काल में राज्य का आर्थिक प्रबन्ध कितना सुदृढ़ और कितना उत्तम था। राज्य की आय और व्यय की नीति का आदर्श प्रसिद्ध कवि कालिदास ने बहुत ही उत्तम शब्दों में रखा है। राजा दिलीप की आर्थिक नीति की प्रशंसा करते हुए वह लिखता है "जिस प्रकार सूर्य पहले भूमि से जल खींचता है और फिर उसे सैकड़ों गुणा करके सारी पृथ्वी पर समान रूप से बरसा देता है, इसी प्रकार राजा दिलीप प्रजा से कर लेता था, और

* देखिये, 'हिन्दूपालिटी' भाग २, पृ ८६

अनेक सार्वजनिक हित के कार्यों में व्यय करके अधिक लाभदायक रूप में सारा का सारा प्रजा को लौटा देता था।*"

(६)

परराष्ट्र संबन्ध

इतिहास से मालूम होता है कि हिन्दू राजाओं और सम्राटों के बाहर के देशों से गहरे संबन्ध थे। चन्द्रगुप्त के दरबार में सेल्यूकस का दूत मैगस्थनीज़ रहता था, और बिन्दुसार की राजसभा में सीरिया नरेश तथा मिश्र नरेश के दूत रहा करते थे। चालुक्य सम्राट पुलिकेशी द्वितीय के दरबार में फारस सम्राट खुसरो के दूतों का ज़िक्र भी हम पहले कर आये हैं। भारतवर्ष के दूत भी चीन, फारस, रोम (ट्रेजन के दरबार में कुशान सम्राट के दूत) आदि में जाते रहे। इन दूतों के साथ बहुत ही उत्तम बर्ताव होता था। नीतिवाक्यामृत में लिखा है कि कोई दूत कैसा ही नीच क्यूं न हो उसके साथ शिष्टाचार का बर्ताव करना चाहिये, और अपने राज्य में उसे कोई कष्ट न होने देना चाहिये। मैगस्थनीज़ आदि राजदूत भारतीयों के इस सद्व्यवहार की साक्षी देते हैं।

आजकल की तरह उस समय भी परराष्ट्रनीति का राज्य को बहुत ख्याल रखना पड़ता था। इस कार्य के लिये एक अलग मन्त्री था, जिसे शुक्रनीति में 'दूत' तथा गुप्तकालीन लेखों में महासंधिविग्राहक कहा गया है।

---

* 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ रघुवंश

परराष्ट्रनीति के सिद्धान्त

कौटिल्य आदि राजनीति शास्त्रज्ञों ने बड़े विस्तार से परराष्ट्रनीति के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा करने वाले राजा को किस प्रकार आस पास के राष्ट्रों के साथ संधि, विग्रह और कूटनीति द्वारा शक्तिसंतुलन (मंडल =Balance of Power) स्थापित करना चाहिये, किन अवस्थाओं में शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये, किस प्रकार गुप्तचरों से अपने राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिये, इन सब बातों का विस्तार से वर्णन किया गया है। कौटिल्य की तुलना उसकी परराष्ट्रनीति के कारण यूरोपीय राजनीतिज्ञ मैकियावली और बिस्मार्क से की जाती है। परन्तु हिन्दू साम्राज्यवादियों की नीति यूरोप के आधुनिक साम्राज्यवादियों की तरह कुटिल होने पर भी उन की साम्राज्य की भूख केवल भारतवर्ष की सीमाओं तक ही परिमित थी। अर्थशास्त्र में लिखा है कि साम्राज्य-विजय का क्षेत्र हिमालय से कन्याकुमारी तक तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रों के मध्य में ही है*। इस साम्राज्य का उद्देश्य भी जायसवाल आदि विद्वानों के मतानुसार सारे भारत को राजनैतिक रूप से एक करना था, और एक केन्द्रित 'साम्राज्य' सरकार (सम+राज्य=राज्यों का समूह=Federal Government) स्थापित करना था। राज्यों को जीतने के बाद राज्य का आन्तरिक प्रबन्ध उसके पहले शासक के पास रहने दिया जाता था। केवल उसे केन्द्रिन सरकार की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी।

* अर्थ० ९. १

विदेशी राज्य

शुक्रनीति में लिखा है कि 'स्वराज्य से बढ़ कर कोई सुख नहीं।' कौटिल्य ने विदेशी राज्य के जो दोष बतलाये हैं। ये हमारे देश की वर्तमान अवस्था पर पूरे घटते हैं। अर्थशास्त्र में लिखा है,—'विदेशी राज्य (वैराज्य) जो एक देश के दूसरे देश द्वारा जीते जाने पर स्थापित होता है, बहुत ही हानिकारक होता है, क्यूंकि विदेशी राजा विजितदेश को अपना देश नहीं समझता, इस लिये इसे खूब लूटता है, और इसका धन अपने यहां ले जाता है। वह उस देश को एक व्यापार की वस्तु ('पराय'=Commercial article) समझता है, और जब उस देश के सब लोग उससे अप्रसन्न (विरक्त) हो जाते हैं तो वह उस देश को छोड़कर चला जाता है *।

(७)

सैनिक प्रबन्ध

सैनिक प्रबन्ध के विषय में भी हिन्दु-शास्त्रों में बहुत विस्तार के साथ उपदेश लिखे हुए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय साम्राज्यों का सैनिक-प्रबन्ध अतीव पूर्ण था, और पलटनों तथा रिसालों की बनावट और नाना प्रकार के युद्धोपकरण उपस्थित करने के सम्बन्ध में भी प्रत्येक बात नियमबद्ध थी। चन्द्रगुप्त के समय में छः भिन्न भिन्न विभाग सैनिक-प्रबन्ध के लिये थे। इन में से एक सामुद्रिक-सेना-विभाग भी था। शास्त्रों में लड़ाइयां लड़ने के सम्बन्ध में भी सविस्तर उपदेश लिखे हैं, और उन शस्त्रों का ब्योरा भी दिया

* देखिये, 'अर्थशास्त्र' ८. १. ११८. पृ. ३२२.

गया है जिनका युद्ध में उपयोग होना चाहिये। इन उपदेशों में झण्डी देने (सिगनलिङ्ग), दुर्गों को बनाने और उनकी रक्षा करने का भी वर्णन है। युद्ध सम्बन्धी कानूनों का सब से आवश्यक और महत्वपूर्ण अङ्ग वह है जिस में युद्ध के नैतिक अङ्गपर दृष्टि डाली गयी है। उदाहरणार्थ, महाभारत में लिखा है कि किसी राज्य को अधर्म्म या पाप से दूसरे देशों को जीतने का यत्न नहीं करना चाहिये, चाहे ऐसा करने से उसे चक्रवर्ती राज्य ही क्यों न मिलता हो। महाभारत में आगे लिखे नियम भी दिये गये हैं।

"यदि किसी योद्धा का कवच गिर जावे, अथवा कोई शरण मांगे, अथवा अपना शस्त्र छोड़ दे, तो उसकी हत्या करना धर्म्म नहीं। न किसी ऐसे व्यक्ति की हत्या करना धर्म्म है जो सोया हुआ हो, या जिसका शस्त्र गिर गया हो, या जो मुक्ति की इच्छा रखता हो (अर्थात साधु हो), या जो भाग रहा हो, या जो खान-पान में लगा हुआ हो, या पागल हो, या जो घोररूप से आहत हो रहा हो, या जो भरोसा करके ठहर गया हो, या जो किसी कला का विशेषज्ञ हो, या जो दुःख में हो, या जो घास चारा के लिये शिविर से बाहर आया हो, या जो खलासी मात्र हो, या जो केवल द्वारपाल हो या किसी अन्य प्रकार से सेवा करने वाला हो।" इन नियमों के द्वारा युद्धों में अनावश्यक जनसंहार को रोका जाता था।

मनुने भी आगे लिखे नियम इस सम्बन्ध में दिये हैं—

"किसी व्यक्ति को गुप्त शस्त्रों से न मारना चाहिये, और न विषैले शस्त्रों से, न कांटेदार शस्त्रों से, और न ऐसे शस्त्रों से जिनके सिरों पर आग लगायी हो।"

शेष उपदेश लगभग ऐसे ही हैं जैसे कि ऊपर लिखे जा चुके हैं। इन शास्त्रोंमें यह भी कहा है कि किसी ऐसे व्यक्ति पर जो नपुंसक हो, जो वृद्ध हो, या जो लड़नेवाला न हो, आघात करना अधर्म है। फ़सलों को नष्ट करने अथवा शत्रुके देश में लूट मचानेका घोर निषेध था।

यूनानी दूत मेगस्थनीज़ इस विषय में लिखता है:—

"जैसे दूसरी जातियों में यह प्रथा है कि लड़ाई के दिनों में भूमि को नष्ट करके ऊजड़ जङ्गल के समान बना दिया जाता है, वैसा भारतीयों में नहीं। वरन इसके विपरीत भारतीय लोग कृषकसमाज को पवित्र समझते हैं, और उनके साथ विरोध करना पाप समझते हैं। युद्ध-काल में भी आसपास के किसान निश्चिन्त होकर अपने कृषि-कर्म में निरत रहते हैं। दोनों दलों के सिपाही उनके साथ हस्तक्षेप नहीं करते। वे न तो शत्रु की भूमि में आग लगाते हैं और न वृक्ष ही काटते हैं।

मैगस्थनीज़ ने भारतीयों के डील-डौल, उनके शौर्य और वीरता तथा उनकी युद्ध-कला की बहुत प्रशंसा की है। परन्तु इन अवस्थाओं में स्वभावतः ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्यों हिन्दुओं ने इतनी बार भिन्न भिन्न आक्रमणकारियों से हार खायी? इसके दो उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि जाति-पांति और वर्णों के विभाग ने देश की रक्षा का कार्य केवल एक श्रेणी के सपुर्द कर दिया था। लोगों का प्रायः यह ख्याल था कि लड़ने का काम केवल क्षत्रियों का है; और उस श्रेणी के परास्त हो जाने या साहस छोड़ बैठने पर सारा देश इकठ्ठा होकर लड़ने के योग्य न रहता था। दूसरे यह कि बाह्य आक्रमणकारी केवल उसी समय सफल मनोरथ हुए

जब स्वयं भीतरी राज्यों में बहुत कुछ परस्पर फूट और लड़ाई-झगड़ा था। पञ्जाब की भिन्न भिन्न जातियों ने सिकन्दर का भलीभांति सामना किया और कई स्थानों पर उसकी सेना के दांत खट्टे किये। परन्तु आरम्भ में ही कई देशद्रोही स्थानीय राजा उसके साथ मिल गये। उन्होंने उसको बहुत सहायता दी। फिर भी रावी पार होते ही उसी को पीछे मुड़ने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसी प्रकार भारत के इतिहास में जब कभी आक्रमणकारी आये हैं तो उन्होंने भीतरी फूट से लाभ उठाया है। जब तक केन्द्रिक शासन प्रबल रहता था और देश में एकता होती थी तब भारत में आने का किसी को साहस नहीं होता था।

(८)

सार्वजनिक कार्य

किसी देश के सभ्य होने की एक पहचान यह है कि उस देश में कितने नगर हैं। नगर प्रायः व्यापार और कला-कौशल के केन्द्र होते हैं, और व्यापार तथा शिल्प की उन्नति सभ्यता के प्रबल चिन्हों में से एक है।

प्राचीन भारत में बहुत से नगर थे। यूनानी-लेखक लिखते हैं कि सिकन्दर ने लगभग दो सहस्र नगर पञ्जाब में ही विजय किये। हिन्दू-शास्त्रों में नगरों और ग्रामों की रचना के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ उपदेश दिये गये हैं। और ग्रामों और नगरों के नकशे बतलाये गये हैं। मकानों में प्रकाश और वायु की पर्याप्त गुञ्जायश रखी जाती थी। यूनानी-लेखक एरियन भारतीय नगरों के विषय में लिखता है कि इस

देश में नगरों की इतनी प्रचुरता है कि उनकी संख्या का अनुमान करना भी कठिन है। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र के विषय में लिखा है कि उसकी लम्बाई दस मील और चौड़ाई दो मील थी। उसके इर्द गिर्द एक खाई थी, जो छः सौ फुट चौड़ी और तीस फुट गहरी थी। नगर की प्राचीर पर पांच सौ सत्तर बुर्ज और चौंसठ दरवाजे थे। इसी प्रकार फ़ाहियानने पाटलिपुत्र की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है। यह नगर उस समय उजाड़ हो चुका था, परन्तु इसके खंडहर मौजूद थे। वैशाली के विषय में चीनियों की पुस्तकों में यह लिखा है कि यह नगर बहुत वैभवशाली और बड़ा आबाद था। इस में ७७०७ ऐसी इमारतें थीं जो दो या दोसे अधिक मंजिलों की थीं; ७७०७ ऐसे मकान थे जिनपर शिखर लगे हुए थे; ७७०७ ऐसे चौक थे जो केवल जनता के मनोरञ्जन के लिये बनाये गये थे; और ७७०७ ऐसे सरोवर थे जिन में कमल फूलते थे *।

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि बाण ने उज्जैन नगर की बहुत प्रशंसा की है, और चीनी पर्यटक ह्यूनसाङ्ग ने कन्नौज नगर के गुण गाये हैं। कन्नौज गजनी के महमूद के आक्रमण के समय भी बहुत बड़ा नगर था। बौद्ध-धर्म की एक पुस्तक में सियालकोट नगर की बहुत प्रशंसा की है। इसका पुराना नाम सागल था। मुसलमान ऐतिहासिकों और मुसलमान पर्यटकों ने भी हिन्दू-नगरों और हिन्दू इमारतों की प्रशंसा की है।

इमारतों की रचना से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र का नाम

* अधिक सम्भव है कि ये गणनाएं अनुमान से ही स्थिर कर ली गयी हों।

शिल्प-शास्त्र कहा गया है। इसकी सर्वोत्तम पुस्तक 'मानसार' है। इसने सात प्रकार के नगर और आठ प्रकार के गांव बतलाये हैं। मानसार में सत्तर परिच्छेद हैं। मन्दिरों और घरों की भूमि और मकान कैसे होने चाहिये, इन विषयों पर उस में सविस्तर उपदेश हैं। वास्तु-विद्या के प्रत्येक अङ्ग का पूर्ण वर्णन मौजूद है। तत्कालीन स्थपति (मेमार) गणित-विद्या के अच्छे ज्ञाता होते थे। फर्गूसन लिखता है कि "महाराज अशोक के शासनकाल से पूर्व भी भारत में प्रासाद और सभा-भवन बड़े महत्तायुक्त थे। परन्तु उनके चिन्ह अब कुछ शेष नहीं हैं, क्योंकि उस समय पत्थर केवल नींव में डाला जाता था। ऊपर का भवन लड़की का बनाया जाता था। अशोक के समय में पत्थर और ईंटका उपयोग अधिक सामान्य हो गया। फाहियान अशोक के राजभवन का वर्णन करते हुए कहता है कि "ये विशाल पत्थर जो इस प्रासाद में लगाये हुए हैं किसी मनुष्य की शक्ति से गढ़े हुए नहीं हो सकते।" विंसेंट स्मिथ भी लिखता है कि अशोक के समय में भारत में ललित-कलाओं ने उन्नति की चरम सीमा देखी थी। राजकीय इञ्जिनियर और मेमार पत्थर, ईंट और लकड़ी के अतीव विशाल और महत्तायुक्त भवन निर्माण करते थे। इन में भिन्न भिन्न और उचित अवसरों पर पानी के आने और जाने के लिये द्वार बनाते थे। वे अतीव कठिन से कठिन चट्टान में से काटकर बहुत ही सुन्दर, सीधे और बड़े बड़े स्तम्भ बनाते और सुसज्जित कमरे खोद देते थे। आलेख्य वास्तु-विद्या का एक आवश्यक अङ्ग समझा जाता था। समस्त महत्तायुक्त इमारतों में आलेख्य और चित्र बड़ी कारीगरी से बनाये जाते थे।

भारतीय रचनाएं कई प्रकार की हैं। दिल्ली और आगरे की लाटें तिर्हुत, संकारा (मथुरा और कन्नौज के बीच), कारली (बम्बई और पूना के बीच) और ईरान की लाटें भारतीय कला की अत्यन्त मौलिक रचनाएं हैं। तिर्हुत की लाट के ऊपर एक सिंह की मूर्त्ति बनायी हुई है, और कारली की लाट पर चार सिंहों का आकार है। दिल्ली की लोहे की लाट अतीव अद्भुत लाट है। यह लाट भूमि से २२ फुट ऊंची है। इसका व्यास नीचे से १६ इंच और ऊपर से १२ इंच है। डाक्टर फर्गूसन महाशय कहते हैं कि यह लाट प्रकट करती है कि ईसा की पांचवीं शताब्दी में हिन्दू लोग लोहे की इतनी बड़ी लाट ढाल सकते थे जिस के बराबर वर्त्तमान काल से पहले यूरोप में कभी नहीं बनायी गयी थी, और जिस आकार की लोहे की सलाख अब भी यूरोप में बहुत कम कारखाने ढाल सकते हैं। यह भी आश्चर्य की बात है कि चौदह सौ साल तक आंधी और वर्षा के आघात सहते हुए भी अभी तक इस लाट पर मोर्चा नहीं लगा।

दूसरे प्रकार की इमारतों में से भेलसा के टोप सामान्यतः और सांची के टोप विशेषतः बहुत प्रसिद्ध हैं। सांची का टोप पेंदे से कुछ ऊपर व्यास में १०६ फुट है। इस के ऊपर ४२ फुट ऊंचाई का एक मीनार है। तीसरे प्रकार की इमारतों में से दो बहुत प्रसिद्ध हैं, अर्थात एक सांची का कटहरा (रेल) और दूसरा अमरावती का कटहरा। ये अतीव उच्च कोटि की कारीगरी के हैं। इन दोनों पर विचित्र प्रकार की चित्रकारी है। महात्मा बुद्ध के जीवन की भिन्न भिन्न घटनाओं के चित्र खोदे गये हैं, और स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न जन्तुओं के चित्र

अतीव कौशल के साथ दिये गये हैं।

चौथे प्रकार की इमारतें संसार में अपने प्रकार की निराली हैं। ये बनायी हुई नहीं, पहाड़ों में खोदी हुई हैं। इन में से कार्ली का चैत्य अतीव अद्भुत और विख्यात है। यह चैत्य ईसा के जन्म से एक सौ वर्ष पहले बना था। इस प्रकार की इमारतों में से तीस इमारतें अब तक मौजूद हैं। परन्तु इन सब में से प्रसिद्ध और रचना की दृष्टि से अतीव विचित्र पश्चिमी भारत की वे गुफाएं हैं जो पहाड़ों में से काटकर बनायी गयी हैं। इन में से कार्ली, अजन्ता, और एलोरा इस कला के सर्वोत्तम नमूने हैं। बम्बई के निकट समुद्र के बीच एक पहाड़ को काटकर बनायी हुई इसी प्रकार की एक और गुफा है। इस का नाम एलीफेंटा है। यह अपने ढंग की एक बहुत ही अद्भुत और सुन्दर रचना है।

हिन्दुओं के भवन-निर्माण और कलाओं के सम्बन्ध में श्रीयुत ई. बी. हेवल की पुस्तकें और श्री फर्गूसन तथा श्री. विंसेंटस्मिथ के लेख पढ़ने योग्य हैं *।

सड़कें, नहरें और आने जाने के साधन

हिन्दू-काल में सड़कों के बनाने पर बहुत ध्यान दिया जाता था। चाणक्य लिखता है कि प्रत्येक नगर में छः बड़ी बड़ी सड़कें होनी चाहिये। उन में से तीन उत्तर-दक्षिण की

* हिन्दुओं की प्राचीन इमारतें, मन्दिर, गुफाएं, प्रासाद, सभा-भवन सहस्रों की संख्या में मुसलमानों के हाथ से गिराये गये। उनका अब नाम निशान भी मौजूद नहीं। फिर भी जो कुछ मौजूद है वह वास्तु-विद्या, भास्कर्य और संगतराशी आदि में हिन्दुओं की योग्यता और निपुणता का पर्याप्त से अधिक साक्ष्य देता है।

ओर, और तीन पूर्व-पश्चिम की ओर हों। इनके अतिरिक्त अन्य सड़कें भिन्न भिन्न आवश्यकताओं के लिये बनायी जायें। बड़ी सड़कें राजमार्ग कहलाती थीं, और दूसरी सड़कों को वीथि या पाथ कहते थे। बड़ी और छोटी सड़कों पर *मार्ग और दूरी दिखाने लिये पत्थर लगाये जाते थे।* सड़कों के दोनों ओर वृत्त लगाये जाते थे। उचित स्थानों पर पथिकों के विश्राम के लिये धर्मशालाएं बनायी जाती थीं, नालों पर ईंट-चूने या लकड़ी के, और बड़ी बड़ी नदियों पर नावों के पुल बनाये जाते थे। यूनानी लेखकों की साक्षी से पता लगता है कि मौर्य साम्राज्य के समय पटिलिपुत्र से लेकर उत्तरपश्चिमी सीमान्त (Fronteer) तक बड़ी भारी सड़क (वर्तमान Grand Trunk Road) मौजूद थी। इस की लम्बाई दस हज़ार स्टेडिया (लगभग १, १०० मील) थी।

वेदों और महाभारत में सिंचाई के साधनों का उल्लेख मिलता है। पुराने राजा उचित अन्तरों पर नहरें, तालाब और झीलें *प्रचुर संख्या में बनाते और कुवें और झरने* लगवाते थे। नये तालाब और कुवें बनाने वाले को कई वर्षों तक राजकर में रियाअत दी जाती थी। मौर्य्यवंश के राजाओं के समय में सिंचाई का एक विशेष विभाग था। राजतरङ्गिणी में भी नहरों आदि का उल्लेख है।

राजतरङ्गिणी में लिखा है कि महापद्म झील के पानी के कारण काश्मीर में प्रतिवर्ष बाढ़ आया करती थी; और इस लिये कुछ पैदावार न हो सकती थी। सुय्य नामी इंजिनियर ने बड़े कौशल से कई बांध बांधे। जिस का असर यह हुआ कि काश्मीर में चावल की उपज बहुत बढ़ गयी। यहां तक कि

अवन्तिवर्मन (८३३—८५ ई.) के समय में चावलों का भाव २०० दीनार से उतर कर ३६ दीनार प्रति खारी हो गया। 'सूय्य' की नहरों और डामों (irrigational and engineering Works) का वृत्तान्त कल्हन ने विस्तार से दिया है, जो बहुत मनोरंजक है।

'सूय्य' ने देखा कि 'वितस्ता' नदी का पानी जो नदी के आस पास बड़े बड़े गढ़ों में जमा हो जाता है उसके कारण बाढ़ें बहुत भयंकर हो जाती हैं। उसने नदी के दोनों ओर बांध लगा दिये, और गढ़ों के पानी को निकाल कर उन्हें भर दिया। आस पास की ज़मीन ऊंची करके उसने नदी का बांध भी खोल दिया। इसके बाद जहां जहां से नदी ज्यादातर किनारा फोड़ कर चढ़ जाती थी वहां नयी नहरें निकाल कर पानी का रास्ता बना दिया। बाढ़ के समय इन नहरों को खोल दिया जाता, जिस से ज्यादा पानी नहरों में चला जाता। इन नहरों से खेती का काम ले लिया जाता। इस प्रकार जो बाढ़ें पहले खेती को नुकसान पहुंचाती थीं उन्हीं से खेती में सहायता ली जाने लगी। उसने नदी को भी अपनी इच्छानुसार नये रास्ते पर डाल दिया, और कल्हण लिखता है कि टेढ़े चलने वाले सांप को जिस तरह संपेरा काबू करता है इसी प्रकार उसने वितस्ता (जेहलम) नदी को वश में कर लिया। एक तीन मील लम्बा डाम बना कर महापद्म झील को भी उसने वश में किया।

उसने एक बड़ी विचित्र विधि से इस बात का भी हिसाब लगाया कि काश्मीर में खेती के लिये कितने पानी की आवश्यकता है। पहले उसने सारे खेतों को कुछ निश्चित गह-

राई तक पानी से भर दिया। फिर हर एक ज़मीन का निरीक्षण किया कि वह कितनी देर में सूखती है। इस प्रकार उसने पता लगाया कि भिन्न भिन्न खेतों को कितनी कितनी देर बाद कितने कितने पानी की आवश्यकता होगी। यह पता लगा कर उस ने 'वितस्ता' नदी तथा और नदी नालों के पानी को नहरों में विभक्त किया, और हर एक खेत के साथ उसका सम्बन्ध किया।

पहाड़ी भूमि पर (Irrigation) का इतना उत्तम प्रबन्ध करने में कितना धन और कितना कौशल दरकार होगा इस बात का अनुमान किया जा सकता है, और इस से पता लगता है कि सूर्य की सारी रचनाएं कितनी महत्त्वपूर्ण होंगी।

चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र से लगभग १००० मील दूर गिरनार पर 'सुदर्शन' झील बनवायी थी, इसका पहले उल्लेख हो चुका है। यह छोटे छोटे नदी नालों पर डाम जमा कर बनायी गयी थी। कारिकाल*(६५०ई.) ने कावेरी नदी पर १०० मील लंबा एक बांध लगवा कर उस से नहरें निकालीं। इसी प्रकार और भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

जहां जहां भी भारतीय लोग जाकर बसे वहीं उन्होंने भारतीय नमूने की महत्त्वपूर्ण इमारतें बनवायीं। ऐसी इमारतें और रचनाएं अब तक लङ्का, कम्बोडिया, जावा, बाली और सुमात्रा आदि द्वीपों और श्याम देश में मिलती हैं। सिंहल द्वीप में राजा पराक्रमबाहु ने न केवल असंख्य मन्दिर, विहार, सार्वजनिक भवन, वाटिकाएं और उद्यान ही बनाये, वरन सहस्रों झीलें, तालाब और नहरें भी खुदवायीं। सीलोन का कोई भी

भाग ऐसा नहीं जहां उन नहरों और तालावों के अवशेष न हों। एक झील का नाम उसने पराक्रम-समुद्र रखा था। उस की प्रसिद्ध नहर का नाम 'जय गंगा' था।

फर्गुसन महाशय लिखते हैं कि नौ सौ वर्ष तक जावा और सुमात्रा में हिन्दू ऐसी इमारतें बनाते रहे जिनके नमूने की और इमारतें दूसरी जगह नहीं मिलतीं।

(६)

कृषि, शिल्प और व्यापार

कृषि, शिल्प और व्यापार के विभागों के सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। राज्य का यह कर्तव्य था, और स्वदेशी राज्य होने के कारण उस का अपना स्वार्थ और लाभ भी इसी में था कि वह देश की कृषि, उद्योग धन्धों और व्यापार की उन्नति के लिये प्रयत्न करे।

कृषि-विभाग

कृषि-विभाग कृषि की उन्नति के लिये उत्तम उत्तम बीज इकट्ठे करके कृषकों को बांटता था। अर्थशास्त्र में बीजों को विविध प्रकार की औषधियों के रसों में रखने की विधियां दी हुई हैं, जिन से उन में कीड़ा आदि न लगे, और पैदावार भी अच्छी हो भूमि के जिन टुकड़ों में खेती न हुई हो उन में खेती कराने का प्रबन्ध करना, और आवश्यकता के समय किसानों को तकावी देना भी इसी विभाग का काम था।

इसी विभाग का यह भी कार्य था कि वर्षा, वायु और ऋतु के संबन्ध में ठीक ठीक समाचार इकट्ठे करके लोगों को

दिया करे। आजकल यह विभाग 'मीटियोरोलोजिकल' कहलाता है। राज्य की तरफ से स्थान स्थान पर ज्योतिष की गणनाओं के लिये 'वेध शालाएं' थीं, और वर्षा का मान जानने के लिये खास तरह के छोटे मुंह के वर्तन रखे जाते थे। इन में निशान लगे होते थे। अर्थशास्त्र में भिन्न भिन्न स्थानों का वर्षमान भी दिया गया है। अवन्ती में २३ द्रोण वर्षा होती थी, अश्मक देश में १३½ द्रोण और जांगल देशों में १६ द्रोण वर्षा होती थी *।

शिल्प

वनों और खानों पर राज्य का एकाधिकार था। धातुओं को शुद्ध करने, गलाने, उन्हें मज़बूत बनाने, तथा अन्य धातुओं के साथ मिलाने की कई विधियां अर्थशास्त्र में भी लिखी हुई हैं। धातुओं की विद्या में हिन्दुओं ने उच्च कोटि की योग्यता प्राप्त की थी। इसके प्रमाण स्वरूप दिल्ली की लोहे की लाट का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

नमक तथा शराब पर भी राज्य का एकाधिकार (Monopoly) था। शिल्पों में वस्त्रों का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। रुई, ऊन, सन और रेशम का कपड़ा बुनने में यह देश सदा संसार में मुख्य रहा है।

शिल्पियों और श्रमियों की रक्षा

राज्य इस बात का विशेष ख्याल रखता था कि श्रमियों और शिल्पियों के साथ कोई दुर्व्यवहार न कर सके। इसके लिये श्रमियों और शिल्पियों की अपनी श्रेणियां (Guilds) भी

* अर्थ०. २. २३. ४१. पृ. ११६

बनी हुई थीं, जो संगठित रूपसे अपने हितों की रक्षा करती थीं। श्रमियों के कार्य का स्थान और काम करने के घंटे निश्चित होते थे * । जो लोग उन से निश्चित समय से ज्यादा काम लेते, या उनकी मजदूरी कम करते थे उन्हें दण्ड मिलता था। श्रमियों की मजदूरी कम करने के लिये यदि कुछ धनी लोग एका कर लेते, तो उन्हें १००० पण जुर्माना होता था। दूसरी तरफ श्रमियों के लिये भी यह नियम था कि वह सहसा काम न छोड़ सकते थे। श्रमियों और मालिकों के झगड़ों का फैसला ऐसे मध्यस्थों द्वारा कराया जाता था जो दोनों पार्टियों को स्वीकार हों, और जिन्हें इस प्रकार के झगड़ों की ज्यादा वाकफियत हो †। अर्थशास्त्र के नियमों से यह पता लगता है कि श्रमियों और मालिकों दोनों से यह आशा रखी जाती थी कि वे एक दूसरे से कोई शिकायत होने पर उस संबन्ध में स्वयं कुछ कार्यवाही न करके उस मामले को सरकार के सामने लायेंगे। सरकार निष्पक्ष और जानकार आदमियों से उस मामले की तहकीकात कराती थी, और उनका फैसला दोनों पार्टियों को मानना पड़ता था। इन तहकीकात करने वालों में श्रेणियों (Guild) के मुखिया भी होते थे।

श्रमियों या शिल्पियों को शारीरिक आघात पहुंचाना बड़ा भारी जुर्म समझा जाता था। उन्हें अंगहीन करने या

* "निर्दिष्ट देश कालकार्यं च" अर्थशास्त्र।

† "प्रदेया रागविवादेषु वेतनं कुशलाः कल्पयेयुः" अर्थशास्त्र।

मारने वाले को मौत तक की सजा दी जाती थी।

व्यापार

व्यापार की उन्नति के लिये आने जाने के मार्गों तथा उनकी रक्षा का बड़ा प्रयत्न किया जाता था। मार्गों पर यात्रियों की सुविधा के लिये कुएं, सरायें और हस्पताल बनाये जाते थे। सामुद्रिक व्यापार के लिये बड़े बड़े जहाज बनाये जाते थे। सिकन्दर की सेना भारत से जिन जहाजों में वापस गयी थी वे भारत में बने थे। वे बहुत बड़े बड़े थे। उनके चलाने वाले भी भारतीय थे। भारत के प्राचीन व्यापार का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। 'पण्याध्यक्ष' का यह कार्य था कि वह व्यापारियों को इस प्रकार की जानकारी देता रहे कि कौन से मार्गों से व्यापार करना लाभदायक है, भार ले जाने में कितना व्यय होता है, और कहां किन वस्तुओं की मांग है। दूसरे देशों में नगरों की अवस्था, चुंगी आदि के नियमों के सम्बन्ध में भी वह व्यापारियों को सूचना देता था।

हम पहले लिख आये हैं कि मौर्यकाल में राज्य बाजार में वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण रखता था। राज्य स्वयं वस्तुओं के क्रय विक्रय द्वारा बाजार की दर पर असर डालता था। अर्थशास्त्र में लिखा है कि 'राज्य को वस्तुओं के मूल्य पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिये जिससे व्यापारी (जिन्हें 'चोर' कहा गया है) तथा शिल्पी आदि सर्वसाधारण लोगों को महंगी वस्तुएं बेचकर पीड़ा न पहुंचा सकें *।

---

* 'एवं चोरानचोराख्यान् वणिक्कारुकुशीलवान् .... वारयेत् देशपीडनान्'। अर्थशास्त्र

विनिमय के साधन — सिक्कों और हुंडियों की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी। वैदिक काल में 'निष्क' नामी सिक्के का वर्णन मिलता है। मौर्यकाल में 'लक्षणाध्यक्ष' राजकीयमुद्रा (Currency) का प्रबन्ध करता था।

व्याज की दर — भिन्न भिन्न शास्त्रों में व्याज के सबन्ध में भिन्न भिन्न आदेश हैं। कुछ शास्त्रों में व्याज लेने का सर्वथा निषेध है। कुछ में व्याज की दर नियत करके लिखा है कि जब मूल धन से व्याज दुगना हो जाय तो और व्याज न मिलना चाहिये।

(१०)

सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा

गावों और नगरों की सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा आदि के लिये भी नियम बने हुए थे। नगरों और गावों में चिकित्सक रखे जाते थे। नगरों के मुख्य चिकित्सक और सेना चिकित्सकों को रहने के लिये राज्य की तरफ से स्थान दिया जाता था; परन्तु वे न उसे बेच सकते थे, न गिरवीं रख सकते थे *। नागरक का यह काम था कि वह नगर की सफाई और स्वास्थ्यरक्षा का ध्यान रखे, और इस बात का निरीक्षण करे कि बाज़ार में खाने पीने की वस्तुओं में मिलावट आदि न की जाय। सड़कों और नालियों की सफाई का प्रतिदिन ध्यान रखे। इसके लिये खास नियम भी बने हुए थे। जो व्यक्ति रास्ते पर

* अर्थ। २. १. १६. पृ. ४६।

कूड़ा फैंके, या कीचड़ करे, उसे दंड मिलता था। इसी प्रकार रास्तों या पानी के समीप पेशाब आदि फिरना भी निषिद्ध था। मुर्दा जलाने के लिये श्मशान स्थान नियत थे। अन्य स्थानों पर मुर्दा जलाने या पानी में मुर्दा बहाने वाले को दण्ड मिलता था। इतना ही नहीं मुर्दा लेजाने के लिये मार्ग भी निश्चित होता था, और आम रास्तों से मुर्दा ले जाना मना था। इसी प्रकार सड़े हुए मांस फल आदि बेचने वालों को भी कठोर दण्ड मिलता था।

आग से नगर की रक्षा करने के लिये भी नियम थे। आग लग जाने पर प्रत्येक व्यक्ति का उसे बुझाने के लिये पहुंचना आवश्यक था, और न पहुंचने वालों को (रोगी, बूढ़े, और बालकों के सिवाय) भी दण्ड मिलता था।

खास महामारी और बीमारी फैल जाने पर राज्य अच्छे चिकित्सकों की सहायता से उसका उपाय करता था। आवश्यकता पड़ने पर सब नगरवासियों को शहर से बाहर खेतों में कुछ दिन के लिये भेज दिया जाता था।

देश की सुव्यवस्था और शान्ति के लिये और भी कई नियम थे, जिन में से कुछ यहां दिये जाते हैं।

१. यह नियम था कि यदि कोई व्यक्ति किसी मार्ग, सराय, मन्दिर या बाग आदि में किसी रोगी या घायल मनुष्य को देखे तो कम से कम उसकी सूचना नगर के अधिकारियों को देदे। सूचना न देने पर उसे दण्ड होता था।
२. जो व्यक्ति समर्थ होने पर भी अपने परिवार के अनाथों, विधवाओं, नाबालिग बच्चों या ऐसी स्त्रियों जिनके पति विदेश में गये हों की पालना न करे उसे दण्ड मिलता

था। असमर्थ होने पर राज्य को इसकी सूचना देना उस का कर्तव्य था।

३. पुत्र और स्त्री आदि के निर्वाह का प्रबन्ध किये बग़ैर वानप्रस्थ या सन्यास लेने वाले व्यक्ति को दण्ड मिलता था।
४. बच्चों को भिक्षु या साधु बनाने का भी निषेध था।
५. आपस में गाली गलौच करना, लड़ना, किसी को दुर्वचन कह कर मानहानि करना, अंधे लंगड़े लूले आदि लोगों के साथ मखौल करना या उन्हें व्यंग्य 'सुजाखा' आदि कह कर चिढ़ाना—अपराध समझे जाते थे, और इन पर दण्ड मिलता था।

(११)

स्थानीय स्वराज्य

(Local Self Government)

भारत में शासन का आधार सदा से ग्रामों और नगरों की स्थानीय पंचायतें और 'निगम' संस्थाएं (Corporations) रही हैं। वैदिक काल में भी भारतमें स्थानीय स्वराज्य (Local Self Government) था। केन्द्रित सरकारें बदलती थीं, बाहर से आक्रमणकारी भी आते थे, देश में उथल पुथल भी मचती थी, परन्तु देश के स्थानीय शासन पर इसका बहुत कम असर पड़ता था। न गावों पर कोई कर बढ़ाया जा सकता था, न उनके अधिकारों में कोई हस्तक्षेप हो सकता था। यहां तक कि मुसलमानों के शासनकाल में भी इनके अधिकार सुरक्षित बने रहे। जनता अपने स्थानीय शासन के स्वत्वों की बड़ी सावधानी और दृढ़ता से रक्षा करती थी। हज़ारों साल पुराने

इस संगठन को अंग्रेज़ी राज्य की स्वार्थ और अन्यायपूर्ण नीति ने नष्ट कर दिया। सर चार्ल्स मुनरो और चार्ल्स मेटकाफ़ जिनके समय तक ये ग्रामसंगठन अभी थोड़े बहुत बाकी थे इस बात की साक्षी देते हैं कि भारतवर्ष के ग्राम एक प्रकार के छोटे छोटे लोकतन्त्र राज्य थे, जो गांव के अधिवासियों की सभी आवश्यकताओं को पूरा करते थे।

एक लेखक ने लिखा है कि भारत में अंग्रेज़ी सरकार ने जो अनेक अपराध (Crimes) किये—उन में सब से बड़ा अपराध इन "स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं" का नाश करना था। उन्हें नष्ट करने के सौ साल बाद अब यह कहना कि भारतीय जनता शासनप्रबन्ध में दिलचस्पी नहीं लेती और उसके अयोग्य है—अंग्रेज़ों को शोभा नहीं देता।

यहां स्थानाभाव से हम अत्यन्त संक्षेप से प्राचीन ग्राम्य सभाओं (Village Assembalies) और ग्राम्य पंचायतों की कार्य प्रणाली का दिग्दर्शन करायेंगे, जिससे पता लगेगा कि लोग स्थानीयशासन में कितनी दिलचस्पी लेते थे।

ग्रामों की पंचायतें ग्राम का समस्त भीतरी प्रबन्ध करती थीं। खेतों की सीमा बांधना, खेतों की बांट, खसरे शजरे की व्यवस्था, गांव की आय व्यय का हिसाब, शिक्षा और सफाई का प्रबन्ध, कला कौशल, कृषि और सिंचाई, दान पुण्य, और स्थानीय अभियोगों का निर्णय उनके हाथ में था।

गांव की सभा अपने कुछ आदमियों को प्रतिवर्ष चुनती थी। चुनाव के लिये आवश्यक था कि उस सदस्य की आयु ३० और ७५ वर्ष के बीच में हो, गांव में उसकी कुछ मिल-

कियत हो। एक गांव 'उत्तर माल्लूक' के सम्बन्ध में लिखा है कि सारे गांव को तीस भागों में बांटा हुआ था। प्रत्येक भाग (Ward) से एक सदस्य चुना जाता था। चुनाव हर साल होता था, परन्तु लगातार तीन साल से ज्यादा कोई व्यक्ति कमेटी में न रह सकता था। औरतें भी चुनाव में हिस्सा लेती थीं, और कमेटी में भी चुनी जाती थीं*।

यह कमेटी कई उपसमितियों में बांटी जाती थी। भिन्न भिन्न गावों की आवश्यकतानुसार उपसमितियां कम या अधिक होती होंगी। एक उपसमिति सामान्य निरीक्षण और नियन्त्रण के लिये होती थी। इसी प्रकार तालाब के निरीक्षण के लिये, बाग के निरीक्षण के लिये, मन्दिर के प्रबन्ध तथा झगड़ों के फैसले करने के लिये अलग अलग उपसमितियां होती थीं। ग्रामों की इन सभाओं और कमेटियों को बहुत अधिकार होते थे। अपनी सीमा के अन्दर ये लोगों को दण्ड दे सकती थीं, जुर्माने कर सकती थीं, और छोटे छोटे कर लगा सकती थीं। केन्द्रीय सरकार इनका निरीक्षण करती थी। इनके हिसाब की भी जांच पड़ताल की जाती थी †। अनियमित कारवाई करने पर सदस्यों को दण्ड मिलता था। एक ग्राम्यपंचायत का उल्लेख मिलता है, जिस ने मन्दिर की संपत्ति पर अनुचित रूप से अधिकार [illegible]र लिया। उसकी शिकायत केन्द्रीय सरकार के [illegible]धिकारों में [illegible]

[illegible]मानों [illegible]ये, 'बुधिस्ट इंडिया' पृ. ४६; और 'सरकार' 'पोलीटिकल [illegible]है। जनेत' पृ. २२, २४.

[illegible]नी [illegible]वल्लम' का लेख।

पास की गयी। जिस पर कमेटी के सदस्यों पर जुर्माना किया गया *। राज्य की तरफ से उनके प्रबन्ध के संबन्ध में आवश्यकतानुसार आज्ञाएं निकलती रहती थीं; परन्तु राज्य उनके अधिकारों और स्वत्वों का सदैव आदर करता था, और कोई काम उन से सलाह लिये बिना न करता था। वीरराजेन्द्र के एक लेख से पता लगता है कि यदि किसी राजकीय आज्ञा से किसी गांव की स्थिति पर प्रभाव पड़ता हो तो पहले उसके लिये 'ग्राम्यसभा' की स्वीकृति ली जाती थी। ट्रावनकोर के एक लेख में राजकीय घोषणा से पहले ये शब्द लिखे हैं—"राजकीय कर्मचारियों, ग्राम्यसभा और ग्राम के निवासियों के आपस में पूरे सलाह मशविरे के बाद इस बात की घोषणा की जाती है—इत्यादि"।

उपर्युक्त सब बातों से पता लगता है कि स्थानीय स्वराज्य संस्था का प्राचीन समय में कितना महत्त्व समझा जाता था। इतना ही नहीं यदि राज्य उनकी उपेक्षा करे, और उन पर कठोर कर आदि बिठाये, या राज्याधिकारी उन्हें तंग करें तो ग्राम्य पंचायतें तथा स्थानीय श्रमियों के संघ मिलकर राज्य का घोर विरोध भी करते थे। तंजौर के 'कोरुकई' नामी स्थान पर उपलब्ध एक शिला लेख में लिखा है:—

"वेलङ्गई और इड़ङ्गई जातियों के लोगों ने मिलकर यह फैसला किया कि क्यूंकि राज्याधिकारी हम पर उपज के अनुसार कर न बिठा कर अन्याय पूर्वक कर बिठाते हैं, हम मिलकर यह निश्चय करते हैं कि हम वही कर देंगे जो न्यायोचित होगा;

* तिरुमलपुरम् का लेख—'ऐपिग्राफिस्ट रिपोर्ट' १९०७. पृ. ७१.

उस से ज्यादा हम कुछ भी न देंगे।" इस के साथ ही यह भी लिखा है कि पहले हम लोग अधिकारियों के डर से और स्थानों को भाग चले थे, परन्तु अन्त में हमने यह महसूस किया कि क्यूंकि सारा प्रदेश संगठित नहीं है इस लिये हमारे साथ यह व्यवहार होता है । इस लिये संगठित होकर हमने कर न देने का फैसला किया है। हम में से कोई आदमी राज्याधिकारियों को किसी प्रकार की कोई सहायता न देगा *"।

शान्तिमय सत्याग्रह और राज्य को कर न देने की लड़ाई का भारतवर्ष के इतिहास में यह पहला ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध होता है। भारत की इस प्राचीन बारदोली की लड़ाई का क्या परिणाम हुआ दौर्भाग्य से यह जानने के लिये हमारे पास पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री नहीं।

* एपिग्राफिक रिपोर्ट १६१८. पृ. १६३।

तीसवां अध्याय

हिन्दू और यूरोपीय सभ्यता की तुलना

इतिहास के पाठ का मूल प्रयोजन यह है कि पाठक को किसी जाति की सभ्यता का यथार्थ ज्ञान हो जाय। राजनीतिक इतिहास में जो राजाओं और शासकों का वर्णन रहता है उसका बड़ा लाभ यही होता है कि उससे सभ्यता का इतिहास पढ़ने वाले को काल का निरूपण करने में सुगमता होती है; अन्यथा यह बात कि किस राजा ने क्या किया और कौन कौन सी लड़ाइयां लड़ीं, प्रत्यक्षरूप से किस्सा-कहानी से अधिक महत्व नहीं रखती। इन पृष्ठों में सातवीं सदी तक के भारतीय इतिहास का संक्षिप्तसा दिग्दर्शन कराया गया है। परन्तु प्रकृत उद्देश्य यह रहा है कि भारतीय नवयुवकों को भारतीय सभ्यता, भारतीय विचार और भारतीय साहित्य की कथा संक्षिप्तरूप से सुना दी जावे। अच्छा तो यह होता कि यह कथा केवल वर्णन तक ही परिमित रहती, परन्तु कुछ कारणों से यह आवश्यकता जान पड़ती है कि हिन्दू-सभ्यता की तुलना वर्त्तमान काल की यूरोपीय सभ्यता से की जाय, जिस से इस पुस्तक के पढ़ने वालों को दोनों सभ्यताओं के विषय में सम्मति स्थिर करने में सुविधा हो।

इस तुलना की आवश्यकता

इस तुलना की क्यों आवश्यकता है, और तुलना करने का यह काम पाठकों पर क्यों नहीं छोड़ा जा सकता? बात यह है कि भारत के इतिहासमें भारतीयों ने पहली बार किसी दूसरी जाति से बौद्धिक और आध्यात्मिक पराजय पायी है। आशा की जाती है कि यह पराजय स्थायी नहीं है। इस से पहले बाहर के आक्रमणकारी आते रहे, और राजनीतिक परिवर्त्तन करते रहे, परन्तु सबने हमारी सभ्यता, हमारे रहन-सहन के ढङ्ग और हमारे सामाजिक जीवन के सामने सिर झुकाया। प्रत्येक आक्रमणकारी जाति ने इसी में अपना कल्याण, और अपना गौरव समझा कि वह हमारे धर्म्म और सभ्यता को ग्रहण करके हमारे समाज में प्रविष्ट हो जाय, और अपने आपको भारतीय जातिका अङ्ग बनाये। पिछले पृष्ठों में इस प्रकार की बहुत सी विदेशी जातियों का उल्लेख किया जा चुका है, जो भारत में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुईं; परन्तु जो यहां के धर्म, सभ्यता और विचारों को अपना कर भारतीय जाति का अंग बन गयीं। भारत के इतिहास में मुसलमान पहले आक्रमणकारी थे जिन्होंने अपना विशेष धर्म्म और विशेष सभ्यता रखते हुए हमको अपना धर्म और अपनी सभ्यता देने की चेष्टा की, और जो हममें से एक अच्छी संख्या को अपने साथ मिलाने में कृतकार्य्य हुए। परन्तु इतना होते हुए भी हिन्दू-जाति ने सामूहिकरूप से कभी इस बात को स्वीकार नहीं किया कि मुसलमानी धर्म या मुसलमानी सभ्यता हिन्दू-धर्म्म या हिन्दू-सभ्यता से उत्तम है। हिन्दुओं ने राजनीतिक हार

मान ली, (यद्यपि पूर्णरूप से तो यह भी कभी नहीं मानी) परन्तु बौद्धिक या आध्यात्मिक पराजय कभी स्वीकार नहीं की, और यही हिन्दुओं के बचाव का कारण हुआ।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मुसलमानी सभ्यता का प्रभाव किसी अंश में हिन्दुओं के रहन-सहन के ढंग और हिन्दू-सभ्यता पर हुआ, परन्तु उससे कहीं अधिक प्रभाव हिन्दुओं की सभ्यता का भारत के मुसलमानों पर हुआ। जब हम चीनी यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्तों को पढ़ते हैं, अथवा हिन्दू-काल के नाटकों या उपन्यासों को देखते हैं, और उस समय के रहन-सहन और रीति की वर्त्तमान समय के रहन-सहन और रीति के साथ तुलना करते हैं तो हमें आश्चर्यजनक सादृश्य देख पड़ता है, और यह सादृश्य ही संसार के बड़े बड़े विद्वानों को यह कहने पर विवश करता है कि हिन्दू-धर्म्म में परिवर्त्तन बहुत कठिन है। हिन्दू-धर्म्म की तुलना बहुधा लोग ऐसे मगर मच्छ से करते हैं जो नाना प्रकार की मछलियों और जीवों को पेट में डालकर भी कभी अजीर्ण की शिकायत नहीं करता। परन्तु पश्चिमी सभ्यता और विचारों का प्रभाव भारतीय हिन्दू जनता पर कुछ दूसरे प्रकार का हुआ है। पश्चिमीय सभ्यता अपने उन्नत भौतिक विज्ञान के साथ आकर पूर्वीय देशों में बौद्धिक और आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर रही है। पश्चिमी शिक्षा ने भारत में एक ऐसा जन-समुदाय उत्पन्न कर दिया है जो अपने देश के इतिहास और धर्म्म से सर्वथा अनभिज्ञ है, और प्रायः प्रत्येक विषय में पश्चिम को ही प्रमाण मानता है। इस शिक्षित जन-समुदाय के रहन-सहन के ढङ्ग और जीवन में भी उन के बौद्धिक और आध्यात्मिक

पराजय की असंख्य साक्षियां मिलती हैं। पश्चिमी शिक्षा-प्रणाली से शिक्षा पाये हुए जन-समुदाय का रहन-सहन, पठन-पाठन, उसके मस्तिष्क की समस्त चेष्टाएं और उसकी सभी रीतियां पाश्चात्य होती जाती हैं। हमारा खानपान हमारा परिधान, हमारे खेल कूद की सामग्री, हमारे पढ़ने पढ़ाने की रीतियां सब बदलती जा रही हैं, और सबसे बढ़कर दुःखकी बात यह है कि हम जीवन के सब नियमों में पश्चिम से प्रकाश पाने की चेष्टा करते हैं। मैं इस बात का मानने वाला नहीं कि यदि हमें किसी बात का ज्ञान नहीं तो वह हमें बाहर से नहीं सीखनी चाहिये। परन्तु मैं इस बात का मानने वाला भी नहीं कि हम अपने समग्र अतीत इतिहास पर पानी फेर कर एक ऐसा सर्वथा नवीन जातीय व्यक्तित्व बनाने का यत्न करें जो हमको अपने अतीत इतिहास से बिलकुल अलग कर दे। यह अस्वाभाविक चेष्टा हमारे लिये घातक होगी। पहले तो नवीन विचार, नवीन भाव, नवीन कानून और रहन-सहन के नवीन ढंग को अपने अन्दर स्थिर करने में हमको बहुत देर लगेगी, और इतनी देर तक स्वभावतः ही हम दूसरी जातियों के दास रहेंगे। शिष्यता और दासता का समय अधीनता और विवशता का समय होता है। देखिये, अंगरेज राजनीतिज्ञ यही कहते हैं कि हम अपने देश का शासन करने के योग्य नहीं, हम अभी बहुत कुछ उनसे सीख रहे हैं, और अभी हम बालिग नहीं हुए। वे समझते हैं कि अपने देश पर शासन करने की योग्यता हम को उन से मिलेगी। और यदि हम इस नाबालिगपन और शिष्यता को एक बार स्वीकार कर लें तो हमको उनकी सम्मति तथा उन के विचारों को

गलत कहने का कोई अधिकार नहीं रहता। यदि सचमुच ही हम बुद्धि, आध्यात्मिक विचारों और संस्कृतिकी दृष्टि से कङ्गाल हों तब हमारे शिष्यता स्वीकार करने का कुछ अभिप्राय भी है; परन्तु जब हम अपने अतीत इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें पर्याप्त रूप से यह विदित हो जाता है कि हम कङ्गाल नहीं, वरन इतने वैभव सम्पन्न हैं कि हम अपने भण्डारों से दूसरों को भी बहुत कुछ दे सकते हैं। हमारे जातीय व्यक्तित्व की स्थिरता इस बात पर निर्भर है कि हम इस नयी दुनिया में और जहां जो कुछ हमें दूसरों से सीखने की आवश्यकता हो उसे उनसे सीखने में संकोच न करें, वहां इसका यह भी अर्थ नहीं कि हम केवल उनका उच्छिष्ट उठाने वाले हो जायं, और हमारी जाति ने जो कुछ आविष्कार किये हैं उनको केवल इस लिये तुच्छ समझें कि वे राजनीतिक रूप से पराजित जाति के आविष्कार हैं, और इसी लिये वे हेय हो गये हैं।

अंगरेज जातिका उद्देश्य

अंगरेज जाति के बहुत से राजनीतिज्ञ अभिमान से यह कहते हैं कि उनका उद्देश्य यह है कि वे भारत को पाश्चात्य सभ्यता की शिक्षा दें, और उसके सारे राजनीतिक और सामाजिक संगठन को वर्त्तमानकाल की सर्वोत्तम जातियों के नमूने पर ढाल दें। भारतीयों में से जो व्यक्ति इस विचार का विरोध करता है और अपनी जाति को भारतीय ढंग पर जीवन ढालने का उपदेश देता है उसे वे लोग पाश्चात्य सभ्यता का शत्रु बतलाते हैं, और उसे भारत की प्रगति के मार्ग में बाधक समझते हैं। हम उनके इस दावे को स्वीकार नहीं करते। भारतीय सभ्यता

और उसकी अनुपस्थिति में उसके राज्य में कोई विद्रोह नहीं हुआ, तो हमें यह युक्ति अकाट्य नहीं प्रतीत होती। यह भी कहा जा सकता है कि भारत स्वयं इतना लम्बा चौड़ा और इतना विस्तृत देश था कि वह बड़े से बड़े आक्रमणकारी और बड़े से बड़े राजनीतिक लोलुपकी लालसाओं के लिये पर्याप्त से अधिक था। अस्तु, चाहे कुछ ही कारण हो, यह सत्य घटना विचारणीय है कि अपनी सर्वोत्तम शक्ति के समय में भारतीय शासकों ने कभी भारत से बाहर अपने राज्य को बढ़ाने का यत्न नहीं किया *।

हिन्दू-आर्य्य साम्राज्यवाद-का भाव।

इस सिलसिले में यह बात भी विशेषरूप से द्रष्टव्य है कि हिन्दू-राजनीति का यह एक प्रामाणिक सिद्धान्त रहा है कि जिन प्रदेशों को हिन्दू-आर्य्यों, बौद्धों या जैन राजाओं ने विजय किया उनमें अपनी राजनीतिक सत्ता को वहां के धर्म्म और सभ्यता को बदलने के लिये प्रयुक्त नहीं किया। उन्होंने कोई ऐसे उपाय ग्रहण नहीं किये जिनसे अधिकृत प्रदेशों की प्रजा का दिल दुखे। सामान्यतः हिन्दू-आर्य्य लोग इस सिद्धान्त के मानने वाले रहे हैं कि किसी प्रदेश की रीति-नीति और शासन-पद्धति को बलात्कार से परिवर्तित न करना चाहिये। इस सिद्धान्त पर यहां तक आचरण किया गया कि प्रायः विजित प्रदेश के राज-

* यूनानी ऐतिहासिक एरियन एक स्थान पर लिखता है ;
"A Sense of Justice prevented any Indian King from attempting conquest beyond the limits of India"; अर्थात् न्यायबुद्धि की प्रेरणा के कारण किसी भी भारतीय राजा ने भारत की सीमा से पार के प्रदेशों को विजय करने की चेष्टा नहीं की।

परिवार को भी अपने स्थान से नहीं हिलाया गया, और न उनका कानून बदलने की चेष्टा की गयी। केन्द्र से साम्राज्य पर शासन करने का यत्न नहीं किया जाता था। महाराज चन्द्रगुप्त, महाराज अशोक, महाराज समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्ष और भोज आदि शक्तिशाली सम्राटों के शासन-काल में भी केन्द्रिक शासन भारत के विशेष भागों तक ही परिमित रहा, और शेष भारत के विजित भागों में अपना अपना स्थानीय राज्य कायम रहा। वर्त्तमान यूरोपीय शक्तियां इस सिद्धान्त को मानने वाली नहीं। उनका पेट इतना बड़ा है कि वह कभी नहीं भरता। वे भूमण्डल के सभी भागों और सभी दिशाओं में अपना राज्य, अपना धर्म और अपनी सभ्यता फैलाना चाहती हैं। साम्राज्यवादी यूरोपीय राजनीतिज्ञ यह समझते हैं, कि वे समस्त संसार पर शासन करने के लिये उत्पन्न हुए हैं, और उनका यह कर्तव्य है कि वे सारे संसार को न केवल अपना धर्म दें, वरन अपनी सभ्यता को भी बलात और अत्याचार से सारे संसार में फैला दें।

बौद्ध-धर्म पहला मिशनरी धर्म था

धर्मों के इतिहास में बौद्धधर्म पहला मिशनरी धर्म हुआ है। बौद्ध प्रचारक ही दुनिया में सब से पहले तत्कालीन ज्ञात संसार के भिन्न भिन्न भागों में प्रचार के लिये गये। महाराज अशोक ने प्रचारकों की भिन्न भिन्न मण्डलियां पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण को भेजीं। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण विद्यमान नहीं कि इन धर्म-प्रचारकों को भारतीय राजनीतिज्ञों ने कभी अपने राजनीतिक स्वार्थों के साधन

हैं और कुछ प्रकटरूप से । परन्तु इस में सन्देह नहीं कि धर्म्म-प्रचारका उपयोग राजनीतिक शक्ति और व्यापारिक प्रयोजनों के लिये किया जा रहा है। हमारी सम्मति में धर्म्म-प्रचार की जो रीति और जो नियम पाश्चात्य जगत ने ग्रहण किये हैं वे सिद्धान्तरूप से बहुत ही खराब हैं । धर्म्म-प्रचार का राजनीतिक सत्ता के लिये, और राजनीतिक सत्ता का आर्थिक लाभ के लिये उपयोग करना अतीव नीचता है ।

समस्त संसार में एक धर्म्म स्थापित करने की चेष्टा करना प्रकृति के विरुद्ध है। धर्म्म का सम्बन्ध प्रत्येक मनुष्य की आत्मा से है। वास्तव में किन्हीं दो मनुष्यों का धर्म्म एक नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि धर्म्म के प्रचार से उतना सिद्धान्त का प्रचार अभीष्ट नहीं जितना कि धार्मिक मर्यादा का है। संसार को एक ही धार्मिक मर्यादा में ढालने, या एक ही धार्मिक नियम का अनुयायी बनाने की चेष्टा भी प्रकृति के विरुद्ध है, सिद्धान्तरूप से अशुद्ध है, और क्रियात्मकरूप से असम्भव है। यदि कभी यह असम्भव सम्भव हो गया तो संसार बड़ा नीरस और आलस्य का स्थान हो जायगा। संसार अपने विश्वास और रीतिनीति में स्वतन्त्रतापूर्वक मत-भेद रखते हुए भी परस्पर द्वेष, शत्रुता, लड़ाई और उपद्रव से किस प्रकार अलग रह सकता है, इसपर विवाद चलाने के लिये यह उपयुक्त स्थल नहीं।

जातीयता का भाव

हिन्दू-धर्म्म और हिन्दू-सभ्यता में जातीयता के उस भाव को कभी स्थान नहीं मिला जिससे प्रेरित होकर आज समस्त पश्चिम संसार

रक्तपात और लड़ाई भिड़ाई का कारण हो रहा है। आज यूरोपीय जातियां एक मगर के सदृश मुंह खोले सामूहिक रूप से समस्त संसार को अपने अधीन करने की आकांक्षा कर रही हैं, और समस्त संसार के धनको एकत्र करने की कामना रखती हैं। राष्ट्रीय शक्ति की प्राप्ति और जातीयधन की वृद्धि के निमित्तप्रत्येक प्रकार का अनियम और अनीति उचित समझी जाती है। यूरोप में राष्ट्रीयता के जिस भावने विकास पाया है वह अतीव भीषण और मानवीय भ्रातृत्व के भावों से शून्य है।

हम देश-भक्ति के भाव को स्वीकार करते हैं, राष्ट्रीयता को भी मानते हैं, और हमको हिन्दू-सभ्यता में ये दोनों भाव मिलते हैं। परन्तु हम इस सिद्धान्त के मानने वाले नहीं कि किसी जाति की उन्नति दूसरी जातियों को दास बनाने पर निर्भर है, अथवा हमारे राष्ट्रीयभाव हमें इस बात की आज्ञा देते हैं कि हम अपने राष्ट्रकी उन्नति के लिये दूसरे राष्ट्रों के नाश और लूटको उचित समझें। जिस प्रकार नीति और कानून किसी व्यक्ति या किसी परिवार को इस बात की आज्ञा नहीं देते कि वह अपने उत्कर्ष और अपनी प्रगति का भवन दूसरे लोगों या दूसरे परिवारों के ह्रास या उनकी लूट मार पर निर्माण करे, उसी प्रकार राष्ट्रीयता के भाव और जातीय-प्रेम की यह उचित मांग नहीं है कि अपनी जाति के हित के लिये दूसरी जातियों को तहसनहस कर डाला जाय। राष्ट्रीयता का भाव शुभ है। परन्तु इस भाव के वशीभूत होकर दूसरी जातियों की हानि करना, उनको दासत्वकी जञ्जीरों में जकड़ना, और उनकी दरिद्रता पर अपनी जातिको धनाढ्य बनाना, जातियों और राष्ट्रों की अवस्था

में भी वैसा ही अनुचित और अपवित्र है जैसा कि व्यक्तियों और कुलों की अवस्था में। हमें प्रसन्नता है कि हमको जातीयता के इस अनुचित भावका कोई प्रमाण हिन्दू इतिहास में नहीं मिलता। यह भी सत्य है कि स्वयं जातीयता का भाव भी हिन्दू-आर्य्यों में थोड़ा बहुत दुर्बल था। इस विषय में इस बात की आवश्यकता है कि आधुनिक भारतीय वर्त्तमान काल की यूरोपीय जातियों से कुछ शिक्षा सीखें। दूसरों का अपकार करने वाली देशभक्ति एक निन्दनीय भाव है। यह सदाचार, नीति तथा मनुष्यत्व का शत्रु और उनकी जड़ों को काटने वाला है। परन्तु शत्रु की रोकथाम करनेवाली देश-भक्ति (Defensive Nationalism) एक ऐसा भाव है जिस की हर एक जाति के लिये आवश्यकता है। कुछ लोगों का कथन है कि भारत के धार्मिक, वंश और भाषा-सम्बन्धी भेदों ने भारत में जातीयता के भाव को पुष्ट नहीं होने दिया, परन्तु यह विचार उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि समझा जाता है। यूरोप का इतिहास बताता है कि राष्ट्रीयता न तो भाषा के एक होने पर निर्भर है, और न वंश तथा धर्म्म के एक होने पर। हां, वंश, भाषा और धर्म्म का एक होना राष्ट्रीयता के भावकी पुष्टि अवश्य करता है। यूरोप के बहुत से राजनीतिशास्त्रज्ञ और सामाजिक विद्वान अब इस बात को स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रीयता के अस्तित्व के लिये जाति, भाषा और धर्म का एक होना आवश्यक नहीं। अब भी संसार में ऐसे अनेक राष्ट्र हैं जिनके अन्दर राष्ट्रीयता के ये माने हुए लक्षण नहीं पाये जाते, फिर भी कोई व्यक्ति उनकी राष्ट्रीयता से इन्कार नहीं कर सकता। हां, इस में सन्देह नहीं कि जिन राष्ट्रों में वंश और भाषा आदि की

एकता पायी जाती है उन में यह एकता उनकी राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रबल साधन बन जाती है।

क्या राज्य कानूनसे ऊपर है ? यूरोपीय राजनीतिशास्त्र का आदर्श राजा या राज्य की पूर्ण स्वाधीनता है। यूरोपीय राजनीतिशास्त्र स्टेट अर्थात राज्य की शक्तियों पर कोई सीमा नहीं लगाता। वास्तव में राज्य की प्रत्येक आज्ञा कानून का पद रखती है, और यूरोपीय राजनीतिशास्त्र राज्य के लिये यह उचित ठहराता है कि वह अपनी आवश्यकताओं के लिये सब प्रकार के कानूनों को तोड़ डाले। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं हिन्दू राजनीतिशास्त्र राजा और राज्य को कानून से ऊपर नहीं मानता था। राज्य एक निश्चित सीमा के भीतर ही कानून बना सकता था, या उसमें परिवर्तन कर सकता था। कभी किसी राजा को या किसी राज्य को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं मिली जिस से राज्यप्रबन्ध सम्बन्धी बातों को छोड़कर उसको प्रजा के जीवन के सम्बन्ध में मनमाने कानून बनाने का अधिकार दिया गया हो। हिन्दू राजनीतिशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि राजा या राज्य प्रजा के लाभ के लिये है न कि प्रजा राजा या राज्य के लाभ के लिये। इसलिये हिन्दू राजनीतिशास्त्र में बार बार यह बात दुहरायी गयी है कि यदि राजा का आचरण धर्म्म के विरुद्ध हो, और यह अत्याचारी या विलासी हो जाय, तो प्रजा को न केवल यह अधिकार है कि वह इस को सिंहासनच्युत कर दे वरन उसको यह भी अधिकार है कि वह उसको मृत्यु-दण्ड दे। यूरोपीय सभ्यता राज्य को सब कानूनों से उच्चतर

समझती है, इस के विपरीत हिन्दू-सभ्यता राज्य को कानून के अधीन समझती थी। हिन्दू राजनीतिशास्त्र 'क्रान्ति' को प्रजा का एक 'वैध' अधिकार (Constitutional Right) समझते हैं।

स्थानीय-स्वराज्य तथा ग्राम्य पंचायतें

हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं कि भारत में लोकतन्त्र शासनप्रणाली का भाव कितना मौजूद था, और स्थानीय स्वराज्य को कितना महत्व दिया जाता था। वास्तव में 'पूर्व की अनियन्त्रित राजसत्ता' का जो चित्र यूरोपीय लोगों ने तैयार किया है उसका अस्तित्व केवल यूरोपीय लोगों की कल्पना में है। भारत में कभी इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता इतने बड़े परिमाण में नहीं हुई। बड़े से बड़े और कठोर से कठोर स्वेच्छाचारी राजाओं के समय में भी केन्द्रिक शासन का प्रभाव प्रजा के बहुत थोड़े भाग पर रहा। ग्रामों का स्थानीय प्रबन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अंग्रेज़ी शासन के आरम्भ काल तक, ग्राम्यपंचायतों के हाथ में रहा, और सामान्यतः कभी किसी केन्द्रिक शासन ने ग्रामों के भीतरी प्रबन्ध में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया।

ग्राम्य पंचायतों का वर्णन हम पहले कर आये हैं। भारतीय साहित्य और शिलालेखों में स्थान स्थान पर इनका उल्लेख मिलता है। बहुत स्थानों पर तो हमें ग्रामों का प्रायः सारा प्रबन्ध उसी प्रकार का मालूम होता है जैसा आजकल सोवियट रूस में है। यद्यपि इन के राजनैतिक और आर्थिक नियम सब सोवियट रूस के से न थे।

यह स्मरण रखना चाहिये कि वर्तमान समय में यूरोपीय "पार्लमेंटरी शासनपद्धति" भी कोई आदर्श और सफल पद्धति नहीं समझी जाती। लोग वर्तमान प्रणाली से बहुत कुछ असंतुष्ट होते जा रहे हैं। अब प्रवृत्ति यह है कि शासन की अन्तिम कुंजी केवल उन लोगों के हाथों में न होनी चाहिये जो प्रान्तों के प्रतिनिधि निर्वाचित हो जांय, किन्तु भिन्न भिन्न पेशों को करने वाले समाजों के प्रतिनिधियों के हाथों में होनी चाहिये।

सरकार का हस्तक्षेप प्रजाके जीवन के प्रत्येक अंग में

फाहियान और ह्यूनसाङ्ग दो चीनी यात्री एक दूसरे से दो सौ वर्ष के अन्तर से भारत में आये। इन दोनों ने इस बात की साक्षी दी है कि सामयिक गवर्नमेंट लोगों की बातों में बहुत कम हस्तक्षेप करती थी। वर्तमान काल में क्या यूरोप में और क्या भारत में, राज्य का प्रवेश जीवन के प्रत्येक विभाग में हो गया है। आजकल यूरोप और अमरीका में भी यद्यपि प्रजातंत्र के नियमों के अनुसार शासन किया जाता है, परन्तु लोगों के जीवन के प्रत्येक विभाग में सरकार का हाथ इतना बढ़ गया है कि लोग इस प्रजातंत्र पर बहुत सन्देह करने लगे हैं। स्थानीय स्वराज्य संस्थाएं, (लोकल सेल्फ गवर्नमेंट) म्युनिसिपल कमेटियां आदि भी एक प्रकार से केन्द्रिक शासन का एक विभाग हैं। उसी की नकल गवर्नमेंट ने भारत में भी उतारी है। भारत में पहली बार ब्रिटिश गवर्नमेंट के अधीन ही केन्द्रिक शासन ने ग्रामों के भीतरी प्रबन्ध में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया है। इसका परिणाम जनता के लिये अतीव विनाशक सिद्ध हुआ है। कदाचित इस देश के इतिहास में

कभी इतनी बड़ी संख्या में सरकारी कर्म्मचारी न रखे गये थे, और न उनको इतने बड़े बड़े वेतन दिये गये थे जितने कि अंगरेज़ी शासन-काल में दिये जा रहे हैं । जितने अधिक सरकारी कर्म्मचारी होंगे उतनी ही कम प्रजा को स्वतंत्रता होगी । वेतनभोगी कर्म्मचारियों की प्रचुरता राजनीतिक दासत्व का सब से बुरा रूप है, विशेषतः जब कि उनकी नियुक्ति और उनको अलग कर देना, प्रजा के हाथ में न हो।

यूरोप और अमरीका में अब यह सामान्य शिकायत है कि जिन प्रजातंत्र नियमों पर आजकल संसार में राज्य किया जाता है, वे सच्चे प्रजातंत्र के नियम नहीं। वह केवल नाममात्र का प्रजातंत्र है, सारी शक्ति धनाढ्यों और पूंजीवालों के हाथों में है, और ये धनाढ्य और पूंजीवाले लोग शासन की समस्त शक्ति और राज्य के समस्त साधनों को अपने लाभ के लिये काम में लाते हैं। सर्वसाधारण को और निर्धन श्रमियों को यद्यपि मत (वोट) का अधिकार है, परन्तु वास्तव में राज्य के प्रबंध में उन का कुछ भी हाथ नहीं। इन प्रजातंत्र देशों में राजकर्म्मचारी पहले दरजे के बेईमान और घूस खाने वाले हैं। और वृत्ति-धारियों (पेंशनरों) को धनाढ्यों और पूंजीवालों के हाथों की ओर देखना पड़ता है। पश्चिम के वर्त्तमान प्रजातंत्र राज्योंमें जितने दोष और कुप्रबंध हैं वे हमको उन प्रजातंत्र नियमों का प्रशंसक नहीं बनाते। वास्तविक प्रजातंत्र-शासन उस समय स्थापित होगा जब धनाढ्यों और निर्धनों के बीच जो दीवार खड़ी है वह गिर जायगी, और साधारण प्रजा की दीनता और दरिद्रता दूर हो जायगी। इसके अतिरिक्त प्रजातंत्रशासन के यह अर्थ

नहीं कि शासन नियमहीन, दुराचारी, कपटी, स्वार्थी, लोभी और दुर्वृत्त मनुष्यों के हाथों में चला जाय। आधुनिक प्रजातंत्र शासन केवल धन और बौद्धिक योग्यताको राजसिंहासन पर बैठाता है। भारत ऐसे प्रजातंत्र का मानने वाला था जिसकी नींव धर्म, सदाचार, स्वार्थहीनता, त्याग, नम्रता और लोकहितेच्छा पर थी। यूरोप के प्रजातंत्र राज्यों के कर्मचारी प्रचुर संख्या में दुराचारी, लालची, नियमहीन और स्वार्थी हैं। उन्होंने यूरोप में, और सारे संसार में अधर्म और पाप का राज्य फैला दिया है।

भारत और प्राचीन यूरोपका लोकतंत्र राज्य

इतिहास के पाठ से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में पचीस सौ वर्ष पहले जो प्रजातंत्र राज्य थे वे तत्कालीन यूरोप के प्रजातंत्र राज्यों से अनेक गुना अच्छे थे। उदाहरणार्थ, यूनान में जो लोकतंत्र राज्य थे उनको नगरलोकतंत्र (सिटी रिपब्लिक) के नाम से पुकारा गया है। इन प्रजातंत्र राज्यों में वस्तुतः केवल कतिपय सहस्र मनुष्य स्वतंत्र होते थे, जिनको राज्य के कामों में सम्मति देने का अधिकार था। शेष लाखों की संख्या में वे लोग थे जिन्हें दास कहा जाता था। वे उन सहस्रों सम्मति देनेवालों की सम्पत्ति समझे जाते थे। यही दशा पीछे के लोकतंत्र राज्यों की थी, और यही अवस्था मध्यकालीन यूरोपीय प्रजातंत्र राज्यों की थी। यूरोप के आधुनिक प्रजातंत्र राज्यों का विकास गत दो सौ वर्ष में हुआ है। परन्तु भारत के जनतन्त्र राष्ट्र वास्तविक अर्थों में जनतन्त्र कहे जा सकते थे। भारत में कभी उस प्रकार के दासों की श्रेणी न थी जैसी कि यूरोप और अमरीका में ठीक

उन्नीसवीं शताब्दी तक रही। अमरीका में दासत्व सन् १८६५ ई. में कानूनी तौर पर हटाया गया, और इङ्गलैंड में वहां का प्रसिद्ध राजनीति-विशारद ग्लेडस्टोन भी दासत्व का पक्षपोषण करता रहा। चन्द्रगुप्त के शासनकाल में जो यूनानी राजदूत *मैगस्थनीज आया था उसने लिखा है कि उस समय भारतमें* दासत्व बिलकुल न था। यह राजदूत यूनान में दास-समाज की अवस्था और उसके विस्तार से परिचित था। वह भारत और यूनान की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था की तुलना भली भांति कर सकता था। कुछ यूरोपीय ऐतिहासिक मैगस्थनीज के इस कथन को असत्य ठहराते हैं, और इसका कारण यह बताते हैं कि कौटिल्यशास्त्रमें दासों का उल्लेख है। परन्तु वस्तुतः ये दास यूरोप और अमरीका के दासों से बहुत भिन्न थे। प्रथम तो अर्थशास्त्र यह कहता है कि "आर्य्य" किसी अवस्था में दास नहीं बनाया जा सकता। उस समय उत्तरभारत में लगभग सभी अधिवासियों को "आर्य्य" कहते थे, और यदि जनता का कोई भाग ऐसा था जिसपर "आर्य्य" शब्द लागू न हो सकता था तो वह अत्यन्त ही अल्प था, और वह इतना अल्प था कि विदेशी दूत और पर्यटक उसे उल्लेख योग्य न समझते थे। दास प्रायः वे ही होते थे जो अपने ऋणों को न चुकाने के कारण या लड़ाई में बन्दी हो जाने के कारण "दास" बन जाते थे। दासों का क्रय विक्रय इतने बड़े परिमाण में भारत में कभी नहीं हुआ जिस परिमाण में यूरोप और अमरीका में दासों का व्यापार होता रहा। प्रत्येक दास को यह अधिकार था कि यह अपना ऋण चुकाकर या किसी अन्य रीति से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करले। फिर उसको पूर्ण अधिकार मिल जाते

थे। दास भी अपने स्वामी के परिवार के सदस्य समझे जाते थे, और उन से दुर्व्यवहार करना अपराध था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है—"यदि कोई मनुष्य किसी दास से मुर्दा उठवाये, या उसे झाड़ू देने के काम पर नियुक्त करे, या उसे जूठा भोजन खाने के लिये दे, किसी दास को नंगा रखे, उसे गाली दे, या किसी दासी के सतीत्व का नाश करे, तो उसे दण्ड दिया जाना चाहिये, दास को खरीदने के लिये उस ने जो मूल्य दिया है वह भी न दिया हुआ समझा जायगा, और दास स्वतन्त्र कर दिया जायगा"। कुछ भी हो भारत के इतिहास में ऐसा कोई भी काल नहीं हुआ कि जब दासों की संख्या आर्य्यों या स्वतन्त्र लोगों की संख्या से अधिक हो। इस के विपरीत यूनानी और रोमन प्रजातन्त्र राज्यों में प्रायः सदा ही ऐसा रहा। यहां तक कि उनमें से कुछ जातियों में स्वतन्त्र मनुष्य केवल सैकड़ों या सहस्रों होते थे, और दास सहस्रों या लाखों की संख्या में थे।

यूरोपीय देशोंका पार्लिमेंटरी शासन

यद्यपि कहनेके लिये यूरोपीयदेश पार्लिमेंटरी शासनके बहुत प्रशंसक हैं परन्तु यूरोप में कुछ कालतक निवास करने और यूरोपीय पार्लिमेंटों की कार्य्यवाही को ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात हमको बहुत सन्देह हो जाता है कि क्या यह शासन-पद्धति साधारण प्रजा के लिये बहुत लाभदायक है ? प्रजा के लिये वही पद्धति लाभदायक हो सकती है जिसमें गवर्नमेण्ट प्रजा की सेवक हो। उसका अस्तित्व समस्त प्रजा के हितके लिये हो, न कि विशेष श्रेणियों के लिये। यूरोप की समस्त

जातियों को ये अधिकार नाममात्र को ही प्राप्त हैं कि वे अपनी गवर्नमेंटों को बनाये रखें या अलग कर दें। प्रजा की प्रत्येक श्रेणी को वोट अर्थात मत देने का अधिकार है, परन्तु वास्तव में ये समस्त अधिकार धनवानों और साहूकारों के हाथ में हैं। प्राचीन भारत में जनतन्त्र शासन इस प्रकार का न था। परन्तु साथ ही जहां एकतन्त्र शासन था वह भी इस प्रकार का वैयक्तिक शासन न था जैसा कि यूरोप में प्रायः फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पूर्व तक रहा।

सार्वजनिक आय-व्यय या पब्लिक फाईनांस

हम पिछले अध्याय में अर्थशास्त्र के आधार पर इस सम्बन्ध में विस्तार से लिख चुके हैं। यूरोपीय देश अपने अधीन देशों में जिस आर्थिकनीति का प्रयोग करते हैं वह अधीन देशों को कंगाल कर देती है। भारत में जो भी विदेशी यात्री आते रहे वे सब इस बात की साक्षी देते हैं कि यह देश अत्यन्त धनवान था, और सर्वसाधारण बहुत सुखी थे। हम मानते हैं कि कुछ राजा बहुत ही अपव्ययी थे, और वे अपने राजकीय ठाठ बाठ और शान शौकत पर बहुत व्यय करते रहे, परन्तु वह धन अपने देश में ही व्यय होता था। इसलिये देश कंगाल न होता था। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्ष और भोज आदि की दानशीलता से इसी देश के निर्धन मनुष्यों को लाभ होता था। हर्ष ने प्रयाग-क्षेत्र में अपना सारा उपार्जित धन लोगों में बांट दिया। इसलिये यदि यह भी मान लिया जाय कि राजस्व वर्त्तमान काल से अधिक लिया जाता था,

(यद्यपि इसका कोई प्रमाण नहीं) तो भी हमें यह कहने पर विवश होना पड़ता है कि उस समय प्रजा इतनी तंग और दुखी न थी जितनी कि समस्त भारत में इस समय है।

भूमि का कर और भूमि का स्वामित्व

आजकल भूमि के स्वामित्व के विषय में प्रायः विवाद होता है कि सरकार समस्त भूमियों की स्वामिनी है या नहीं; और जो कर लिया जाता है वह राजस्व है या लगान। अंगरेज लेखक प्रायः यह कल्पना कर लेते हैं कि भारत में प्राचीनकाल से राजा समस्त भूमियों का स्वामी समझा जाता था। हम पिछले अध्याय में इस की विवेचना कर चुके हैं। अनेक अंगरेज विद्वान भी इसका खण्डन करते हैं; और यदि उन प्रमाणों को पढ़ें जो प्रो. रिस डेविड्स ने अपनी पुस्तक "बुधिस्ट इण्डिया" में दिये हैं, और जो अन्य विद्वानों ने संग्रह किये हैं तो हमें कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता कि प्राचीन भारत में वे सब भूमियां जो किसी ग्राम में सम्मिलित गिनी जाती थीं, ग्राम का सम्मिलित स्वत्व (मुश्तरका मिलकियत) मानी जाती थीं। न राजा को अधिकार था कि चाहे जिसको दे दे, और न भूमि पर अधिकार रखने वाले व्यक्तियों और कृषकों को अधिकार था कि वे ग्राम की पञ्चायत की स्वीकृति के बिना दूसरे लोगों को दे दें। राजा को केवल इतना अधिकार था कि वह सामूहिक रूप से गांव से उपज का कुछ निश्चित भाग करके रूप में प्राप्त करे। कर एकत्र करने की विधि और करके परिमाण आदि की विवेचना करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वर्तमान भारत की अपेक्षा उस समय जनता को बहुत सुविधायें थीं, और लोग कर से पीड़ित न रहते थे।

करोंसे प्रजा को पीड़ित करने वाले राजा को बहुत बुरा कहा गया है। इस समय अंगरेजी गवर्नमेण्ट नियम पूर्वक स्वामित्व (मालिकाना) का लगभग पचास प्रतिशत वसूल करती है। कुछ क्षेत्र में इस से अधिक और कुछ में इससे कम। ग्राम्य राजस्व (Cess) इसके अतिरिक्त होते हैं। गैरमौरूसी मुजारियों से मालिक लोग कुछ अवस्थाओं में ½ और प्रायः ६/१० बंटाई लेते हैं। कदाचित कहीं ¾ भी लेते हैं। फिर भी हमारी सम्मति यह है कि कोई देश सरकार के अधिक कर लेने से कङ्गाल नहीं होता यदि उसकी सारी आय उसी देश में व्यय हो।

स्वदेश से बाहर जाने और विदेश से स्वदेश में आने वाले मालपर कर

इस के अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आज काल की गवर्नमेण्टें भिन्न भिन्न रूपों में नाना प्रकार के इतने टैक्स लेती हैं कि यदि उन सब को इकट्ठा किया जाय तो वे एक बड़ी भारी संख्या बन जाती है। आयात और निर्यात माल पर जो कर इस समय कुछ यूरोपीय और अमरीकन देशों में लिये जाते हैं वे उन करोंसे अनेक गुना अधिक हैं जो हिन्दू गवर्नमेण्टों के राज्य-काल में लिये जाते थे। उदाहरणार्थ अमरीका में कुछ वस्तुओं के आयात पर ६० प्रतिशतक या १०० प्रतिशत लिया जाता है। यूरोप के आयात और निर्यात के करों के साथ यदि प्राचीन हिन्दू राज्योंके आयात और निर्यात के करोंकी तुलना की जाय तो ज्ञात होता है कि अपेक्षाकृत हिन्दू-राज्य मुक्तव्यापार (फ्रीट्रेड) के सिद्धान्तों पर अधिक आचरण करते थे। आधुनिक समय

में मुक्तव्यापार का सिद्धान्त अधिकांश में कल्पित है। इससे केवल उन्हीं राष्ट्रों को लाभ पहुंचता है जिन्होंने अपने हाथों में संसार की राजनीतिक या आर्थिक शक्ति को इकट्ठा कर लिया है, और जो इस सिद्धान्त को दूसरे राष्ट्रों को लूटने के लिये उपयोग में लाते हैं।

आधुनिक कालकी साम्पत्तिक पद्धति (इकानामिक सिस्टम)

आधुनिक समय की साम्पत्तिक पद्धति हमें इस नवीन सभ्यता की सब से बुरी वस्तु जान पड़ती है। इस की सब से बुरी साक्षी यूरोप और अमरीका के कल-कारखानों में मिलती है। ये कारखाने जहां एक ओर मानवीय पाण्डित्य और मानवीय जानकारीकी महत्तायुक्त साक्षी हैं, वहां दूसरी ओर मानवीय लोलुपता तथा लोभ और उसकी लूटकी रीतियोंके भी घृणोत्पादक प्रमाण हैं। आधुनिक सभ्यताने मनुष्यको केवल मिट्टीमें मिला दिया है। एक ओर तो मनुष्य-मात्र की समता का डङ्का बजाया जाता है, और उनको राजनीतिक मताधिकार (वोट) देकर समता की गद्दीपर बिठला दिया जाता है, परन्तु दूसरी ओर बड़े बड़े लोहेके कारागार बनाकर उनकी वह मिट्टी खराब की जाती है जो प्राचीन जातियां अपने पशुओं की भी न करती थीं। यूरोपकी कोयलेकी खानोंमें, अथवा ऐसी ही अन्य बड़ी बड़ी उद्योगशालाओं में चले जाइये, आपको ऐसा प्रतीत होगा कि वह मजदूरी करने वाले स्त्री-पुरुष उन निर्जीव यन्त्रोंके दास हैं, जिनको मालिकों ने धन इकट्ठा करने के लिये लगाया है। इन उद्योगशालाओं में न स्त्रियों का सतीत्व सुरक्षित है, न उनका सौन्दर्य और शारीरिक स्वास्थ्य बना

रहता है, और न बालकों को बाल्यकाल का आनन्द आता है। ये सब एक यन्त्र के भाग हैं और दिन-रात रोटी और कपड़े के लिये भारवाहक पशुओं के सदृश काम करते हैं। इस समय यूरोप और अमरीका में जनता की बड़ी संख्या इस प्रकार के श्रमजीवियों की है, और आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नागरिक बहुत कम हैं।

श्रमकी महत्ता

हिन्दुओं को प्रायः यह उपालम्भ दिया जाता है कि उन्होंने श्रम करने के माहात्म्य को बहुत घटा दिया। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक इस प्रश्न की परीक्षा की जाय तो जान पड़ेगा कि यद्यपि इस आक्षेप में कुछ सत्यांश अवश्य है, परन्तु उतना नहीं जितना कि हमारे आक्षेप करने वाले सज्जन प्रकट करना चाहते हैं। काम करना, परिश्रम करना और काम तथा श्रम से आजीविका कमाना—चाहे वह काम और वह श्रम किसी भी प्रकार का क्यों न हो—मनुष्य के गौरव को नहीं गिराता। यदि कोई व्यक्ति अपने वस्त्र धोता है, अपने घर को साफ करता है, अपना बिछा उठाता है, तो उससे वह नीच नहीं हो जाता। यदि समाज अपनी सब आवश्यकताओं को इस प्रकार बांट लेता है कि समाज के विशेष विशेष भाग विशेष विशेष काम करते हैं, तो इसमें भी उन लोगों की महत्ता में—जिनको श्रम करने का काम सौंपा जाय—अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु जब बहु-संख्यक मनुष्य-समुदाय को दैनिक या मासिक वेतन पर श्रम करना पड़े, और इस मजदूरी का मिलना या न मिलना किसी एक मालिक के अधिकार में हो, तो ऐसी मजदूरी से मनुष्य की स्वतन्त्रता में बहुत अन्तर आ जाता है। अध्यापक

रिस डेविड्स स्वीकार करते हैं कि २५०० वर्ष हुए भारत में वेतन पर श्रम करना बहुत निन्दित समझा जाता था। इसका यह अर्थ है कि जनता का एक बड़ा भाग अपना काम आप करता था। धनाढ्यों और पूंजीवालों से वेतन लेकर उनका काम नहीं करता था। दूसरों से वेतन लेकर उनका काम करना—चाहे वह कैसा ही अच्छा काम क्यों न हो—कुत्सित गिना जाता था। काम करने का माहात्म्य यह है कि मनुष्य किसी प्रकार के काम से जो उसके या उसके समाज के लाभार्थ हो न कतराये, और किसी प्रकार के काम को घृणा की दृष्टि से न देखे। परन्तु किसी एक पूंजीपति से वेतन लेकर काम करना मानो अपनी काम करने की शक्ति को बेचना है। यह मनुष्य की महत्ता और गौरव को कम कर देता है। इसको श्रम की महत्ता नहीं कहते। सारे समाज को एक परिवार मानकर बांट कर काम करना और किसी काम को बुरा न समझना ही श्रम का आदर्श है।

हिन्दुओं की भूल

हिन्दुओं ने यह भूल की कि उन्होंने धार्मिक पवित्रता और शौच की दृष्टि से प्रायः प्रत्येक व्यवसाय और शिल्प को कुत्सित समझ लिया। चमड़े का काम करने वालों, कसाइयों, चाण्डालों आदि से आरम्भ करके उन्हों ने शनैः शनैः सभी शिल्पों और व्यवसायों को घृणा की दृष्टि से देखना आरम्भ कर दिया। यहां तक कि सम्भ्रान्त काम केवल दो तीन रह गये, अर्थात् ब्राह्मण का कर्म, क्षत्रिय का, और वाणिज्य का काम। यह भूल हिन्दू-धर्म के अधःपतन के कालकी है, क्योंकि हिन्दू इतिहास में इस प्रकार

की पर्याप्त साक्षी मिलती है, कि पच्चीस सौ वर्ष पहले हिन्दुओं में प्रत्येक प्रकार का शिल्प सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, और शिल्पियों को समाज की उच्च श्रेणियों में गिना जाता था। यदि वर्त्तमान स्मृतियों की आज्ञाओं को देखा जाय तो बहुत थोड़े व्यवसाय ऐसे रह जाते हैं जिनको स्मृतिकारों ने पसन्द किया हो, और उनसे सम्बन्ध रखने वालों के घर का खाना आदि उचित ठहराया हो। कहा जाता है कि ये बन्धन ब्राह्मणों के आध्यात्मिक लाभ के लिये थे, उन से शिल्पियों को नीच ठहराना अभीष्ट न था। परन्तु हम इस युक्ति को नहीं मान सकते, क्योंकि वास्तव में परिणाम यही हुआ है कि व्यवसायियों और श्रमजीवियोंको हिन्दू-समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। दुर्भाग्य से अंगरेजी शिक्षा ने भी पठित अपठित के भेद भाव को उत्पन्न करके इस घृणा को कम करने के स्थान में इस की वृद्धि ही की है। इस सम्बन्ध में वर्त्तमान यूरोपीय सभ्यता का भाव पौराणिक सभ्यता से अनेक गुना अच्छा है। समाज में सम्मान और पदका निरूपण मनुष्य के व्यक्तिगत चरित्र से होना चाहिये, न कि उस के पेशे से। प्राचीन हिन्दू-इतिहास में भी हमको इस बात की साक्षी मिलती है कि जब कभी नीची जातियों में कोई मनचला योग्य मनुष्य उत्पन्न हुआ तो वह अपनी व्यक्तिगत योग्यता से समाज में उच्च से उच्च पद तक पहुंच गया। हिन्दू-काल के बहुत से राजघराने नीच समझी जाने वाली जातियों के मनुष्यों ने चलाये, और उनको समाज ने निस्संकोच होकर क्षत्रियों में परिगणित कर लिया। बहुत

से मनुष्य छोटी जातियों में उत्पन्न होकर ब्राह्मण ही नहीं वरन ऋषि बन गये।

अछूत जातियों का अस्तित्व

अछूत जातियों का अस्तित्व हिन्दू-सभ्यता पर एक कलङ्क है। परन्तु इसके मूल में मज़दूरी से घृणा का भाव नहीं, वरन वह स्वच्छता और पवित्रता का भाव है जिसको हिन्दुओंने असाध्य सीमाओं तक पहुंचा दिया। इस का परिणाम यह हुआ कि कुछ एक प्रकार के श्रम और मज़दूरीको साधारण समाज घृणा की दृष्टि से देखने लगा। छूत-छात हिन्दुओं में कब प्रचलित हुई और किस प्रकार इस में उन्नति होती गयी, इस प्रश्न पर अभी इतिहास पर्याप्त प्रकाश नहीं डालता। परन्तु यह प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में छूत-छात हिन्दुओंमें जारी न थी। इसका सूत्रपात पौराणिक कालमें हुआ। कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि इस समय हमारी सभ्यता पर यह एक बहुत बड़ा कलंक है।

न्याय पद्धति

हिन्दुओं की न्यायपद्धति (ज्युडिशल सिस्टम) भी कुछ अंशों में यूरोप के जुडीशल सिस्टम से अच्छा था। कुछ अंशों में वह इस से बुरा भी था। कुछ यूरोपीय अध्यापक भारत में अङ्गरेजी राज्य की प्रशंसा करते हुए यह दावा करते हैं कि भारतीय इतिहास में पहली बार अङ्गरेजी शासन ने कानून और न्याय को व्यक्तित्व और पद से उच्चतर रखा है; अर्थात यह भाव स्थापित किया है कि कानून के सामने सब व्यक्ति समान हैं। कहा जाता है कि अङ्गरेजी शासन-पद्धति को यह गौरव प्राप्त है कि इसके

राज्य में सिंह और बकरी एक घाट पानी पीते हैं, और अदालतों की दृष्टि में अमीर और गरीब, रईस और मजदूर, राजा और प्रजा सब समान हैं। यह भी कहा जाता है कि संसार में सब से पहले रोमन कानून ने इस भाव को फैलाया, और वर्त्तमान यूरोपीय लोगों ने रोमवालों से यह भाव ग्रहण किया। हमारी सम्मति में ये दोनों बातें मिथ्या हैं। हम पहले हिन्दुओं की कानूनी पद्धति का जिक्र करते हुए बतला चुके हैं कि किस प्रकार कानून के सामने राजा और प्रजा को समान रूप से झुकना पड़ना था। अतएव जहांतक सिद्धान्त या कल्पना का सम्बन्ध है, हम यह मानने के लिये तैयार नहीं कि संसार में सब से पहले रोमन-विधिने कानून के सामने समता का भाव फैलाया, या भारत में अङ्गरेजी राज्य ने ही पहली बार अपने न्यायालयों का सिलसिला इस सिद्धान्त पर स्थापित किया।

परन्तु यदि क्रियात्मक दृष्टि से देखा जाय तो न हिन्दुओं ने इस पर सदा पूर्ण रूप से आचरण किया, न रोमवालों ने और न इस समय अङ्गरेज इसके अनुसार कार्य कर रहे हैं। भारतवर्ष में तो खुल्लमखुल्ला दण्डविधान में भारतीयों और यूरोपीय लोगों के अधिकारों और उत्तरदायित्व में भेद रखा गया है। यह भेद जेलों के प्रबन्ध तक में रखा गया है। परन्तु भारतीयों और भारतीयों के बीच भी क्रियात्मक समता का कोई नामोनिशान मौजूद नहीं। अदालतों के न्याय में समता का भाव बना नहीं रहता। जजों के निर्णयों पर नाना प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। उदाहरणार्थ वकीलों के, सिफारिशों के, घूसों के, इत्यादि इत्यादि। निर्धन लोगों और दीन, हीन, असहाय मुकद्दमेवालों को उस प्रकार का न्याय नहीं

मिलता जो धनवानों और साधन-सम्पन्न मनुष्यों को मिलता है। हम प्रतिदिन न्यायालयों के न्याय में धनवान और निर्धन का भेद पाते हैं। यहां तक कि गवर्नमेण्ट अभियोग चलाने में भी धनाढ्य और निर्धन, तथा पद और पदवी का ध्यान रखती है। इसी प्रकार से यह भेद-भाव हिन्दू-शास्त्रों में भी पाया जाता है, परन्तु भिन्न नियमों पर। सब से स्पष्ट भेद ब्राह्मणों और अब्राह्मणों की अवस्था में देख पड़ता है। उदाहरणार्थ कुछ अपराधों के दण्ड नियत करने में स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतरों में भेद रखा है, और ब्राह्मणों के लिये कोमल दण्ड नियत किये हैं। यह भेद कुछ व्यवसायियों की अवस्था में भी रखा गया था। हां धनवान और निर्धन का कोई विचार नहीं, वरन इस बात का भी प्रमाण मौजूद है कि कुछ अपराधों का दण्ड ठहराते समय दरिद्रों की अपेक्षा धनवानों को अधिक कठोर दण्ड देने की आज्ञा है।

दीवानी और फौजदारी अभियोग जैसा हम पहले अध्याय में लिख आये हैं, अभियोगों का फैसला करने में ग्राम्य पंचायतों, नगरों की कमेटियों और व्यवसाइयों के संघों को बहुत अधिकार थे। दीवानी अभियोगों में ज्यादा तर अभियोगों के फसले इन स्थानीय संस्थाओं के द्वारा ही हो जाते थे। केवल विशेष अवस्थाओं में ही केन्द्रिक शासन को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पड़ती थी। न्याय की यह रीति आधुनिक अदालती रीति से अनेक गुना अच्छी थी। आधुनिक अदालती रीति घोररूप से आपत्तिजनक है। यह न्याय और चरित्र की हत्या करती है। वर्त्तमान अभि-

कारियों को न समाज का भय है, और न लोकमत की परवाह है। वे ऐसा न्याय करते हैं जिसको जीवन की वास्तविक अवस्थाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, और जिससे वादी और प्रतिवादी दोनों का नाश हो जाता है। वर्त्तमान साक्षी का कानून (शहादत कानून) कुछ अंशों में हिन्दुओं के साक्षी के कानून से बहुत सदोष है। अङ्गरेज़ी अदालतें भारत में अङ्गरेज़ों को भारतीयों की तुलना में, धनाढ्यों को निर्धनों की तुलना में, उपाधिधारी लोगों को उपाधिहीनों की तुलना में, सरकारी कर्म्मचारियों को गैर सरकारी लोगों की तुलना में अधिक विश्वास्य समझती हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो इन श्रेणियों के लोगों में प्रायः सत्यवादिता का आदर्श ऊंचा नहीं। हमारा अपना अनुभव है कि सरकारी कर्म्मचारियों, सरकारी अधिकारियों, और धनवानों में, निर्धनों, उपाधिहीन और गैर सरकारी लोगों की अपेक्षा सत्यवादियों की संख्या बहुत कम होती है। अतएव इस विषय में हमको भी यह कहने के लिये कोई कारण नहीं मिलता कि अङ्गरेज़ी अदालती रीति प्राचीन हिन्दू अदालती रीति से अच्छी है। हिन्दुओं में विचारपति की नियुक्ति में और साक्षियों के विश्वास पर सम्मति बनाने में चाल-चलन का अधिक ध्यान रखा जाता था। न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये उत्तम आचार का होना आवश्यक था। लालची, दुराचारी, और नीच मनुष्यों को न्यायाधीश नहीं बनाया जा सकता था। जज बनने के लिये केवल परीक्षा पास करना पर्याप्त न था। इस सम्बन्ध में हिन्दू-शास्त्रों की आज्ञाएं बहुत कड़ी थीं, क्योंकि न्यायाधीशों के

आचरण और निस्स्वार्थ न्याय पर प्रजा का सुख और कल्याण निर्भर था।

दण्ड-नीति के सम्बन्ध में अङ्गरेजी कानून का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति को तब तक निरपराध समझना चाहिये जबतक कि वह अपराधी सिद्ध न हो जाय। एक निरपराध के दण्ड पा जाने की अपेक्षा ९९ अपराधियों का छूट जाना अच्छा है। अंगरेज़ी सिद्धान्तों के अनुसार प्रजा की स्वतन्त्रता—कर्म, वचन और लेख की स्वतन्त्रता—बहुत पवित्र है। यूरोप में किसी अंश तक इन सिद्धान्तों पर आचरण भी होता है, परन्तु भारत में इस समय ठीक इसके विपरीत होता है। हम पहले लिख आये हैं कि प्राचीन समय में इस सिद्धान्त को किस प्रकार प्रयोग में लाया जाता था। उस समय के एक हिन्दू राज्य में फौजदारी अदालतों के छः दर्जे थे। इनमें से प्रत्येक दोषी को छोड़ सकता था, परन्तु दण्ड देने का अधिकार किसी एक को न था। दण्ड उस समय मिलता था जब छहों दर्जे मिलकर राजा की प्रिवीकौंसिल को रिपोर्ट करते थे। कदाचित फौजदारी न्याय की यह प्रणाली हिन्दू-काल में सर्वत्र न पायी जाती हो, केवल किसी राज्य विशेष तक परिमित हो, फिर भी इससे यह अनुमान हो सकता है कि हिन्दू-धर्म-शास्त्री (कानूनदां) और हिन्दू राजकर्मचारी प्रजा के स्वत्वों और उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये इन सिद्धान्तों को कितना समझते थे, और उनकी कितनी परवा किया करते थे, वर्त्तमान यूरोपीय पद्धति के सदृश हिन्दुओं में एक प्रकार की जूरी प्रणाली का भी हम वर्णन कर चुके हैं। हिन्दू न्यायपद्धति के अनुसार कानून के ज्ञान, अनुभव, और चरित्र

को एक स्थान पर एकत्र करके अदालत बनायी जाती थी। भारत में *फौजदारी या दीवानी अभियोगों के निर्णयकी जो* वर्तमान रीति है वह इसकी तुलना में अतीव सदोष है।

हम नहीं कह सकते कि क्रियात्मक रूप में हिन्दू-काल का न्याय वर्तमान काल से अच्छा था या बुरा। परन्तु यदि हम चीनी यात्रियों के वृत्तान्तों पर विचार करें, या यूनानी विद्वानों के लेखों को प्रामाणिक समझें तो वे हिन्दू अदालतों के न्याय की बड़ी प्रशंसा करते हैं। इसका समर्थन आरम्भिक काल के मुसलमान इतिहासलेखकों और यात्रियों के वृत्तान्तों से भी होता है।

दण्ड

दण्डोंके विषयमें हम निस्संकोच होकर कह सकते हैं कि यूरोपीय सभ्यता ने मनुष्यता की ओर बहुत उन्नति की है। हिन्दूकाल के दण्ड हमें पाशविक दिखाई पड़ते हैं। लोगों के हाथ पांव, नाक-कान काट लेना, या उनको जीते जी आग में जला देना, या जल में डुबो देना, या पर्वत पर से फेंक देना, या उनके शरीर को गरम गरम पत्थरों या लकड़ियों से घायल करना, ये दण्ड किसी सभ्य जाति के लिये गौरव का कारण नहीं हो सकते। परन्तु दण्डों के सम्बन्ध में उस समय संसार में सब कहीं ऐसी ही अवस्था थी। यूरोप और अमेरिका में ईसा की लगभग अठारहवीं सदी तक ऐसा ही रहा। सन् १७८९ ई. में अमरीका के संयुक्त राज्य में एक लड़की को टोपी और जूता चुराने के अपराध में फांसी दे दी गयी। इंगलैंड में सतरहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यही हाल रहा। इंगलैण्ड के जार्ज ३ य के समय में

प्राणदण्ड के योग्य अपराधों की सूची में साठ के लगभग और अपराध बढ़ा दिये गये। उस समय यातना (Torture) की रीति भी प्रचलित थी (श्री वेल्स का इतिहास द्वितीय खण्ड, पृ. २३८) इतना ही नहीं सन् १८४५ ई. तक ढाई सौ ऐसे अपराध थे जिन के बदले में प्राणदण्ड दिया जाता था। इन अपराधों में कई बहुत मामूली थे; यथा किसी मकान की खिड़की तोड़ना, या दो पेन्स का रंग चुरा लेना *। इसके अतिरिक्त यूरोप में जीता जला देने की भी प्रथा थी। धर्म्म से इनकार करने वालों को नानाप्रकार की यातनाएं दी जाती थीं।

इसके मुकाबले में यदि हम पांचवीं सदी के भारतवर्ष के इतिहास को देखें तो हमें बहुत फर्क दिखाई देता है। गुप्तकाल के सम्बन्ध में हम चीनी यात्री की सम्मति पहले लिख चुके हैं। फाहियान को भारतवर्ष में दिये जाने वाले दण्ड चीन में दिये जाने वाले दण्डों की अपेक्षा बहुत नरम प्रतीत हुए। *प्राणदण्ड उस समय दिया ही न जाता था।* गुप्तकाल से भी पहले रुद्रदामन ने भी प्राणदण्ड बिलकुल बंद कर दिया था। जिसे यूरोप के इतिहास में प्रथम बार अभी केवल बोलशेविक रूस ने ही बन्द किया है।

फिर भी हम यह मानते हैं कि वर्तमान काल में यूरोप ने इस विषय में बहुत उन्नति की है। हमारी सम्मति में अब भी

* देखिये, "कैपिटल पनिशमेंट" पर "एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका।"

प्राण-दण्ड, या लम्बे काल के लिये जेलों का दण्ड देना, या कोड़े लगाना एक पाशविक कर्म है। हम आशा करते हैं कि समय उन्नति करता करता दण्डों के विषय में इससे भी अधिक उन्नति करेगा, और मनुष्यता के नियमों पर चलने में आगे पग बढ़ायगा। इस विषय में यूरोपीय समाज-शास्त्रज्ञ और अमरीकन सुधारक बहुत कुछ यत्न कर रहे हैं। हमें उनके उद्योगों के साथ पूरी पूरी सहानुभूति है। यूरोप और अमरीका ने क़ैदियों के साथ बर्ताव के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ उन्नति की है, यद्यपि अभी बहुत उन्नति की गुञ्जायश है। ब्रिटिश-इण्डिया के जेलों में जो बर्ताव भारतीय क़ैदियों के साथ होता है वह अमरीका और जापान की तुलना में बहुत पाशविक और जंगलीपन का है। इस में सुधार की बहुत ही अधिक आवश्यकता है।

स्त्रियों का स्थान

जब कोई सुशिक्षित भारतीय यूरोप और अमरीका जाता है तो उसको यह मालूम होता है कि स्त्रियों के विचार-बिन्दु से आधुनिक सभ्यता बहुत उन्नति पर है, और एशिया की प्राचीन तथा अर्वाचीन सभ्यता इस विषय में यूरोप से बहुत पीछे है। परन्तु इस प्रश्न के संपूर्ण अङ्गों पर विचार करने के पश्चात इस विषय में अधिक सोच समझ कर सम्मति स्थिर करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

स्त्रियों और पुरुषों का साम्य

पश्चिमी सभ्यता ने स्त्रियों और पुरुषों के साम्य के सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। परन्तु यह बात कुछ दृष्टियों से हानिकारक भी हो रही है। कुछ माननीय यूरोपीय विद्वानों

ने भी—जिनको इस विषय में प्रामाणिक समझा जाता है—स्पष्टरूप से इस मत का प्रकाश कर दिया है। 'हेवेलाक एलिस' सामाजिक विज्ञान के जानने वालों में एक उच्च कोटि के विद्वान हैं। उन्हों ने इस विचार को स्पष्टरूप से निस्सार बतलाया है। सच तो यह है कि न पुरुष स्त्रियों से अधिक श्रेष्ठ हैं, और न स्त्रियां पुरुषों से अधिक श्रेष्ठ हैं। छुटाई बड़ाई का कोई प्रश्न नहीं है। प्रकृति ने स्त्रियों को विशेष प्रयोजनों के लिये बनाया है, और पुरुषों को अन्य प्रयोजनों के लिये। कुछ गुण और इन्द्रियां दोनों में समान हैं, और कुछ भिन्न भिन्न। कुछ बातों में स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक सम्मान और आदर की पात्री हैं, और कुछ दूसरी बातों में पुरुषों की योग्यता अधिक है। उदाहरणार्थ प्रेम, सहानुभूति, सेवा, और त्याग जितना स्त्री जाति में पाया जाता है उतना पुरुषों में नहीं। स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक संयमी हैं, और उनमें कष्ट सहन करने की शक्ति भी अधिक है। पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा अधिक परिश्रमी, अधिक धीर हैं, अधिक कठिन कार्य कर सकते हैं। स्त्रियां अपनी प्रकृति को हानि पहुंचाये बिना उतना कष्ट नहीं उठा सकतीं। यूरोप और अमरीका ने स्त्रियों को जीवन के प्रत्येक अङ्ग में स्वतंत्रता का अधिकार-पत्र दे दिया है, और उस का परिणाम यह हो रहा है कि जहां स्त्रियों के अधिकार अधिक हो गये हैं वहां उन पर उत्तरदायित्व भी बढ़ गये हैं। जहां स्त्रियों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे आजीविका कमाने के भिन्न भिन्न साधनों में स्वतंत्र हों वहां आजीविका कमाने का उत्तरदायित्व भी उन पर इतना बढ़ गया है कि सहस्रों, और लाखों स्त्रियों को अपने विशेष नारि-धर्म्मों को पूरा करने का न

अवकाश है और न रुचि। जहां हमें एशिया में स्त्रियों की आर्थिक दासता को देख कर शोक होता है वहां यूरोप में उनकी ज़िम्मेदारी देख कर भी दुःख होता है। लाखों स्त्रियां यूरोप और अमरीका की दूकानों में लगभग आठ घंटे खड़ी रहती हैं। कुछ स्त्रियों को तो इससे भी अधिक श्रम करना पड़ता है। इस घोर शारीरिक श्रम का परिणाम यह होता है कि स्त्रियां अपने मातृ-धर्म की उपेक्षा करती हैं, और कुछ अवस्थाओं में उसके सर्वथा अयोग्य होकर अपने जीवन का अधिकांश विलासिता और पाप में व्यतीत करती हैं। प्रायः भारतीय लोग यूरोपीय और अमरीकन स्त्रियों को दुराचारिणी बतला कर उनपर हंसी करते हैं। मुझे उनकी दशापर दया आती है। मेरे हृदय में पश्चिमी स्त्रियोंके लिये अत्यन्त सम्मान और पूजा का भाव है। उनके दोष उनकी अपनी प्रकृति के विकार से नहीं हैं, वरन वे यूरोप की सामाजिक पद्धति के परिणाम हैं। यूरोप और अमरीका की वर्त्तमान सामाजिक पद्धति ने स्त्रियों को स्वतंत्रता के सिंहासन पर बैठाकर दिव्य पदवी—देवीपन—से गिरा दिया है। मेरी सम्मति में स्त्रियों को यह स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वे अपनी आजीविका कमा सकें, और वे बलात आर्थिक दासता में न डाली जायं। परन्तु उनको इतना श्रम करने पर विवश करना, उनको उनकी वास्तविक पदवी से गिरा देना है। मेरी सम्मति में स्त्री के कर्त्तव्य ऐसे कठिन हैं कि उनको पूरा करने के बदले में उसका अधिकार है कि पुरुष उसकी सारी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करे, परन्तु इस कारण से वह उसको अपनी दासी या अधीनस्थ न समझे। ये दोनों बातें सम्भव हैं या नहीं, यह सन्देहास्पद है, क्योंकि

साधारणतया संसार में देखा जाता है कि आर्थिक शक्ति अर्थात पैसे की कुञ्जी ही सर्व शक्तियों का उद्भव है।

प्राचीन भारत का विचार-बिन्दु

प्राचीन भारत में हम को स्त्रियों की स्वतंत्रता पर किसी अनुचित बंधन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। हिन्दू-शास्त्रों में, हिन्दू-इतिहास में और पुराणों में, इस बात की पर्याप्त साक्षी विद्यमान है कि विवाह के विषय में हिन्दू-स्त्रियां ऐसी ही स्वतंत्र थीं जैसे कि पुरुष। जो बंधन और रुकावटें उसके पीछे स्मृतियों में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर लगायी गयी हैं वे प्राचीनकाल के शास्त्रों में नहीं पायी जातीं। पीछे के काल के शास्त्रों में चूंकि स्त्रियों का पद गिरा दिया गया है इस लिये शास्त्रकारों को बार बार यह लिखने की आवश्यकता पड़ती है कि स्त्रियों का सम्मान करना और उनको प्रसन्न रखना पुरुषों का कर्त्तव्य है। इन स्मृतियों में हमें दो प्रकार के परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं। कुछ स्थलों पर स्त्रियों को आदर, सम्मान और सेवा के योग्य ठहरा कर उनकी पूजा करना धर्म्म बतलाया गया है, कुछ दूसरे स्थलों पर उनके दुर्गुण बता कर उनको सदा अधीन और दबाये रखने की शिक्षा दी गयी है।

हिन्दू-स्त्रियों की आर्थिक दशा

प्राचीनकाल में या हिन्दुओं के उत्कर्ष-काल में स्त्रियों की आर्थिक दशा क्या थी, इस विषय में सम्मति स्थिर करने के लिये पर्याप्त सामग्री नहीं है। उस समय में परदे की प्रथा न थी। अतएव इस समय परदे की प्रथा के कारण जो आर्थिक बंधन पैदा हो गये हैं वे विद्यमान न थे। परन्तु साथ ही स्त्रियों पर वे

आर्थिक उत्तरदायित्व भी न थे जो यूरोप की स्त्रियों पर दिखाई देते हैं। यूरोपीय स्त्रियों की अवस्था में जो बातें आपत्तिजनक जान पड़ती हैं वे आज कल की यूरोपीय सामाजिक और आर्थिक पद्धति के अवश्यम्भावी परिणाम हैं। आज से एक शताब्दी पहले यूरोपीय स्त्रियों को कानून की दृष्टि से सम्पत्ति रखने या पैदा करने के वे अधिकार न थे जो इस समय हैं, अथवा जो प्राचीन काल से हिन्दू-स्त्रियों को प्राप्त हैं। कोड नैपोलियन के अनुसार किसी विवाहिता स्त्री को सम्पत्ति रखने का अधिकार न था। उसकी अपनी निज की सम्पत्ति पर भी उसके पति को पूरा अधिकार था। नेपोलियन स्त्री-शिक्षा के पक्ष में भी न था। इस एक सौ वर्ष के समय में यूरोपीय स्त्रियों ने अपने आर्थिक अधिकारों में बहुत उन्नति की, जिसका आवश्यक परिणाम यह हुआ कि उनकी आर्थिक ज़िम्मेदारियां बढ़ गयी, और उनके साथ ही उनके राजनीतिक स्वत्व भी बढ़ गये। निर्दोष नियम यह है कि जो श्रेणियां जाति की आर्थिक समृद्धि की ज़िम्मेदार हैं उनका अधिकार है कि वे जाति के राजनीतिक प्रबंध में सम्मिलित हों। राजनीतिक अधिकार आर्थिक ज़िम्मेदारियों के साथ साथ जाते हैं। हम नहीं कह सकते कि किस प्रकार संसार में यह नियम प्रचलित किया जा सकता है कि स्त्रियां आर्थिक रूप से दास भी न हों और उनको अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के लिये उतना घोर श्रम भी न करना पड़े जितना कि यूरोपीय स्त्रियों को करना पड़ता है। सच तो यह है कि आधुनिक काल में न तो हमें एशिया की स्त्रियों की अवस्था सन्तोषजनक दिखाई देती है, और न यूरोपीय स्त्रियों में आत्म-त्याग, प्रेम, इन्द्रिय निग्रह, और सेवा के

विशिष्ट गुण एशिया की स्त्रियों से अधिक हैं। परन्तु बुद्धि और विद्या-सम्बन्धी उन्नति और स्वतंत्रता के विचार-बिन्दु से यूरोपीय स्त्रियों की अवस्था कई गुणा अच्छी है। प्राचीन हिन्दू-समाज में स्त्रियों की जो स्थिति थी वह हम को इन दोनों के बीच की प्रतीत होती है।

साहित्य और कला

ललित कलाओं अर्थात आलेख्य, तक्षण, लकड़ी का काम चित्रकारी, रङ्ग बनाना और कविता के विषय में हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि अर्वाचीन काल की सभ्यता ने प्राचीन काल की सभ्यता पर कोई उन्नति नहीं दिखलायी। इन कलाओं के जो नमूने प्राचीन भारत, प्राचीन मिस्र, प्राचीन यूनान, और कुछ दूसरे भागों में मिलते हैं उनका सामना वर्तमान काल की ललित कलाएं नहीं कर सकतीं। इस विषय में वर्तमान काल का यूरोप मध्यकाल से भी पीछे देख पड़ता है।

यूरोप की सभ्यतापर पदार्थ विज्ञानका प्रभाव

निस्सन्देह पदार्थ-विज्ञान में अर्वाचीन काल ने उन्नति की पराकाष्ठा दिखायी है। पदार्थ-विज्ञान में जो आविष्कार गत तीन चार सौ वर्षों में हुए हैं वे आश्चर्यजनक हैं, और उन्होंने युगकी काया-पलट कर दी है। संसार को बहुत संक्षिप्त सा स्थान बना दिया है, और देश और कालकी बाधा को लोप कर दिया है! संसारकी उपजमें भी बहुत वृद्धि होगयी है। मनुष्य की रुचियां भी बहुत बढ़ गयी हैं। परन्तु यह खेद से कहना पड़ता है कि इन विद्याओं में जितनी आश्चर्यजनक उन्नति संसार ने की है उतना ही आश्चर्य-जनक ह्रास संसारने

अपने राजनीतिक शील में किया है। यूरोप और अमरीका अपने इन आश्चर्यजनक आविष्कारों का उपयोग थोड़े से मनुष्यों के लाभार्थ कर रहे हैं। मनुष्य-समाज को इन आविष्कारों से जो थोड़ा-बहुत लाभ पहुंचता है वह केवल पेट सम्बन्धी है। वह लाभ भी स्वयमेव उन्हें धनाढ्य पूंजीवालों और शक्तिशाली श्रेणियों का दास बनाता है। चाहिये तो यह था कि ज्ञान की वृद्धि से और प्रकृति के विजयों से मनुष्य को स्वतन्त्रता और अवकाश अधिक मिलता, परन्तु परिणाम यह हुआ है कि इन जानकारियों की बढ़ती से मनुष्यों की एक बड़ी संख्या पहले की अपेक्षा अधिक दरिद्र और तङ्ग हो गयी है। ज्ञान की वृद्धि से मनुष्य के शील में जो उन्नति होनी चाहिये थी और उसकी मनुष्यता में जो सज्जनता आनी चाहिये थी वह नहीं आयी, वरन अभिमान, गर्व, दुष्टता, लोभ, द्वेष और अनीति, इन सब बुरे स्वभावों में वृद्धि हो गयी है। मनुष्य अपने इस सारे ज्ञान-भण्डार*को दूसरे मनुष्यों पर अत्याचार, और अन्याय करने के लिये उपयोग में ला रहा है। गत महायुद्ध में इसका पर्याप्त प्रमाण मिल चुका है। प्राचीन काल में जो युद्ध होते थे उनमें उतना नर-संहार नहीं होता था जितना कि आधुनिक युद्धों में होता है। उन लोगों के शस्त्रों की धार मन्द थी। हिन्दुओं का सैनिक शील इतना उच्च था कि वह युद्ध करने वालों को किसी प्रकार का अनुचित लाभ उठाने की आज्ञा न देता था। युद्ध-काल में स्त्रियों को, वृद्धों को, निहत्थों को, जनता के न लड़ने वाले भाग को हानि पहुंचाना बहुत बुरा समझा जाता था। धोखे से शत्रु को मारना, या खाद्य सामग्री बन्द करके शत्रु को भूखा

मार कर परास्त करना, या घिरे हुए विवश शत्रु पर आघात करना वीरता के उपयुक्त न समझा जाता था। विषाक्त शस्त्रों से लड़ना भी पाप समझा जाता था। युद्ध के प्रयोजनों के लिये विज्ञान का पाशविक उपयोग आधुनिक सभ्यता के मुख पर एक बड़ा कलङ्क है।

यूरोप और अमरीका के बहुत से विद्वान और विचारक इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि किस प्रकार युद्धों के इस भीषण रूप को बदला जाय। सेना और सामुद्रिक शक्ति को कम करने के लिये भिन्न भिन्न प्रस्ताव किये जा रहे हैं। गत महायुद्ध के दिनों में कहा जाता था कि यह लड़ाई युद्ध के सूत्र को संसार से काट डालेगी। परन्तु परिणाम ठीक इस के विपरीत हुआ। लड़ाइयां अभी तक पूर्ववत जारी हैं। घृणा, शत्रुता और मनोमालिन्य सारे संसार में फैला हुआ है। राष्ट्र राष्ट्रों के शत्रु हैं। समाज के भिन्न भिन्न समूह एक दूसरे के रक्त के प्यासे हैं। प्रत्येक मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क में प्रतियोगिता का भाव विद्यमान है। मुख से संसार सहयोग सहयोग पुकारता है, परन्तु अपने कर्म से सारा सभ्य-संसार एक दूसरे के साथ असहयोग का बर्ताव कर रहा है। यूरोप और अमरीका के बहुत से पुण्यात्मा, विद्वान विचारक अपनी सभ्यता के इस अङ्ग पर लज्जित हैं, और दिन रात इसी चिन्ता में हैं कि इस सभ्यता का अन्त क्या होगा। परन्तु अभीतक उनको कोई उपाय नहीं मिला और न तब तक मिलेगा जब तक कि इस सभ्यता की नैतिक और आध्यात्मिक नींवें न बदली जायंगी।

यूरोपकी सभ्यता अपना युग बदलनेवाली है

संसार में बहुत सी सभ्यताएं हो चुकी हैं, और हमारा विचार है कि यूरोपीय सभ्यता भी अब अपना युग समाप्त करने वाली है। उसके स्थान में एक नवीन सभ्यता उत्पन्न होने वाली है, जो पूर्वीय आध्यात्मिकता और पश्चिमीय विज्ञान का मिश्रण होगी। यद्यपि हमें अनेक बार सन्देह हो जाता है कि यूरोपीय सभ्यता पर पूर्वीय आध्यात्मिकता का कलस चढ़ाना या पूर्वीय आध्यात्मिकता के भवन को पश्चिमीय विज्ञान के आधार पर निर्माण करना सम्भव भी है या नहीं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार

भारत के प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब सन् १९१७ ई. या १९१८ ई. में जापान पहुंचे तो जापान के अधिवासियों ने उनका बहुत सम्मान किया। उन्होंने जापान के लोगों को पश्चिमीय सभ्यता की नकल करने वाले कहकर बहुत भर्त्सना की। एक जापानी समाचार-पत्र ने क्रुद्ध होकर यह उत्तर दिया कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शब्द एक कब्रका शब्द है, जो श्मशान भूमि से आता है। इसका यह अर्थ था कि रवीन्द्रनाथ का अपना देश कब्रस्थान है और उनके शब्द का वही मूल्य है जो उस व्यक्ति के शब्द का होना चाहिये जिसने अपने देश को कब्रस्थान बनने से न बचाया हो। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर अमरीका पहुंचे तो युद्ध अभी अपने जोरों पर था। उन्होंने अमरीका वालों को बहुत कुछ चेतावनी दी, परन्तु युद्ध के पश्चात जब वे फिर यूरोप के भ्रमण को गये तो यूरोपीय साहित्य और कलापर मुग्ध होकर

आये। हम कवि के हृदय की इन दोनों अवस्थाओं को समझ सकते हैं, और उनके इस भाव का सम्मान करते हैं कि हमें यूरोपीय विद्याओं और कलाओं को घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। हम हृदय से इस भावके बहुत विरोधी हैं कि यूरोपीय सभ्यता और यूरोपीय विद्याओं के विरुद्ध घृणा फैलायी जाय, और हिन्दुओं को यह शिक्षा दी जाय कि उनके बाप-दादा जो कुछ उनको बतला गये वह जीवन के प्रत्येक अंग में अन्तिम शब्द था। परन्तु फिर भी यह गुत्थी हमें सुलझने योग्य नहीं मालूम होती कि यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति को स्वदेश में प्रचलित करके हम किस प्रकार उसके बुरे परिणामों से बच सकते हैं। अभी तक हम को यूरोपीय सभ्यता के विषाक्त प्रभावों का कोई प्रतीकार नहीं मिला। यूरोपकी वर्तमान व्यापारिक और औद्योगिक प्रणाली अतीव जघन्य है। यूरोपकी युद्धकला पाशविकता से भरी हुई है। यूरोपका साम्राज्यवाद संसार के लिये अतीव भयानक है, और यह सब यूरोपीय सभ्यताका परिणाम है। यह कैसे हो सकता है कि हम यूरोपीय सभ्यता को ग्रहण करके उसके विषैले प्रभावोंसे बच सकें, और केवल उसके सुखद अंगों से ही लाभ उठायें। यह पहेली अभीतक हमारे लिये हल नहीं हुई, और हमारी समझ में नहीं आता कि यह किस प्रकार हल होगी। जो भी हो, इसको सन्तोषजनक रीति से हल करने का यत्न करना हमारा सर्वोत्तम कर्त्तव्य है।

स्वास्थ्य-रक्षा स्वास्थ्य-रक्षा के विषय में भी हमको प्राचीन-काल अर्वाचीनकाल से बहुत पीछे नहीं प्रतीत होता। इसका अर्थ यह नहीं कि आजकल की अस्त्रचिकित्सा

और वैद्यक के भिन्न भिन्न विभागों में जो उन्नति यूरोप ने की है उसको हम आदर के योग्य नहीं समझते। अस्त्रचिकित्सा और कीटाणु-विद्या (बेक्टीरियालोजी) में यूरोप ने विस्मयजनक उन्नति की है। स्वास्थ्य-रक्षा के विषय में भी यूरोप और अमरीका में जो उपाय रोगों को रोकने के लिये किये जाते हैं वे प्रशंसा के योग्य हैं। परन्तु हिन्दू आर्य लोग स्वास्थ्य-रक्षा के सम्बन्ध में जो लेख छोड़ गये हैं वे भी आदरणीय हैं। उदाहरणार्थ, घरों, गली कूचों की सफाई के सम्बन्ध में जल और वायु को शुद्ध रखने के लिये जो आदेश हिन्दू-शास्त्रों में मिलते हैं वे प्रकट करते हैं कि हिन्दू इस विषय में कितने सावधान थे। पानी के झरनों, कुओं, नदियों और सड़कों आदि को गंदा करने वाले के लिये दण्ड नियत थे। गृह-निर्माण में प्रकाश और वायु का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। छूत के रोगों के दिनों में विशेष उपायों का उपयोग किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कीटाणु-विद्या के सम्बन्ध में भी हिन्दुओं को पर्याप्त ज्ञान था। साधारणतया हिन्दू शरीर की स्वच्छता और सार्वजनिक सफाई की ओर यथेष्ट ध्यान देते थे। सभी शास्त्रों में इस विषय में उपदेश पाये जाते हैं। नगरों और उपनगरों के म्युनिसिपिल प्रबन्ध में सफाई का अस्तित्व पाया जाता है। औषध बिना मूल्य बांटना, रोगियों की देख-रेख करना, और उनको औषधि, भोजन और वस्त्र मुफ्त देना, इन बातों को हिन्दू विशेषरूप से अच्छा समझते और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। महाराजा चन्द्रगुप्त के राजत्वकाल से बहुत समय पहले यह भाव हिन्दुओं में पाया जाता है। मौर्य्यवंश के राजत्वकाल में तो राज्य का यह कर्त्तव्य ठहराया गया था कि

सार्वजनिक चिकित्सालय और औषधालय न केवल मनुष्यों के लिये बनाये जायं वरन पशुओं के लिये भी। महाराज अशोक ने न केवल भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों में इस प्रकार के चिकित्सालय बनवाये, वरन अपनी सीमाओं के बाहर विदेशों में भी इस पुण्यकार्य को अपने व्यय से प्रचलित किया। मनुष्य-समाज के इतिहास में सम्भवतः हिन्दुओं ने ही सब से पहले इस काम को जारी किया, और सब से प्रथम उन्होंने ही एक पूर्ण चिकित्सा-शास्त्र की नींव डाली *।

भारतमें धर्म्म-भेदों के कारणसे कोई राजनीतिक अयोग्यता न थी

हिन्दुओं के धार्मिक विचारों ने कभी यह संकीर्ण रूप धारण नहीं किया कि हिन्दू-विदेशियों को कभी अपने देश में न आने दें। भारतवर्ष सदा से प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, और प्रत्येक धर्म्म के लिये खुला रहा है। हिन्दुओं ने कभी अपने देश का द्वार किसी के लिये बन्द नहीं किया। उन्होंने कभी विदेशी यात्रियों पर कोई बन्धन नहीं लगाये। इसके विपरीत जो लोग इस देश में

* हिन्दुओं की वैज्ञानिक उन्नति तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों की खोजों के सम्बन्ध में हम दूसरे भाग में लिखने का प्रयत्न करेंगे। इस विषय में पाठक श्रीयुत प्रफुल्लचन्द्रराय तथा श्रीयुत ब्रजेन्द्रनाथ सील की पुस्तकों से पर्याप्त सहायता ले सकते हैं। इन पुस्तकों को पढ़ने से पता लगता है कि आधुनिक कैमिस्ट्री, फ़िज़िक्स, चिकित्सा, ज्योतिष, गणित आदि विज्ञानों के बहुत से सिद्धान्त भारतीय वैज्ञानिकों को आज से सात आठ सौ साल पहले तक भलीभांति ज्ञात थे।

आये उनकी उन्होंने खूब सेवा और सम्मान किया, और यदि उन्होंने यहां बसना चाहा तो उन्हें बसने दिया। हिन्दू-न्यायालय दूसरी जातियों के लोगों के अधिकारों की विशेष रक्षा करते थे।

दान-पुण्य के काम

दान-पुण्य आदि दूसरे कामों में भी प्राचीन हिन्दू-सभ्यता आधुनिक यूरोपीय सभ्यता से पीछे न थी। हमको इस बात के असंख्य प्रमाण मिलते हैं कि हिन्दू लोग मन्दिर बनाना, मन्दिरों के लिये स्थायी प्रबंध करना, धर्मशालाएं बनाना, कूप, तथा सरोवर खुदवाना, सार्वजनिक वाटिकाएं बनाना, सदाव्रत चलाना, दरिद्राश्रम बनवाना, अनाथों और विधवाओं के पालन-पोषणका प्रबन्ध करना इत्यादि पुण्यके कार्यों और शिक्षा-सम्बन्धी तथा धार्मिक संस्थाओं के प्रतिष्ठित करने में विशेष रुचि प्रकट करते थे। दुर्भिक्ष के दिनों में न केवल व्यक्तिगत दान से अकाल-पीड़ितों की सहायता का प्रबंध किया जाता था, वरन राज्य भी अपना कर्तव्य समझता था कि राष्ट्र में कोई व्यक्ति जीवन की आवश्यकताओं की कमी से कष्ट न पाये।

इस प्रकार के दान-पुण्य के कार्यों के लिये लोग व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से बहुत से स्थायी दान भी स्थापित करा देते थे, और उन्हें ग्राम्य और नागरिक पंचायतों तथा समितियों के सपुर्द करके, उनके स्थायी प्रबन्ध का उत्तरदायित्व उन पर डाल देते थे। सार्वजनिक दानका प्रत्येक विभाग इस प्रकार से सार्वजनिक निरीक्षण में आ जाता था।

धार्मिक भेदों के कारण अत्याचार

हिन्दू स्वभाव से मेल-प्रिय हैं। समस्त संसार के न्यायप्रिय मनुष्य इस बातको स्वीकार करते हैं। परन्तु कुछ लोग यह समझते हैं कि उनका यह मेल-प्रिय स्वभाव उनकी राजनीतिक विवशता और दासता से उत्पन्न होता है। यह विचार सर्वथा मिथ्या है। हिन्दू सदा से धार्मिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। उन्होंने कभी किसी काल में धार्मिक भेदों को शत्रुता, वैर, या विरोध का साधन नहीं बनाया। वैदिक काल से लेकर आजतक हिन्दुओं ने धार्मिक स्वतन्त्रता की दुन्दुभी बजायी है, और उसी के अनुसार आचरण किया है। हिन्दुओं की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढङ्ग से अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने का अधिकार और स्वत्व है। यही कारण है कि संसार के अनेक प्रकार के धार्मिक और दार्शनिक विचार हिन्दू शास्त्रों में पाये जाते हैं। यहां तक कि कुछ नास्तिक विचारकों तक को ऋषि की पदवी दे दी गयी है। हिन्दू-इतिहास में बीसों ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जहां भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायियों में विवाह-सम्बन्ध हुए। मुसलमानों के आने से पहले धार्मिक विभिन्नता के कारण खानपान और विवाहादि में कोई संकोच नहीं किया जाता था। हिन्दू, बौद्ध और जैन सब आपस में प्रत्येक प्रकार का व्यवहार करते थे। जाति-पांति के कारण विवाह का सम्बन्ध परिमित था, परन्तु धार्मिक विभिन्नता के कारण ऐसा न था। हिन्दू, बौद्ध और जैन एक दूसरे की लड़कियां लेते भी थे और देते भी थे। एक घराने के भिन्न-

भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न धार्मिक विश्वास रख सकते थे। विदेशी जातियों के साथ भी हिन्दू विवाह-सम्बन्ध करते थे। महाराज चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस की लड़की से विवाह किया। हम यह नहीं कह सकते कि भारत में धार्मिक भेदों के कारण कभी भी अत्याचार नहीं हुए। परन्तु जब हम यूरोप का इतिहास पढ़ते हैं तब हमें यह प्रतीत होता है कि यूरोप की धार्मिक मारकाट, रक्तपात और अत्याचारों को दृष्टि में रखते हुए यदि हम कह दें कि हिन्दुओं, बौद्धों और जैनोंने अपने उत्कर्ष के काल में धार्मिक मत-भेदों के कारण कभी एक दूसरे पर अत्याचार नहीं किया तो हमारा यह कथन झूठ न होगा। यूरोप में कोई शताब्दी ऐसी नहीं बीती जब लाखों मनुष्यों को धार्मिक मत-भेदों के कारण तलवार के घाट नहीं उतारा गया।

उपसंहार

हमने संक्षेप से प्राचीन हिन्दू सभ्यता और अर्वाचीन सभ्यता की यह तुलना की है, जिस से लोगों को अपनी प्राचीन सभ्यता की त्रुटियों और सद्गुणों का ज्ञान हो जाय। हिन्दू आर्यों की वर्तमान सभ्यता का रूप बहुत भद्दा हो गया है, क्योंकि उन्होंने बहुत से प्राचीन नियमों और बहुतसी पुरानी प्रथाओं का परित्याग करके मध्यकाल और आधुनिक काल में बहुतसी बुरी बातें भी अपनी सभ्यता में मिला ली हैं। जहां हम यह बात जानते हैं कि भारत को इसकी प्राचीन सभ्यता पर ले जाना असम्भव है, वहां हमारा यह भी दृढ़ विश्वास है कि भारत को यूरोप और अमरीका की प्रतिलिपि बना देना

भी हमारे लिये घातक सिद्ध होगा। हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि हम अपने आपको यूरोप के शासन से प्रत्येक अङ्ग में स्वतन्त्र कर लें। यूरोप इस समय हम पर राजनीतिक अर्थों में ही शासन नहीं कर रहा है, वरन वह आर्थिक बौद्धिक और संस्कृति सम्बन्धी अङ्गों में भी हमारा शासक बना हुआ है। जिस समय इस शासनका दबाव हमारे सिरों पर से टल जायगा तब ही हमें स्वतन्त्रता-पूर्वक यह सोचने का अवसर मिलेगा कि हमें यूरोप से क्या क्या सीखना और उसकी सभ्यता के कौन कौन से अङ्गों को अपने जीवन में धारण कर लेना चाहिये। उस समय हमारा कर्त्तव्य होगा कि हम अपने समाज के विभागों का प्राचीन तथा अर्वाचीन सभ्यता के प्रकाश में अध्ययन करें और आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन में परिवर्त्तन करते चले जांय। दासता की अवस्था में अपने मस्तिष्क और स्वभाव में दासता के संस्कार रखते हुए जो परिवर्त्तन हम अर्वाचीन मनुष्य बनने की अभिलाषा से करेंगे उसमें सदा यह शङ्का बनी रहेगी कि सिद्धान्त के स्थान पर नकल का अधिक हिस्सा रहेगा। उत्तम आधारों पर और शुद्ध नियमों पर हम अपने देश का भविष्य केवल उसी अवस्था में बना सकते हैं जब हमारा भाग्य स्वयं हमारे हाथ में हो। उस पर न किसी बाह्य शक्ति का और न किसी बाह्य सभ्यता का दबाव हो। इस संसार में रहते हुए हम अपनी महान जाति को और इस विशाल महादेश को विचारों या अनुष्ठानों की किसी संकीर्ण कोठरी में बन्द करना नहीं चाहते। हम संसार से अलग होकर यदि ढाई ईंटकी इमारत बनाना भी चाहें तो भी

नहीं बना सकते । हम अपनी जाति के प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बच्चे के मनमें यह भाव बैठा दें कि संसार से भाग जाना वीरता और पुरुषत्व का चिह्न नहीं है, वरन संसार में रहकर संसार के समस्त पदार्थों को धर्मानुसार उचित रूप से भोगते हुए पुण्यमय जीवन व्यतीत करना, स्वाधीन रहना, और दूसरे मनुष्यों को स्वतन्त्र रहने में सहायता देना ही सच्ची वीरता और पुरुषत्व है । हम अपनी जाति को प्रजापीड़क बनाना नहीं चाहते। हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि हमारी जाति दूसरों को नष्ट करके, या दूसरों को अपने अधीन करके, या दूसरों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करके धनाढ्य या समृद्धिशाली बने। हम केवल यह चाहते हैं कि न हम दास हों, और न और कोई दास हो । जिस प्रकार हमें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में और धर्म तथा सदाचार के नियमों पर अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन को ढालने में पूर्ण स्वतन्त्रता हो उसी प्रकार संसार के अन्य देशों और अन्य जातियों को भी स्वतन्त्रता प्राप्त हो । हम संसार में भ्रातृत्व और मित्रता फैलाना चाहते हैं । हम केवल बराबरी का अधिकार चाहते हैं । न हम दूसरों के अधीन रहना चाहते हैं, न दूसरे देशों और दूसरी जातियों को अधीन बनाना चाहते हैं। हमारी अभिलाषा यही है कि धर्म या सदाचार तथा सभ्यता और विज्ञान आदि में हम संसार की दूसरी जातियों से अधिक उन्नति कर सकें, और संसार हमारा सम्मान करे। इस लिये नहीं कि हम अपनी उच्चता के अभिमान और गर्व में दूसरों को नीचा दिखाकर

अपनी बड़ाई से लाभ उठायें, किन्तु इस लिये कि हम संसार की सब जातियों के मित्र और शुभ चिन्तक हों, और संसार की सब जातियों की स्वाधीनता के अधिकार का सम्मान करें।

यह इतिहास इसी उद्देश्य से तैय्यार किया गया है कि हिन्दुओं को यह मालूम हो जाय कि हमारी प्राचीन सभ्यता न तो ऐसी पूर्ण थी कि उस में अब उन्नति के लिये कोई स्थान ही नहीं, और न वह ऐसी अपूर्ण और निकम्मी थी जो हमारे लिये लज्जास्पद हो, जिससे हमें उसके कारण संसार के सामने लज्जित और अपमानित होना पड़े। हमारी पराधीनता, निस्सहायता और दरिद्रता की वर्तमान अवस्था हमारी दुर्बलताओं का परिणाम है, परन्तु वह हमारी सभ्यता का कोई अवश्यम्भावी परिणाम नहीं।

* समाप्त *